परिसंवाद [५]

बौद्ध धर्म-दर्शन एवं धर्मनिरपेक्षता

कुलपति डॉ. मण्डन मिश्र की प्रस्तावना से अलङ्कृत

सम्पादक

डॉ. रमेश कुमार द्विवेदी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

PARISAṀVĀDA [5]

BAUDDHA DHARMA DARŚANA
EVAṀ
DHARMANIRAPEKṢATĀ

EDITED BY

DR. RAMESH KUMAR DWIVEDI

Reader, Bauddha Darshan Department

DR. HARIŚCANDRA MAṆI TRIPĀṬHĪ

Director, Publication

SAMPURNANANAND SANSKRIT UNIVERSITY, VARANASI
1999

Research Publication Supervisor –
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221 002.

❑

Published by –
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221 002.

❑

Available at –
Sales Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221 002.

❑

First Edition - 500 Copies

Price - Rs 160=00

❑

Printed at –
R.K. Multigraphics
Varanasi - 221 010

परिसंवाद [५]

बौद्ध धर्म-दर्शन एवं धर्मनिरपेक्षता

परामर्शदातृ-मण्डल

प्रो० थुबतन छोगडुब	प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा
डॉ० फूलचन्द जैन	डॉ० राजीव रंजन सिंह

सम्पादक

डॉ० रमेश कुमार द्विवेदी

उपाचार्य, बौद्धदर्शन विभाग

डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी

निदेशक, प्रकाशन

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९९९

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक –
निदेशक, अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी ।

❑

प्रकाशक –
डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी - २२१००२

❑

प्राप्ति-स्थान –
विक्रय-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी - २२१००२

❑

प्रथम संस्करण - ५०० प्रतियाँ
मूल्य - १६०=०० रूपये

❑

मुद्रक –
आर० के० मल्टीग्राफिक्स
वाराणसी-२२१०१०

प्रस्तावना
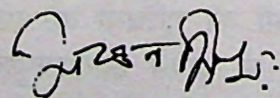
परिसंवाद के पञ्चम पुष्प की प्रस्तावना लिखते हुए हमें महान् हर्षानुभूति के साथ-साथ गौरवानुभूति भी हो रही है। हमें स्व. पुण्यश्लोक स्वनामधन्य **पण्डित श्री जगन्नाथ उपाध्याय** के साथ कार्य करने का लगभग ४० वर्षों तक सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। पण्डित श्री उपाध्याय जी आकाशधर्मा व्यक्तित्व वाले मनीषी थे। जिस प्रकार आकाश अपने क्रोड में सारी भूत-सृष्टि को उसकी शक्ति के अनुसार वर्द्धित होने, पल्लवित होने, पुष्पित होने एवं फलित होने का अवसर प्रदान करता है, उसी प्रकार के आकाशधर्मा पण्डित श्री उपाध्याय जी की छत्रछाया में श्रमणविद्याओं के छात्रों, अनुसन्धाताओं, अध्यापकों, विश्लेषणकर्त्ताओं एवं प्रवचनकर्ताओं को सौभाग्यपूर्ण अवसर प्राप्त होता रहा है।

परिसंवाद-ग्रन्थमाला के इस पञ्चम पुष्प में संस्कृत-भाषा का एक, हिन्दी-भाषा के २५ तथा अंग्रेजी-भाषा के ५ शोध-निबन्धों का संग्रह हुआ है। आचार्य श्री उपाध्याय जी की प्रेरणा से १९८६ में जो अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई थी, उसका केन्द्रीय विषय **''धर्मनिरपेक्षता एवं बौद्ध धर्म-दर्शन''** रहा। इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में देश-विदेश के विद्वानों ने भाग लिया और अपने शोध-पत्रों, प्रश्नों तथा प्रति-प्रश्नों के द्वारा संगोष्ठी को ओजस्विता प्रदान की। संगोष्ठी में पढ़े गये निबन्धों को पुस्तकाकार में देखकर मुझे अपार हर्षानुभूति हुई है तथा 'परिसंवाद' के इस पञ्चम पुष्प को मैं श्रद्धापूर्वक **प्रो. श्री जगन्नाथ उपाध्याय** की स्मृति में समर्पित करता हूँ। इस पञ्चम पुष्प की सामग्री प्रो. उपाध्याय के व्यक्तित्व से मेल खाती है और यह सन्देश भी छोड़ती जाती है कि साम्प्रतिक धर्म-निरपेक्षता के प्रश्नों का सही और प्रामाणिक उत्तर हमारी श्रुति एवं श्रमणपरम्पराओं में निहित है। यह राष्ट्र कोई नवसिखुआ राष्ट्र नहीं है, इसने प्रागैतिहासिक काल से लेकर अद्यावधि महत्तर प्रश्नों का उत्तर अपनी शास्त्रीय चिन्तनधारा में खोजा है। भारतवर्ष के सुदीर्घ ऐतिहासिक आयाम में हमारी श्रुति तथा श्रमण-परम्पराओं ने न केवल वैविध्यपूर्ण हमारी नाना समाज-व्यवस्थाओं की गुत्थियों को राष्ट्रीय परिधि में सुलझाया है, बल्कि एशिया एवं यूरोप में भी अपने औदात्यपूर्ण सौहार्द की छाप छोड़ी है। हमें वे दिन याद आते हैं, जब कि प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय इन्हीं श्रुति एवं श्रमण-परम्पराओं में सामञ्जस्य के लिए संघर्ष करते रहे। अतः उस महनीय विभूति की स्मृति में इस पञ्चम पुष्प को समर्पित करना मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय इस राष्ट्र का वह ज्ञानदीप है, जिसके आलोक में हम आज भी संकीर्णताओं से ऊपर उठने का मार्ग खोजते हैं। यहाँ एक ओर श्रुति-परम्पराएँ **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का उद्घोष करती हैं, तो दूसरी ओर श्रमण-परम्पराएँ **'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'** का उद्घोष करने में पीछे नहीं रहतीं। इन दोनों परम्पराओं के समुच्चय में समाज की सामासिक संस्कृति की भास्वरता का दिग्दर्शन होता है। विश्व-मानवता वर्तमान वैज्ञानिक, औद्योगिक तथा तकनीकी उपलब्धियों की जिस चरम उपलब्धि पर फूले नहीं समा रही है, उसकी विसंगतियों से जन्म ले रही नित नूतन सामाजिक, राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय विषमताओं का निराकरण हमारी श्रुति एवं श्रमण-परम्पराओं में निहित है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं तकनीकी चरमोत्कर्ष की मृग-मरीचिका से आज का मानव अशान्त होकर क्षुब्ध है, उसके श्रेय, प्रेय तथा शान्ति का मार्ग हमारी ये परम्पराएँ ही सुझा सकती हैं।

मैं ऐसे बहुमूल्य कालजयी ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा देने वाले **प्रो. वि. वेङ्कटाचलम् जी** के प्रति अपना प्रणाम निवेदित करना नहीं भूल सकता। इस संगोष्ठी को सम्पन्न कराने में सहयोग प्रदान करने वाले तत्कालीन कुलपति **प्रो. देवस्वरूप मिश्र** की स्मृति में अपना श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए इस संगोष्ठी के निदेशक तत्कालीन बौद्धदर्शन-विभागाध्यक्ष **प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी** के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए संगोष्ठी के सह-निदेशक तथा बौद्धदर्शन के उपाचार्य **डॉ. रमेश कुमार द्विवेदी** को स्नेहपूर्ण आशीर्वाद प्रदान करता हूँ, साथ ही इस ग्रन्थ को सौष्ठवपूर्ण ढंग से शीघ्र प्रकाशित करने में सहयोगी प्रकाशन-निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, प्रकाशन विभाग के वरिष्ठ ईक्ष्यशोधक **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** एवं प्रकाशन विभाग के अन्य सहयोगियों को शुभाशीर्वाद प्रदान करते हुए इस ग्रन्थ को उत्तमोत्तम ढंग से शीघ्र मुद्रित करने वाले आर.के. मल्टीग्राफिक्स के संचालक **श्री नवीन कुमार सिन्हा** को भी साधुवाद प्रदान करता हूँ।

मैं पूर्णरूप से आशान्वित हूँ कि **'संस्कृत वर्ष'** में प्रकाशित हो रहे इस ग्रन्थ से विद्वत्समुदाय को एक नयी चिन्तनधारा का पुष्प-गुच्छ प्राप्त होगा।

वाराणसी
चैत्र-पूर्णिमा, वि.सं. २०५६
(संस्कृतवर्षम्)

मण्डन मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

सम्पादकीय

परिसंवाद-५ ''बौद्ध धर्म-दर्शन एवं धर्मनिरपेक्षता'' मार्च १९८९ में बौद्धदर्शन विभाग द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से आयोजित अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी की निष्पत्ति है। इस संगोष्ठी में स्थानीय तीनों विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा संस्थानों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण से मैसूर; राजस्थान से उदयपुर, जयपुर, लाडनूं; मध्य प्रदेश से जबलपुर, पंचमढ़ी; बिहार से पटना, भागलपुर, राँची; उत्तर प्रदेश से लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर; महाराष्ट्र से बम्बई; हिमाचल से शिमला; पश्चिम बंगाल से शान्ति निकेतन; आन्ध्र प्रदेश से वाल्टेयर तथा दिल्ली आदि के विद्वानों के साथ-साथ विदेश के भी विद्वान् प्रो. अलेक्सवेमन तथा डॉ. जे.फाइस ने भी सम्मिलित होकर इसे गौरवान्वित किया। समागत विद्वानों में बौद्ध और जैन श्रमणधारा के पारम्परिक शास्त्रीय विद्वानों के अतिरिक्त प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञानधारा की अन्य शाखाओं यथा-भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति, पुरातत्त्व, धर्म, दर्शन, पालि-प्राकृत-अपभ्रंश भाषा और साहित्य, भाषाविज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान तथा पाश्चात्त्य धर्म एवं दर्शन के मनीषी विद्वान् भी सम्मिलित थे। संगोष्ठी के संयोजक प्रो. रामशंकर त्रिपाठी ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि ''बौद्ध धर्म-दर्शन से सम्बन्धित अनेक अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठियों में भाग लेने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है, जिसमें विषय से सम्बन्धित आचार्यों पर, ग्रन्थों पर तथा दार्शनिक विषयवस्तु पर सेमिनार आयोजित हुए हैं। परन्तु ज्वलन्त सामाजिक समस्या के महत्त्वपूर्ण विषय ''धर्म-निरपेक्षता'' के साथ ''बौद्ध धर्म-दर्शन'' को जोड़कर राष्ट्रीय संगोष्ठी हो रही है, यह सम्भवतः इस विश्वविद्यालय में पहला प्रयास है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से विगत वर्ष भी ''बौद्ध धर्म-दर्शन एवं मार्क्सवाद'' पर अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी आयोजित हुई थी, जिसका पुस्तकाकार प्रकाशन अविलम्ब होने जा रहा है। विश्वविद्यालय में परिसंवाद गोष्ठी के लिए विख्यात बौद्ध-दर्शन विभाग प्रायः विभिन्न विषयों पर स्थानीय एवं अखिल भारतीय स्तर की परिसंवाद गोष्ठियाँ आयोजित करता रहता है।

भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी में इस प्रकार के राष्ट्रीय आयोजनों की एक विशेष अर्थवत्ता है। काशी में भी परम्परागत शास्त्रीय अध्ययन-अध्यापन के विद्या-केन्द्र सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में ऐसे आयोजनों की निजी सार्थकता है। यह विश्वविद्यालय अपने अधिनियम की धारा ७ के द्वारा संस्कृत, पालि तथा प्राकृत विद्या के शिक्षण की व्यवस्था

करने तथा अनुसंधान कार्यों एवं ज्ञान की अभिवृद्धि एवं प्रसार की व्यवस्था करने के लिए प्रतिश्रुत है। विश्वविद्यालय के इस गरिमामय व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए **प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय** जी की यह कामना थी कि "प्राच्य विद्या के ऐतिहासिक केन्द्र काशी के इस विश्वविद्यालय में आयोजित देश एवं विदेश के विद्वान् मनीषियों की यह संगीति भारतीय संस्कृति के सामासिक स्वरूप का परिचय कराने की दिशा में सारे भारत की मनीषा का मार्गदर्शन करे"। परिसंवाद-ग्रन्थमाला के पञ्चम पुष्प का यह प्रकाशित स्वरूप ऐसे आयोजनों की निष्पत्ति को जन-जन तक पहुँचाने का एक प्रशस्त उपक्रम है। इस माला में १६८६ की संगोष्ठी के चुने हुए कुछ निबन्ध-प्रसून ग्रथित हैं।

विगत दशकों में बौद्ध विद्या और बौद्ध-धर्म-दर्शन के अध्ययन, अनुशीलन की ओर विद्वानों तथा नयी पीढ़ी का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। यह अप्रत्याशित और अकारण नहीं है। इस आकर्षण का रोचक इतिहास है। इसके तर्कसंगत कारण हैं। यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा का अवसर नहीं है, तथापि कतिपय बिन्दुओं की ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है।

बौद्ध श्रमण-धारा का अवदान परिणाम में विशाल और इयत्ता में महनीय है। देश और काल की दृष्टि से यह व्यापक क्षेत्र तथा दीर्घकालावधि में व्याप्त है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में देश और विदेश के प्रबुद्ध विद्वानों के शोधकार्यों से अनेक नये आयाम समुद्घाटित हुए हैं। परिणामस्वरूप यह अनुभव किया जाने लगा है कि बौद्ध श्रमण-धारा के इस अवदान का मूल्यांकन धर्म, दर्शन और साहित्य की परिसीमाओं में बँधकर नहीं किया जा सकता। मानविकी समाज विज्ञान तथा विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं तथा भारत की प्रमुख समस्याओं के सन्दर्भ में इसका अध्ययन अपेक्षित है।

बौद्ध विद्या और बौद्ध धर्म-दर्शन का अध्ययन-अध्यापन भारतीय विद्या की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में किया जाय, इसके लिए विगत शताब्दियों से प्रयत्न किये जा रहे हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार तिब्बत, चीन, कोरिया, लंका, जावा, सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्वी एवं उत्तर-पश्चिमी देशों में प्रचुर मात्रा में हुआ है तथा अन्यत्र पश्चिमी देशों में भी हो रहा है। भारत में बौद्ध-विद्या का एक प्रकार से लोप ही हो गया था। परन्तु इधर लोगों में नव जागृति आयी है तथा इस प्रयास में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का यह एकमात्र विभाग है जो संस्कृत बौद्ध-दर्शन का अध्ययन-अध्यापन विगत अनेक वर्षों से कर रहा है। यहाँ बौद्धदर्शन का एक स्वतन्त्र विभाग कार्यरत है। इस विभाग से ही केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ सम्बद्ध रहा है। आज भी केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, चोगलमसर, लेह-लद्दाख, कर्मा श्रीनालन्दा उच्च बौद्ध अध्ययन संस्थान, रूमटेक-सिक्किम,

ञिगमा उच्च बौद्ध अध्ययन संस्थान, सेडा-देवराली-गंगटोक, सिक्किम व बौद्धदर्शन महाविद्यालय, शिमला आदि ऐसे बौद्ध अध्ययन केन्द्र हैं जो बौद्धधर्म दर्शन का अध्ययन-अध्यापन संस्कृत विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमानुसार ही कराते हैं। फिर भी जितना बौद्ध विद्या का अध्ययन होना चाहिए था, उतना अभी तक नहीं हो सका है। अभी इसे मात्र श्रीगणेश ही कहना चाहिए।

भारत में "आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स" में पालि एवं बौद्ध विद्या का एक स्वतन्त्र विभाग (सेक्शन) आरम्भ होने से बौद्ध विद्या एवं पालि के अध्ययन को एक नयी दिशा व गति मिली। आधुनिक विश्वविद्यालयों में होने वाले सेमिनारों के आधार पर भारतीय संस्कृति एवं पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान के संवाहक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के इस बौद्धदर्शन विभाग ने प्राच्य-पाश्चात्त्य उभयविधात्मक परिसंवादों को आयोजित किया। आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि इस राष्ट्रीय संगोष्ठी से अन्य विधाओं के विद्वान् भी लाभान्वित हो सकेंगे।

भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत, पालि एवं प्राकृत के सम्मिलित विभाग (डिपार्टमेण्ट आफ क्लासिकल लैंग्वेज) की स्थापना से संस्कृत के साथ पालि और प्राकृत का अध्ययन और अनुशीलन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं और साहित्य के व्यापक अध्ययन-अध्यापन की प्रशस्त परम्परा उद्भूत हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह स्वाभाविक था कि भारतीय संस्कृति की इस विराट्, दीर्घव्यापी और वैविध्यपूर्ण विरासत के अध्ययन के लिए स्वतन्त्र प्रयत्न किये जाँय। इसी उद्देश्य से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में संस्कृत-पालि तथा बौद्ध अध्ययन के स्वतन्त्र विभाग स्थापित हुए। इनमें दिल्ली विश्वविद्यालय-दिल्ली, कलकत्ता विश्वविद्यालय-कलकत्ता, जम्मू विश्वविद्यालय-जम्मू, मगध विश्वविद्यालय-गया, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ-दिल्ली एवं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान तथा मानव संसाधन विकास मन्त्रालय द्वारा संचालित केन्द्रीय उच्च शिक्षा संस्थानों की गणना मुख्यतः की जा सकती है। भारत में बौद्ध अध्ययन का सर्वाधिक श्रेय मुख्यतः महापण्डित राहुल-सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप तथा प्रो० पी० एल० वैद्य आदि को है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी भारत में ही नहीं, अपितु पूरे विश्व में एक ऐसा विश्वविद्यालय है, जिसने श्रमण परम्परा की बौद्ध और जैन दोनों प्रमुख धाराओं के अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र संकाय की स्थापना की है। जिसमें पालि और बौद्धदर्शन, तथा प्राकृत एवं जैनदर्शन के अध्ययन के लिए दो-दो स्वतन्त्र विभाग बनाये गये हैं। इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि यह विश्वविद्यालय पूर्व स्नातक से लेकर अनुसंधानोपाधि तक के पाठ्यक्रम के संचालन और परीक्षण की व्यवस्था करता है।

पालि एवं बौद्ध विद्या के स्वतन्त्र विभागों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के प्राचीन भारतीय इतिहास, कला-संस्कृति एवं पुरातत्त्व, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, हिन्दी आदि विभागों में भी बौद्ध विद्या के विविध पक्षों पर अनुसंधान कार्य हुए हैं और आज भी यह क्रम वर्तमान है।

पालि और बौद्ध विद्या के अध्ययन-अनुशीलन का यह व्यापक प्रसार उनके अन्तःशास्त्रीय अध्ययन की सम्भावनाओं को मुखरित करता है। विगत दशकों में विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयोजित संगोष्ठियों, सम्मेलनों, शिविरों, कार्यशालाओं आदि ने भी इसे आयोजित करने हेतु बल दिया है। सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के बौद्धदर्शन विभाग द्वारा आयोजित उपर्युक्त आयोजनों ने अन्तःशास्त्रीय अध्ययन की सम्भावनाओं को उत्कृष्ट बिन्दु पर स्थापित किया है। प्रस्तुत परिसंवाद इसका एक प्रतिदर्श मात्र है।

पालि एवं बौद्धविद्या के अध्ययन के उपर्युक्त प्रसार के समानान्तर कतिपय ऐसे तथ्य भी सामने आये हैं जो इस अध्ययन के भावी संकट की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि सभी प्राच्य विद्याओं का अध्ययन-अनुशीलन वर्तमान देश, काल और परिस्थिति में एक विचित्र सांस्कृतिक संकट के दौर से गुजर रहा है और यह समग्ररूप से चिन्ता का विषय है, फिर भी यहाँ पालि एवं बौद्ध विद्या से सम्बद्ध पक्षों का निर्देश विशेष रूप से अपेक्षित है।

विश्वविद्यालयों में पालि एवं बौद्धदर्शन के जितने पाठ्यक्रम चल रहे हैं। वे विषय की व्यापकता और समग्रता की दृष्टि से आमूल संशोधन की अपेक्षा रखते हैं।

बौद्ध विद्या और पालि के लिए जिस बौद्ध श्रमणधारा का सर्वाधिक और महनीय योगदान होना चाहिए, वहाँ उस परम्परा के अनुयायियों में भी इसका अध्ययन निरन्तर क्षीण होता जा रहा है।

विश्वविद्यालयों में जो अध्यापन और अनुसंधान कार्य हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश शास्त्रीय परम्परा तथा प्राच्यभाषाओं के ज्ञान के अभाव में गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत सामान्य, तथ्यों की दृष्टि से अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण तथा समीक्षा और तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण हैं। इस कारण सांस्कृतिक अवदान का उज्ज्वल पक्ष उद्घाटित होने के साथ-साथ उसका एक विवर्णरूप भी प्रस्तुत हो रहा है।

अन्य विषयों की तरह पालि एवं बौद्धदर्शन के प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों में भी "प्रोफेशनलिज्म" के बढ़ते प्रभाव से शास्त्र और सांस्कृतिक परम्परा का अन्तःप्रविष्ट अध्ययन-अनुशीलन क्रमशः क्षीण होता जा रहा है। अर्थोन्मुखी समाजव्यवस्था शिक्षाजगत् को जिन बुराइयों से ग्रसित कर रही है, उनसे अब धीरे-धीरे पालि एवं बौद्ध विद्या का क्षेत्र भी प्रभावित हो रहा है।

राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित संगोष्ठियों, सम्मेलनों आदि में एक मंच पर उपस्थित होकर विद्वान् मनीषी सामूहिक रूप से पालि एवं बौद्धदर्शन के अध्ययन-अनुशीलन के उज्ज्वल और कमजोर दोनों पक्षों की खुलकर समीक्षा करते हैं और त्रुटियों के निराकरण के विषय में एकजुट होकर चिन्तन करते हैं। इस प्रकार सामूहिक चिन्तन और प्रयत्नों के फलस्वरूप हम आशान्वित हैं कि पालि एवं बौद्धदर्शन के अध्ययन-अनुशीलन को वह दिशा प्राप्त होगी जो "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय" की भावना में वृद्धिकारक होगी।

इस परिसंवाद को पाठकों के हाथ में सौंपते हुए हम उन सभी मार्गदर्शकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों का स्मरण करते हैं जिनका सम्बल बौद्धदर्शन विभाग को प्राप्त होता रहा है। १९८६ में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी की सफलता का बहुत बड़ा योगदान तत्कालीन कुलपति **प्रो० देवस्वरूप मिश्र** को है। प्रो० मिश्र जी का हार्दिक कृतज्ञता के साथ हम सादर स्मरण करते हैं। श्रमणविद्या संकाय के पूर्व संकायाध्यक्ष प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, जिनकी प्रेरणा से यह अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी आयोजित हुई थी, परिसंवाद के इस प्रकाशन से सर्वाधिक प्रसन्न होते, किन्तु असमय में ही उनके निर्वाण को प्राप्त हो जाने से हम उनकी कृपा के लाभ से वंचित हो गये। परिसंवाद का यह भाग उनके प्रति बौद्धदर्शन विभाग का अर्घ्यदान है। संगोष्ठी में स्थानीय संस्थाओं के साथ देशभर के तथा विदेश के जो प्रतिनिधि सम्मिलित हुए तथा संगोष्ठी को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में विश्वविद्यालय के जिन अध्यापकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों का योगदान रहा, उनका इस अवसर पर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए हम उन्हें प्रणाम करते हैं।

श्रमणविद्या संकाय के किसी भी विभाग के आयोजन को संकाय का सामूहिक उपक्रम मानने की प्रशस्त परम्परा रही है। तदनुरूप इस परिसंवाद के परामर्शदातृ-मण्डल में संकाय के समस्त विभागों के विभागाध्यक्षों का सहभागित्व स्वीकार करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। परिसंवाद के इस भाग के प्रकाशन का निर्णय तत्कालीन कुलपति प्रो० **वि० वेङ्कटाचलम्** के कार्यकाल में लिया गया था, उनको मैं साभार प्रणाम करता हूँ। पूर्व बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष **प्रो० रामशंकर त्रिपाठी** जो इस परिसंवाद गोष्ठी के संयोजक/निदेशक थे, मैं सहसंयोजक/सहनिदेशक के रूप में छाया की भाँति प्रो० त्रिपाठी का अनुगमन मात्र करता था। मैं प्रो० त्रिपाठी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूँ जिनकी बार-बार की प्रेरणा से यह परिसंवाद प्रकाशन मूर्तस्वरूप ले रहा है।

तत्कालीन श्रमणविद्या-संकायाध्यक्ष **प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी** तथा तत्कालीन प्राकृत एवं जैनागम विभागाध्यक्ष **डॉ० गोकुलचन्द जैन** एवं **डॉ० पुरुषोत्तम प्रसाद पाठक** पूर्व श्रमण-विद्यासंकायाध्यक्ष की सत्प्रेरणा के कारण ही हम इसे पाठकों तक पहुँचाने में सफल हुए हैं।

विश्वविद्यालय के प्रकाशन निदेशक डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी के सतत सहयोग एवं शुभकामना से ही इस परिसंवाद का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन सम्भव हो सका। हम उनके हृदय से आभारी हैं और भविष्य में भी उनसे पूर्ण सहयोग पाने के प्रति आशावान् हैं। अन्त में मैं विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति **प्रो० मण्डन मिश्र** के प्रति आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकता, जिनके आशीर्वाद के बिना दीर्घकाल से रुका हुआ यह कार्य सम्भव ही नहीं था।

ज्ञान असीम है और कार्य का क्षेत्र व्यापक हैं। मानवीय क्षमता की सीमाएँ हैं। सभी प्रकार की सावधानी रखते हुए भी त्रुटियाँ सम्भव हैं। परिसंवाद के इस भाग के सम्पादन-प्रकाशन में जो भी भूल व त्रुटि रह गयी हो, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। यथा-

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।

६ दिसम्बर, १९९८ — **रमेश कुमार द्विवेदी**

धर्म न हिन्दू बौद्ध है सिक्ख न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता धर्म शान्ति सुख चैन।।

सम्प्रदाय की बेड़ियाँ दर्शन का जंजाल।
धर्म चक्र से सब कटें मानव होय निहाल।।

बौद्ध धर्म, दर्शन और धर्म-निरपेक्षता

धर्म अपने संस्थागत और कर्मकाण्डीय रूप में ही सर्वसामान्य में परिचित रहता है। उसका रहस्यवादी विश्वास न तो सामाजिक समस्या बनता है और न उसका समाधान। ऐतिहासिक काल में उसी के माध्यम से परम्पराओं का विकास और रक्षा भी हुई। यही कारण है कि आज भी उसके अनुयायीगण अपनी धार्मिक संस्था में ही सुरक्षा का आश्वासन और संतोष प्राप्त करते हैं। भारतवर्ष जैसे प्राचीन देश में, जहाँ की परम्पराएँ प्राचीन हैं, वहीं परम्परागत धर्मों का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। परम्पराओं की बहुलता व विविधता के कारण यहाँ उसका प्रभाव और अधिक गहरा है। इसके विपरीत जीवन का आधुनिक सन्दर्भ अधिकांश में ऐसा है जो धर्मों की सीमा में समाविष्ट नहीं हो पाता। इस स्थिति में उनके समक्ष धर्म प्रतिपक्ष के रूप में खड़े रहते हैं। एक राय है कि धर्मों का युग समाप्त हो चुका है। दूसरी राय है कि मनुष्य के पास आज भी धर्म ही एक तत्त्व है, जिस की प्रेरणाएँ मानवहित के लिए आवश्यक हैं। भारतीय जीवन की वर्तमान स्थिति में न तो सर्वांशतः परम्परा का और न आधुनिकता का विरोध किया जा सकता है और न इन दोनों की चुनौतियों से आँखें ही मूँदी जा सकती हैं। फलतः इस द्वन्द में सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन उत्तरोत्तर असंतुलित और विकृत होता जा रहा है। चिन्तनशीलता का यह तकाजा है कि हम इस स्थिति के मात्र मूकद्रष्टा नहीं रह सकते। इसके लिए यह आवश्यक है कि धर्मों से आधुनिक जीवन का क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इस पर नये सिरे से विचार विमर्श किया जाए। इसी मूल प्रेरणा के आधार पर इस प्रस्तावित अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है।

इस प्रसंग में यह भी कहा जाता है कि भारतीय चिन्तकों द्वारा अब तक जो व्यापक एवं गम्भीर चिन्तन किया गया, उससे यहाँ के सामाजिक जीवन का कोई मेल नहीं बैठता और इसी विरोधाभास में भारतवर्ष के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का उत्कर्ष अवरुद्ध रहा है। इसका एक कारण यह भी बताया गया है कि यहाँ बौद्धिक चिन्तन की कसौटी पर नीति और धर्मों की मूल्यात्मक मीमांसा नहीं की जा सकती। भारतीय पुनर्जागरण काल में इसके समाधान की ओर विचारकों एवं सुधारकों का ध्यान आकृष्ट हुआ था, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद इस विरोधाभास से उत्पन्न होने वाले सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में सन्तुलन लाने के लिए धर्मनिरपेक्षता का आदर्श प्रस्तुत किया गया। आज धर्मनिरपेक्षता के पक्ष और

विपक्ष में बहुत सी धारणाएँ खड़ी हुई हैं। लगता है कि जैसे प्राचीन काल में चिन्तन के आधार पर धर्मों की मीमांसा नहीं की गयी, वैसे ही आधुनिक काल में धर्मनिरपेक्षता को भी चिन्तन का ठोस आधार नहीं दिया जा रहा है। इस स्थिति में भारतीय जीवन पर धर्मनिरपेक्षता का भी अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ रहा है। इस पूरी परिस्थिति का यदि एक स्थूल विभाजन किया जाय तो सारी परम्परागत मान्यता धर्म के नाम से तथा आधुनिक जीवन एवं प्रेरणाएँ धर्मनिरपेक्षता के नाम से संकेतित हो रही हैं। इस स्थिति में धर्म और निरपेक्षता का परिचय पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में किया जाने लगा है। इस प्रकार भारतवर्ष का राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन आज भी विरोधाभासों के बीच असंतुलित और विषम बना हुआ है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि इस विरोधाभास से उत्पन्न वैचारिक और व्यवहारिक असंतुलन को दार्शनिक चिन्तन के प्रयोग कौशल द्वारा मिटाया जा सकता है। इस प्रसंग में स्वभावतः यह विचारणीय होगा कि क्या धर्म आधुनिक समस्याओं के समाधान में असमर्थ हो चुके हैं ? अथवा उनमें वे कौन से जीवित तत्त्व हैं, जिनका राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन के लिए बने रहना आवश्यक है ? धर्मनिरपेक्षता क्या धर्मविरोध है ? या धर्मों का संशोधन ? धर्म निरपेक्षता क्या धर्मों की उपेक्षा है ? या उनका उत्कर्ष ? आज विद्वानों से इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान अपेक्षित है।

उपर्युक्त समस्या के समाधान की दिशा में बौद्धधर्म और दर्शन का एक विरोध योगदान हो सकता है। बौद्धधर्म भी एक धर्म ही है, किन्तु अन्य धर्मों से बहुत कुछ भिन्न है। चिन्तन के क्षेत्र में धर्म से अधिक उसका दर्शन महत्वपूर्ण है। जीवन दृष्टि में गतिशीलता के कारण उसका परम्परावाद उतना प्रतिबद्ध नहीं है। उस जीवन दृष्टि से प्रभावित सम्राट अशोक, कनिष्क आदि का वह काल था, जिसमें एक ओर देश अखण्ड और विशाल बन सका तथा दूसरी ओर भारतवर्ष के बाहर विश्व के गोलार्द्ध में उन विचारों का प्रभाव फैल सका। स्पष्ट है कि यह सब कुछ धर्मों की रुढ़ मान्यताओं के आधार पर सम्भव नहीं था। चिन्तन और व्यवहार के इस विकास में बौद्ध धर्म और दर्शन में धर्मनिरपेक्ष इन सबके बावजूद यह भी स्पष्ट है कि बौद्धधर्म भी अनेक प्रकार से वैसे ही संस्थागत धर्म है, जैसे अन्य। इस स्थिति में एक प्रकार से संस्थागत धर्मों का भी वह प्रतिनिधित्व करता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी उसका दर्शन और उसका इतिहास अन्य से भिन्न है। विश्व को विभिन्न जातियों, उनमें यथासम्भव अविरोध बना रहा। इस स्थिति में अनेकताओं के बीच धर्मों की सामान्य समस्या के समाधान में वह दिशा निर्देशक हो सकता है। इसे ध्यान में रखकर धर्म और धर्मनिरपेक्षता की व्यापक समस्या पर विचार करने के लिए प्रस्तावित सेमिनार का शीर्षक

रखा गया है- "बौद्धधर्म, दर्शन और धर्मनिरपेक्षता"। संक्षेप में यही सेमिनार की पृष्ठभूमि है। विषय की प्रासंगिता और आयाम को दृष्टि में रखकर विद्वानों की सुविधा के लिए इसे निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा रहा है- आप इनमें से सुविधानुसार कोई एक विषय अपने निबन्ध के लिए चुन सकते हैं अथवा विषय के अनुरूप स्वतन्त्र रूप से भी किसी शीर्षक का चुनाव कर सकते हैं-

१- धर्म एवं धर्मनिरपेक्षता : सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण।

२- भारत में धर्मनिरपेक्षता : बहुधर्मी परिवेश में।

३- बौद्धधर्म एवं निरपेक्षता।

४- बौद्ध दर्शन एवं धर्मनिरपेक्षता।

●

कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो नित्थ रणत्थाय नो गहणत्थाय।

(म० नि० मूल० २२.४.६)

(मैंने धर्म को बेड़े के समान कहा है, सिर्फ पार उतरने के लिए, उसे पकड़कर रखने के लिए नहीं।)

कुल्लूपमं धम्मं देसितं आजानन्तेहि धम्मा पि वो पहातब्बा, पगेव अधम्मा।।

(म० नि० मूल० २२.४.६)

(बेड़े के समान जानकर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या ?)

विषय-सूची

●

आधुनिकीकरण, धर्मनिरपेक्षता और भारत

प्रो० कैलास नाथ शर्मा[1]
प्रोफेसर, समाजशास्त्र
आई.आई.टी., कानपुर

मेरी दृष्टि में यह गोष्ठी समकालीन भारत के दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के लिये आयोजित की गई हैं। पहला प्रश्न आधुनिकीकरण और भारतीय धर्म एवं परम्पराओं की विसंगति तथा धर्म पर आधारित बहुलता की समस्याओं से जुड़ा है। मेरी समझ में धर्म-निरपेक्षता पर विचार-विमर्श इस गोष्ठी का केन्द्र-बिन्दु है। दूसरा प्रश्न बौद्ध-धर्म और दर्शन में धर्म निरपेक्षता, क्लेशों को खोजने से सम्बद्ध है। इस दूसरे प्रश्न पर मैं कुछ भी नहीं कह सकता। केवल समझने का प्रयत्न करूँगा। हाँ, पहला प्रश्न समाजशास्त्रीय समस्याओं से सम्बद्ध है। अतः इस पर मैं अपने विचार आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा।

मैंने अपने जीवन में केवल दो गोष्ठियाँ आयोजित की हैं। इनके अनुभव के आधार पर सर्वप्रथम तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन गोष्ठियों से समाज की समस्यायें हल नहीं होतीं। मैंने पहली गोष्ठी कानपुर नगर की समस्याओं के हल खोजने के लिये 1966-67 में आयोजित की थी। इसमें एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ बुलाये गये और दूसरी ओर वे अधिकारी बुलाये गये जिनका उत्तरदायित्व कानपुर का विकास करना था। चालीस दिन तक यह गोष्ठी चली और करीब 5 लाख रूपये व्यय हुये। एक रपट और एक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके बाद विश्व बैंक ने मुझे 1979-80 में कानपुर के विकास की योजना बनाने को कहा। योजना बनी। कानपुर के विकास के लिये 40 करोड़ रूपये की धनराशि मिली। 1981 में मैं ट्रिनीडाड चला गया। तीन वर्ष बाद आया तो देखा कि कानपुर महानगर से महाग्राम बन गया है। सम्भवतः अधिकारीगण और सम्बद्ध मन्त्रीगण इसी को विकास समझते हों। कहा जाता है कि गाँव की ओर चलो। दूसरी मूर्खता पिछले माह में विश्व शान्ति के हल खोजने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी आयोजित करके की है। इसमें हल कुछ न निकला, निकलता भी तो राजनयिक, सेना-अधिकारी और कूटनीतिज्ञों की

---

१. -प्रोफेसर- समाजशास्त्र, आई० आई० टी०, कानपुर
यह लेख प्रो० अवध किशोर शरण की मौलिक विचारधारा से प्रेरित है और मैं समाजशास्त्र में अपनी द्विजता के लिये उनका अनुगृहीत हूँ।

त्रिमूर्ति इनको न जानना चाहती और न इनका अनुसरण करना चाहती। काल की गति हमसे परे है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।

हम अध्यापक भोग-विलास से वञ्चित तो वैसे ही रहते हैं और भारतीय विकास के इस नये रूप ने और भी वञ्चित कर दिया है। मगर वाग्विलास से वञ्चित क्यों रहें।

इस शैली से ही अपनी बात आरम्भ करना चाहता हूँ। कानपुर में मेरे एक धनिक मित्र हैं। वे पिछले 25 वर्षों से यह प्रयोग कर रहे हैं कि वे शराब पी कर भी स्वस्थ रह सकें। शराब के प्रभाव को रोकने के लिये गोमूत्र का सेवन आरम्भ किया और अब अपने मूत्र के सेवन पर आ गये हैं। पर शराब का जो प्रभाव शरीर पर पड़ना था, वह पड़ रहा है। कुछ इसी प्रकार की बात आधुनिकता के विष को धर्म और भारतीय परम्परा के शिवाम्बु से समाप्त करने की है। हम दोनों में किसी को भी छोड़ना नहीं चाहते। ऐसा आग्रह गोष्ठी के संयोजकों का भी लगता है।

आधुनिकीकरण

मूलतः आधुनिकीकरण में तीन बातें निहित हैं :-

(1) पाश्चात्त्य संस्थाओं का अंगीकरण, (2) विज्ञानवाद और (3) मनुष्य की तर्कनापरकता। आधुनिकीकरण की पृष्ठभूमि में यह विचारधारा है कि श्वेत मनुष्य सभ्य है और अश्वेत यदि मनुष्य है भी तो असभ्य है। श्वेत मनुष्य पर यह भार है कि वह अश्वेत को सभ्य बनाये। जब अश्वेत भी यह स्वीकार कर लेता है तो विचारों के संचार का एक सेतु बन जाता है जो उसकी स्वीकृति, उसकी हीन भावना पर आधारित है। इसीलिये वह निरन्तर श्वेत मनुष्य के पास आधुनिक होने का प्रमाणपत्र पाने के लिये दौड़ता रहता है। चूँकि आधुनिकीकरण एक निश्चित उत्पाद नहीं है, जिसे एक बार पा लिया जाय तो काम बन जाय। यह एक प्रक्रिया है। तृतीय विश्व के देश आधुनिकीकरण की दौड़ में जितना तेज दौड़ेंगे, पाश्चात्त्य देशों से उतना ही पीछे रहते जायेंगे। कारण यह है कि आधुनिकीकरण के समीकरण, पाश्चात्त्य देशों से आयेंगे, और इस प्रकार तृतीय विश्व का जो शोषण हो रहा है, उससे प्रथम और द्वितीय विश्व और अधिक 'आधुनिक' हो जायेंगे। हीन-भावना के आधार पर कोई भी व्यक्ति या देश अपना विकास नहीं कर सकता।

राजा राममोहन राय से लेकर राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह तक अनेक विचारकों और अविचारकों ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि पाश्चात्य-विज्ञान और प्रौद्योगिकी भारत के विकास के लिये अनिवार्य है और इनमें तथा भारतीय दर्शन अथवा हिन्दूधर्म में कोई विसंगति नहीं है। बंगाल और बाद में पाण्डिचेरी के अरविन्द, लखनऊ के राधाकमल मुकर्जी और वाराणसी के राधाकृष्णन और डॉ. भगवानदास सभी ने इसी प्रकार की बात कही है।

विज्ञानवाद के मूल में यह धारणा है कि मनुष्य अपनी तर्कनापरकता के आधार पर सब कुछ जान सकता है। यदि जान सकता है, तो सभी कुछ नियन्त्रित कर सकता है। और यदि सभी कुछ नियन्त्रित कर सकता है, तो वह ईश्वर का स्थान ले सकता है। यह तीसरी बात स्पष्ट रूप से वैज्ञानिक या विज्ञानदर्शन वाले नहीं कहते, क्योंकि ईश्वर के मानने पर विज्ञान नहीं चल सकता। सब कुछ जानना आवश्यक है और जाना भी जा सकता है। यह विवादास्पद तो है ही, पर इस जानने का मूल्य सर्वसंहार (Omnicide) के रूप में स्पष्ट होता जा रहा है। यह जानना पंचतन्त्र के उस बन्दर के समान है जो नगाड़े को फाड़कर अपनी उपकल्पना का परीक्षण करना चाहता था।

पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद् मेधसा।
अनुप्रविष्टं विज्ञातं, तावत् चर्म च दारु च।।

जीवन अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के संगीत के रहस्य को वैज्ञानिक तब तक खोजना चाहता है जब तक कि वह 'तावत् चर्म च दारु च' के निष्कर्ष पर न पहुँच जाय। विज्ञान की आस्था है कि इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जो भी बलिदान आज करना पड़े वह थोड़ा है, और जब सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो सभी समस्यायें हल हो जायेंगी। पूर्ण शान्ति स्थापित हो जायेगी। जब केवल चर्म और दारु रह जायेंगे तो नगाड़े का संगीत समाप्त हो जायगा। शान्ति स्वतः स्थापित हो जायेगी।

विज्ञान का दूसरा पक्ष उपयोगितावादी अथवा व्यावहारिक है। और इसका उत्पाद प्रौद्योगिकी का विकास है। पाश्चात्य प्रौद्योगिकी के मूल दार्शनिक आधारों का विशद विवेचन पश्चिम जगत् में हो रहा है, क्योंकि इसके परिणामों की विभीषिका योरप और अमरीका के निवासियों के सामने "नाभिकीय शीत" (Nuclear Winter) के रूप में मूर्तिमान होती जा रही है। पर इस पक्ष का विचार इस गोष्ठी के उद्देश्यों से परे है। पाश्चात्य प्रौद्योगिकी, चाहे अमरीका से आये अथवा रूस से आये, उसका एक ही चरित्र है। इस चरित्र को स्पष्ट करने के पूर्व मैं उसमें निहित एक द्वन्द्व की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता

हूँ। एक ओर तो यह विकास के नाम पर जन साधारण के लिये कल्याणकारी समझी जाती है और दूसरी ओर, यह जनसंहार क्या ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के संहार के लिये विकसित की जा रही है। बिल्कुल श्रीकृष्ण के वक्तव्य के अनुसार ("अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा") इसकी एक बाँह शिव की भूमिका निभा रही है और दूसरी भस्मासुर की। ऐसा लगता है कि हम शिव और भस्मासुर दोनों के द्वन्द्व के ऊपर उठना नहीं चाहते अथवा उठ नहीं पा रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि प्रौद्योगिकी के जिस पक्ष को हम "शिव" पक्ष समझते हैं, वह शिवपक्ष है ही नहीं। पाश्चात्य प्रौद्योगिकी मूलतः शोषक है। इसके शोषण के तीन रूप हैं- प्रकृति का शोषण एवं कलुषीकरण, रूस सहित सम्पूर्ण योरप एवं अमरीका द्वारा विकासशील देशों का शोषण और विकासशील देशों में सम्भ्रान्त वर्ग के द्वारा जन साधारण का शोषण। यह मैं संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिये लिखी गई प्रो० जॉन गालटुंग की एक रपट के आधार पर कह रहा हूँ। मैं केवल अपनी बात कहता तो मुझे दकियानूसी, पिछड़ा हुआ, पोंगा कहकर मूक करने का प्रयत्न सफ़ल हो सकता था। पर पश्चिम में अभी कुछ ईमानदार बुद्धिजीवी बचे हैं, भले ही वे पूर्णरूप से गम्भीर विचारक न हों। भारत के शासक सम्भ्रान्त वर्ग का यह रूप अब पूरी तरह स्पष्ट होता जा रहा है।

जवाहरलाल नेहरु ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर आधारित आधुनिकीकरण को भारत के विकास का लक्ष्य माना था, पर वे इनके आधार पर आत्मनिर्भरता लाने को भी लक्ष्य मानते थे। यह आत्मनिर्भरता का भ्रम इन्दिरा गाँधी तक चला। पर राजीव गाँधी की उच्च्च प्रौद्योगिकी के आयात के आधार पर 21वीं सदी में प्रवेश करने की नीति ने इस भ्रम को भी दूर कर दिया। इस आयात से अमरीका एवं अन्य देशों में स्थापित बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत का प्रत्यक्ष रूप से शोषण करेंगी ही। पर अब भारत हर प्रकार के विशेषज्ञों को आमन्त्रित कर इस शोषण प्रणाली को नग्न रूप में स्वीकार कर रहा है। "गरीबी हटाओ" का आवरण भी झीना हो गया है। पाश्चात्य प्रौद्योगिकी की स्वीकृति की यही नियति है।

आधुनिकीकरण, इसी शोषण व्यवस्था को मूल्यात्मक जामा पहनाता है। हीनता की भावना के आधार पर जब पाश्चात्य जीवन शैली की महत्ता और मूल्य, एक समाज में बैठ जाता है तो बाहर से आने वाले शोषण के दबाव का आह्वान किया जाता है, स्वागत किया जाता है। इसका प्रभाव और प्रसार कुछ नशीली वस्तुओं की तरह है। इन वस्तुओं के चौर्यापाहरण एवं विक्रय की नीति में पहले किशोरों और युवकों को ये वस्तुयें निर्मूल्य दी जाती हैं और जब उनकी आदत पड़ जाती है, तो इनके रोगी इन विषों को पाने के लिये सभी कुछ बलिदान करने को तैयार हो जाते हैं। पता नहीं, भारत के सम्भ्रान्त वर्ग में कितने

लोग इस शोषण प्रणाली के रामस्वरूप की तरह एजेन्ट है और कितने नशीली वस्तुओं के आदी रोगियों की तरह अनजाने एजेन्ट बन गये हैं।

धर्म-निरपेक्षता

धर्म-निरपेक्षता और आधुनिकता (पाश्चात्य जगत् के सन्दर्भ में हमें इसे आधुनिकता ही कहना चाहिए) को जुड़वा बहिनें माना जा सकता है। यह मैं भारतीय धर्म-निरपेक्षता की प्रभुरूपी अवधारणा के आधार पर नहीं कह रहा जिसमें "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" की कहावत चरितार्थ हो रही है और न इसलिये कह रहा हूँ कि दोनों स्त्रीलिंग है। इन दोनों का मूल योरप के ईसाई धर्म के तेरहवीं शताब्दी के श्रद्धा और तर्क के विवाद में, तर्क की विजय में निहित है। तर्क की विजय के तीन प्रमुख प्रभाव हुये। पहला प्रभाव यह हुआ कि धर्म द्वारा मान्य इस सृष्टि की ऊर्ध्वमूलता के स्थान पर गीता के शब्दों में "अपरस्परसम्भूतता" मान ली गई। दूसरे शब्दों में, मनुष्य इस सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बन गया। ईश्वर की सत्ता नकार दी गई अथवा गौण कर दी गई। कम से कम यह मान लिया गया कि मनुष्य ईश्वरीय शक्ति से स्वतन्त्र है। उसके पास उसकी तर्क नाशक्ति है और इसके कारण वह ईश्वर की सत्ता से यदि पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है तो कम से कम उसकी स्वायत्तता अवश्य है। कुछ विचारकों ने उसे पूर्ण स्वतन्त्र मान लिया। मूलतः यहीं से धर्म-निरपेक्षता और आधुनिकता आरम्भ होती है। तृतीय विश्व में पाश्चात्य देशों की आधुनिकता की नकल आधुनिकीकरण है। आधुनिक विज्ञान का जन्म भी इसी विजय से आरम्भ होता है।

राज्य और ईसाई धर्मसंघ के प्रभावी क्षेत्रों को अलग-अलग रखना पाश्चात्य जगत् में तर्कना से प्रेरित मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता में स्वायत्तता के समझौते की तरह है। पाश्चात्य जगत् (पूर्वी योरोप को छोड़कर) यह मानता है कि हो सकता है कि धर्म का महत्व हो। हो सकता है-ईश्वर हो। विशेष रूप से उन लोगों की दृष्टि में जो धर्म-संघों से जुड़े हैं, उन्हें अपना मार्ग चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, पर उन्हें जीवन के अन्य क्षेत्रों को विशेष रूप से राज्य को प्रभावित करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। राज्य को धर्मसंघों से अलग किया गया और विश्वविद्यालयों की स्थापना ने धर्मसंघों का शिक्षण कार्य-भार सँभाल लिया। अस्पतालों की स्थापना ने धर्मसंघों का सेवा कार्य भी संकुचित करने का प्रयत्न किया। हाशिये पर यह भी जोड़ा जा सकता है कि ईसाई धर्मसंघ का पादरी शिक्षक भी था और रोगों का उपचारक भी था। इन दोनों मिली-जुली भूमिकाओं में उसे डाक्टर कहा जाता था। विश्वविद्यालय और अस्पताल जब धर्मसंघ से अलग हुये तो दो किस्म के डाक्टर हो गये। वे जो मनुष्य और जानवरों के रोगों का इलाज करते हैं और मेरे जैसे वे लोग जो

वाग्विलास करते हैं। हाँ, ईसाई की ईसाइयत धर्मसंघ की सदस्यता पर बनी रही। पर वह प्रासंगिक ईसाई रह गया। मुख्यतः रविवार को चर्च जाने के अलावा अथवा धर्मसंघ को धर्म-परिवर्तन अथवा उपनिवेशवाद में सहायक के रूप में प्रयोग करने के अतिरिक्त उसका धर्म से सरोकार नहीं रह गया। वह तर्कनापरक हो गया। संक्षेप में इस प्रकार "राज्य" और "व्यक्ति" दोनों पर धर्मनिरपेक्षता का प्रभाव पड़ा जो एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

भारत में धर्मनिरपेक्षता को लाने का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को है। उनके विचार धर्म और विज्ञान दोनों के विषय मे स्पष्ट थे। सुसंगठित धर्म को वे परिवर्तन और उन्नति का विरोधी मानते थे वे विज्ञान को न केवल भौतिक उन्नति का साधन मानते थे, अपितु साम्प्रदायिक सामञ्जस्य और अन्ततोगत्वा सत्य की खोज का मूल साधन मानते थे। यह पूर्णतः योरप के धरातल पर उपजी धर्मनिरपेक्षता है। इस धर्म निरपेक्षता को सर्वधर्मसमानत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें धर्म के स्थान पर विज्ञान की स्थापना है और धर्म और विज्ञान दो परस्पर विरोधी प्रत्यय हैं।

दूसरी बात यह है, जैसा कि मुझसे पहले अनेकों ने यह स्वीकार किया है, कि राज्य के रूप में किसी सीमा तक भारत धर्मनिरपेक्ष है, पर समाज के रूप में भारत के सभी जन समूह (एक दो प्रतिशत पढ़े लिखों को कुछ समय के लिये छोड़कर) धार्मिक हैं। राज्य और समाज के इन परस्पर विरोधी स्वरूपों की विसंगति केवल धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देने से दूर नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म सामान्यतः असंगठित है, इसलिये हिन्दुओं में धर्म के प्रभाव को कम करने में राज्य सफल हुआ है। पर दूसरी ओंर दो ऐसे संगठित धर्म हैं। जिनकी परम्परा सामी (Semitic) है इस परम्परा से ओतप्रोत ईसाई-धर्म और इस्लाम-धर्म में दो सामान्य विशेषतायें हैं- सार्वभौमिकता और अपवर्जिता। इन दोनों विशेषताओं के विस्तार में बिना गये इतना कहा जा सकता है कि ये एक राज्य, एक ईश्वर, एक धर्म और एक धार्मिक ग्रन्थ को मानने वाले हैं। हिन्दू धर्म, धर्म-निरपेक्षता के सर्वधर्मसमानत्व के भाव को भले ही स्वीकार कर ले, पर ये एकप्रस्तरीय धर्म, यदि सर्वधर्मसमानत्व को स्वीकार कर लें, तो इनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा, विशेष रूप से जबकि इन दोनों धर्मों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सम्बन्ध हैं और ये दोनों ही धर्म-परिवर्तन के प्रति सक्रिय हैं। इसी से सम्बद्ध एक अन्य समस्या की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। चूँकि भारत में हिन्दुओं की बहुतायत है अतः उन्हें अपनी अस्मिता बनाये रखने के लिये धर्म का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है, पर सभी देशों की भाँति भारत में अल्पसंख्यक अपनी अस्मिता बनाये रखने को बाध्य रहते हैं, यदि उंनकी संख्या काफी है। इसलिये भी भारत

के अल्पसंख्यक, विशेष रूप से मुसलमान, धर्मनिरपेक्षता का न तो नेहरु का अर्थ स्वीकार करेंगें और न ही हिन्दुओं का सर्वधर्मसमानत्व दोनों से उनकी अस्मिता को संकट है। ईसाई भले ही नेहरू का अर्थ स्वीकार कर लें, क्योंकि ईसाई धर्म में तो धर्मनिरपेक्षता ने विजय पाई ही है पर भारत में ही नहीं अन्य इस्लामी देशों में भी इस्लामी रूढ़िवाद योरोपीय धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त से मोर्चा ले रहा है। इसलिये यह होना अधिक सम्भव है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विसंगतियाँ और अधिक बढ़ जाँय।

मेरी दृष्टि में भारत में एक और प्रमुख विसंगति है। इस विसंगति का जन्म राज्य और समाज को एक समझने से हुआ है। भारतीय संविधान ने व्यक्ति को इकाई मानकर सार्वभौमिक सदस्यता के आधार पर राज्य की सत्ता स्वीकार की है। धार्मिक समूह इस राज्य के सदस्य नहीं हैं। **अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों को अपनी धार्मिक अस्मिता बनाये रखने में राज्य सहायता करेगा। (यह सुविधा बहुसंख्यक हिन्दुओं को नहीं है, इसीलिये रामकृष्ण मिशन को उच्च न्यायालय में अल्पसंख्यक धर्म समूह होने का सहारा लेना पड़ा।)** इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के रूप में भारत की नार्गरिकता सार्वभौमिक है, पर समाज के रूप में भारत की सार्वभौमिक सदस्यता के स्थान पर समूह-सदस्यता की स्थिति को स्वीकारा गया है। सार्वभौमिक नागरिकता एकीय समाज में समस्या उत्पन्न नहीं करती और जनतन्त्र का पाश्चात्य संस्करण एकीय समाज का है। भारत के बहुल समाज में जनतन्त्र का ऐसा रूप होना चाहिये था जिससे कि समूहों पर आधारित समाज की बहुलता राज्य के सार्वभौमिक सदस्यता के स्वरूप को विकृत न कर पाती। पर हमने यह विसंगति भी अपना ली। "शाहबानों-काण्ड" इसी विसंगति का परिणाम है।

इन विसंगतियों का कारण यह है कि भारत के प्रभावशाली राजनेता न तो भारत को समझते हैं और न ही समझना चाहते हैं। नेहरू ने भारत को समझने का प्रयत्न किया पर समझ न पाये, अपने आग्रहों के कारण। एकमात्र महात्मा गान्धी ने समझने का और उसके अनुसार अपने विचार प्रतिपादित करने का साहस किया था, पर भारत के अर्ध-आधुनिकीकृत शासक सम्भ्रान्त वर्ग ने, शोषण की अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाने की अचेतन वचनबद्धता के कारण, महात्मा गान्धी की विचारधारा को पादपीठ से हटा दिया। पर उसके स्थान पर गान्धी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर दी गई है और उसकी जय जयकार की जाती है।

रामस्येति, रावणस्येति।

●

भारत में धर्मनिरपेक्षता

श्री वैद्यनाथ सरस्वती

वाराणसी।
13 फरवरी, 1986।

हमारे विद्या केन्द्र में सरस्वती-पूजा का आयोजन था। बच्चे रंग-बिरंगे परिधान में उपस्थित थे। उनके हर्षोल्लास की गंगा से हम सभी पवित्र हुये।

आजकल काशी में सरस्वती की शास्त्रमान्य चतुर्भुजी प्रतिमा नहीं बनती। प्रायः किसी भी देवी-देवता का ध्यान-स्वरूप नहीं बनता। शास्त्रानुसार "अशुद्ध" प्रतिमा की पूजा से अमंगल होता है।

वाराणसी।
14 फरवरी, 1986।

सरस्वती की प्रतिमा-विसर्जन के लिये हमारे बच्चे एकत्रित हो रहे थे। कुछ बच्चों ने अपनी बाहों में काली पट्टी बांध रखी थी, कुछ ने केसरिया पट्टी, अनजाने सहज रूप में।

अयोध्या में श्रीरामजन्म-भूमि को लेकर हिन्दूओं और मुसलमानों के बीच वर्षों से चले आ रहे विवाद पर, न्यायालय ने अपना निर्णय दिया है कि हिन्दुओं के लिये श्रीरामजन्म-भूमि का ताला खोल दिया जाय। भारत के मुसलमान इस निर्णय का विरोध कर रहे हैं। "काला-दिवस" मना रहे हैं। काशी के मुसलमानों में प्रतिक्रिया है। उन्होंने अपनी बांहों में काली पट्टी बांध रखी है। उनके घरों में काले झंडे फहरा रहे हैं। हिन्दुओं में विजय का उल्लास है: केसरिया पट्टी, केसरिया झंडा। नगर में तनावपूर्ण स्थिति है।

बच्चों से अपने-अपने घर वापस जाने को कह दिया गया। उनकी सहज बुद्धि में यह ग्राह्य नहीं हो रहा था कि उन्हें वापस जाने का आदेश क्यों दिया जा रहा है। प्रतिमा-विसर्जन में वे क्यों नहीं भाग लेते। कुछ देर चिन्तित मन को वे समझने का निरीह प्रयास करते रहे। उनका अदम्य उत्साह शिथिल होता गया। निराश होकर लौट गये।

वाराणसी।
16 फरवरी, 1986।

संस्कृत विश्वविद्यालय का बौद्ध-दर्शन विभाग आगामी मार्च में "बौद्ध धर्म, दर्शन और धर्मनिरपेक्षता" पर एक अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी का आयोजन करने जा रहा है। इसकी एक प्रारम्भिक परिचर्चा में भाग लिया।

इस परिचर्चा में धर्मनिरपेक्षता की प्रासंगिकता एवं राष्ट्रीय आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया। मेरी असहमति रही।

मैं समझता हूँ धर्मनिरपेक्षता एक पंगु अवधारणा है। यह एक प्रकार का आकाश-कुसुमीय आदर्श है जो सामाजिक आधार-भूमि पर उतरने में सर्वथा अक्षम है। सत्य है कि इसमें आधुनिक मानव मन को भ्रमित करने की बहुत शक्ति है। यह एक इन्द्रजाल है।

"धर्मनिरपेक्षता" पाश्चात्य विचारकों के "सेकुलर" शब्द का भारतीय-संस्करण है। शब्दार्थ, भावार्थ और राष्ट्रीय नीति एवं व्यवहार की दृष्टि से, इन दोनों में यत्किञ्चित् अन्तर हो सकता है, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनमें से एक श्रेष्ठ और कुशल है तथा दूसरा हीन और अकुशल। दोनों समान रूप से मानव जीवन को एकांगी बनाते हैं, समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

भारत ने एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में एक विशेष मनोदशा में धर्मनिरपेक्षता की नीति अपनायी थी। आजकल बड़ी तत्परता एवं गम्भीरता से इसका पालन किया जा रहा है। किन्तु कोई सुखद परिणाम, अनुभूत नहीं हो रहा है। प्रतिकूल प्रभाव व्याप्त है। अपेक्षित उद्देश्य की अपूर्ति से धर्मनिरपेक्ष नीति कीं विफलता स्पष्ट है।

वाराणसी।
18 फरवरी, 1986।

बीती रात से काशी कर्फ्यू-ग्रस्त हमारे बच्चों के मन पर, इसका क्या प्रभाव पड़ रहा होगा, इसकी कल्पनामात्र से प्रकम्पित हो उठता हूँ।

क्या व्यक्ति धर्मनिरपेक्ष हो सकता है ?

मात्र ब्रह्मज्ञानी, साधारण व्यक्ति नहीं। ब्रह्मज्ञानी, कर्मकाण्डीय धर्म से ऊपर उठ जाता है। आध्यात्मिक धर्म में वह धर्म से विहीन नहीं होता, धर्मनिरपेक्ष हो जाता है। "धर्मनिरपेक्षता" और "धर्मविहीनता" दो भिन्न स्थितियाँ हैं, जैसे योगी की तुरीया-अवस्था और मानसिक रोगी की उन्माद-अवस्था।

वाराणसी।
19 फरवरी, 1986।

कर्फ्यू का दूसरा दिन,

क्या समाज धर्मनिरपेक्ष हो सकता है ?

कोई भी समाज पूर्णतः नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ समाज धर्मविहीन कहे जा सकते हैं। साम्यवादी समाज इसी अर्थ में धर्मविहीन है। किन्तु अपने सिद्धान्तों की रूढ़ियों के प्रति वह उतना की प्रचंड आस्थावान है जितना एक ईश्वरवादी। इस विशेष-धर्म को धारण करने के अर्थ में साम्यवादी समाज भी धर्मनिरपेक्ष नहीं है।

धर्मसापेक्षता सामाजिक जीवन की अनिवार्यता है। यहाँ धर्म से मेरा तात्पर्य है-किसी अलौकिक शक्ति में आस्था और तत्सम्बन्धी आचार। आदिम जातियों की सामान्य धारणा है कि व्यक्ति समाज का अपरिहार्य अंग है, और समाज प्रकृति का। इन तीनों में एक अलौकिक बंधन है, जिसे सुरक्षित रखने में उनकी सुरक्षा है। उस बंधन को सतत् प्रभावकारी बनाये रखने के लिये कुछ नियम हैं, कर्मकाण्ड हैं, जिनका पालन सार्वजनिक हित के लिये अनिवार्य है। यदि कोई व्यक्ति उन नियमों का उल्लंघन करता है तो वह सिर्फ अपना ही नहीं प्रत्युत पूरे समाज का अनिष्ट करता है। अतः ऐसे व्यक्ति को समाज से निष्कासित कर दिया जाता है। यथा, संथाल जनजातियों में "निष्कासन" की एक ऐसी परम्परा है जिसमें सिर्फ उस व्यक्ति को ही नहीं, उसके परिवार के सभी सदस्यों को भी, मार-पीट कर गांव से बाहर कर दिया जाता है और उनके घरों में आग लगा दी जाती है। इसे उनकी भाषा में "विटलाहा" कहते हैं। संथाल समाज की सुरक्षा संथाल-धर्मसापेक्षता पर आश्रित है। यही आदिम दृष्टि है।

सभी परम्परागत समाजों की यही सनातन दृष्टि है। प्रत्येक समाज का अपना-अपना कर्मकाण्ड है, किन्तु धर्मसापेक्षता का सिद्धान्त सभी को मान्य है। अपौरुषेय सनातन-धर्म की विशेष स्थिति है। इसमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सातत्यता बनी रहती है। अतः व्यक्तिगत एवं सामाजिक आचार में धर्मनिरपेक्षता के लिये कोई अलग भूमि नहीं बनती। इसकी सातत्यता को तोड़ने से समस्त सामाजिक संरचना एवं जीवन व्यवस्था विशृंखलित हो जायेगी। आचारों की दृढ़ता के साथ-साथ सनातन-धर्म में विचारों की स्वतंत्रता प्रकृत रूप से बनी रहती है। विश्व में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसमें सनातन-धर्म जैसी दर्शन और सम्प्रदायों की विविधता हो। औपनिषदिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि सनातन धर्म एक ऐसा वृक्ष है जिसका "उर्ध्व मूल अधःशाखा" है। अतः इसका अनुयायी "बहुधर्मी

सापेक्षता" का अनुभव कर सकता है, क्योंकि उस धर्म-वृक्ष की सभी शाखाओं पर उसे सापेक्षता का भान बना रहेगा। किसी एक सम्प्रदाय से युक्त न रहने के अर्थ में, सनातनी तत्वज्ञान और व्यवहार में धर्म निरपेक्षता के लिये स्थान बना है। स्थापित धर्मों के संगठन में मात्र उसी की सापेक्षता रहती है। अतः उनमें धर्मनिरपेक्षता की स्थिति न तात्त्विक ज्ञान में और न ही व्यवहार में सम्भव है।

सामाजिक जीवन में धर्मसापेक्षता की अनिवार्यता, अर्थात् धर्म की क्रियात्मकता का मानवशास्त्र और समाजशास्त्र में विशद विश्लेषण हुआ है। ऐसी मान्यता है कि समाजिक जीवन को स्वस्थ्य एवं सबल बनाने में धर्म की निर्णायक भूमिका रहती है। समाज में धर्म का वही स्थान है जो किसी विद्युत् संयंत्र में "सेफ्टी-वाल्व" का। धर्मनिरपेक्षता अनास्था की जननी है। इससे सामाजिक मनोवृत्ति में गुण-दोष-उद्दीपन कार्य शिथिल हो जाता है और समूह विश्वास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अनास्था की वृद्धि से मनस्तापी और विपथगामियों की वृद्धि होती है, मौलिक मूल्य-व्यवस्था असंतुलित हो उठती है और अन्तर-वैयक्तिक सम्बन्धों में संघर्ष बढ़ता है। अतः कोई भी समाज धर्मनिरपेक्ष होने में अपना कुशल नहीं देखता।

वाराणसी।
20 फरवरी, 1986।

कर्फ्यू का तीसरा दिन,

क्या धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र संगति-सिद्धान्त अपनाने में समर्थ हैं?

धर्मनिरपेक्ष-राज्य और धर्मसापेक्ष समाज के बीच उच्च संगति की प्रवृत्ति नहीं रहती। समाज में, राज्य की प्रतिकूल नीति से प्रतिरक्षात्मक मनोवृत्ति का उदय होता है, नकारात्मक विश्वास विकसित होता है, और जब कभी राज्य अपनी धर्मनिरपेक्षता की नीति के अनुपालन में वैध-शक्ति का उपयोग करता है तो समाज आक्रामक व्यवहार करने के लिये प्रवृत्त होता है। इस प्रकार समाज और राज्य में, असामंजस्य, तनाव की स्थिति बनी रहती है।

बहुधर्मी लोकतंत्र में धर्मनिरपेक्षता की नीति से अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसे अपने देश के संदर्भ में समझने का यहाँ प्रयास किया जाय।

1. भारत एक धार्मिक देश के रूप में विश्व प्रसिद्ध है, धर्म के इतिहास में प्राचीनतम और अग्रणी है और आज भी आध्यात्मिक जगत् का सूर्य है। ऐसे देश का धर्मनिरपेक्ष होना अपने आप में एक विसंगति है।

2. जिस देश का लोक-जीवन और समस्त सांस्कृतिक-संस्थापन धर्म से प्रेरित हो, उस देश का लोक-कल्याणकारी राज्य, धर्म-निरपेक्ष बना रहे, यह दूसरी विसंगति है।

3. जिस देश में अधिसंख्य लोग परम्परावादी, सनातनी, बहुधर्मी हों वहाँ मुट्ठीभर लोग धर्मविहीन, आधुनिकतावादी, धर्मनिरपेक्षता की नीति का निर्णय करें, यह तीसरी विसंगति है।

4. बहुधर्मी-लोकतंत्र में बहुसंख्यक धर्मावलम्बी धर्मविपन्न रहें और थोड़े से लोगों को उन्हें धर्मच्युत करने की स्वतंत्रता मिले, यह चौथी विसंगति है।

5. धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक स्थलों का अधिग्रहण करें, धार्मिक क्षेत्र में सैन्य- शक्ति तक का प्रयोग करे और धार्मिक जीवन-व्यवस्था में हस्तक्षेप करें, यह पाँचवीं, विसंगति है।

6. राष्ट्र की नीति धर्मनिरपेक्ष हो और राजनीति धर्मसापेक्ष, यह छठवीं विसंगति है।

7. राष्ट्र के नायक व्यक्तिगत आचार में धर्मान्ध हों, और सामाजिक मंच पर धर्मनिरपेक्षता का भाषण दें, यह सातवीं विसंगति है।

इन विसंगतियों से उत्पन्न विपत्तियों को हम नित्य प्रति झेल रहे हैं। फिर भी इसके निवारण का स्थायी उपाय क्यों नहीं ढूँढ़ते ?

वाराणसी।

21 फरवरी, 1986।

कर्फ्यू का चौथा दिन,

क्या धर्मनिरपेक्षता की नीति आवश्यक है ?

गाँधी ने धर्म के आधार पर विशाल भारत का विभाजन कभी स्वीकार नहीं किया। नियति ने विभाजन कर दिया, किन्तु हमने इस क्रूर तथ्य को अमान्य कर दिया। अपने प्रत्यक्ष व्यवहार में यह दर्शाने का प्रयास करते रहे कि इस घटना से हम अप्रभावित हैं। यह आत्मवंचना थी। सम्भवतः इससे हमारे राजनैतिक जीवन में धर्म के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हुई।

विभाजन के पश्चात्, जो मुसलमान इस देश में भारतीय होने के नाते, सद्भावना से रहना चाहते थे उन्हें भारत के गैर मुसलमानों ने हृदय से लगाया।

इतने विशाल देश का धर्म के आधार पर विभाजन होना, विश्व इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। ऐसी गंभीर घटना की प्रतिक्रिया दो-चार, दस-बीस वर्ष नहीं, कई पीढ़ियों तक होती है। इस देश पर मुसलमानों का जब सर्वप्रथम आक्रमण हुआ था, उसके लगभग पाँच सौ वर्ष बाद बसी काशी में कबीर ने जन्म लिया, और हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तादात्म्य स्थापित किया कबीर के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद, इन दोनों धर्मावलम्बियों की सामूहिक मनोवृत्ति में एक बार पुनः संदिग्धता और असहिष्णुता ने अपना स्थान बना लिया। हमारे राष्ट्र नायकों ने इस संकट के समाधान के लिये धर्म निरपेक्षता की नीति अपनायी। धर्म-प्रधान देश के धर्मों पर संकट हो और उसके नायक धर्मनिरपेक्ष हो जाय, यह कैसा समाधान था ?

धर्मावलम्बियों में असामंजस्यता का तनाव दूर करने के लिये कबीर ने जो समाधान ढूँढा था वह धर्मनिरपेक्षता नहीं थी। गाँधी ने इसके लिये जिस प्रेरणात्मक-प्रक्रिया को व्यवहार में अपनाया था वह भी धर्म-निरपेक्षता नहीं थी। कबीर और गाँधी का मार्ग धर्म-सापेक्ष था। इन दोनों ने अपने-अपने अनुभव-ज्ञान से भारत के जनमानस का मर्म समझा था। धर्म की हानि से मनोवृत्तियों में उत्पन्न दोषों के निवारण के लिये धर्म की रूढ़ियों को परिष्कृत करने का प्रयास किया था। इनके विपरीत हमारे राष्ट्रनायकों ने धर्म-निरपेक्षता की नीति अपना कर, धर्म के प्रति तथा असंख्य धर्मावलम्बियों के प्रति अपना दायित्व समाप्त कर लिया है।

युग-विचार के अनुसार कलियुग में धर्म एक पाँव पर खड़ा है। भारत राष्ट्र ने धर्म की उपेक्षा कर, उस एक पाँव को भी निर्बल बना दिया। आज मूर्ख और अनैतिक धर्म का व्यापार चला रहा है। राजनैतिक और व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिये धर्मावलम्बियों को भ्रमित किया जा रहा है। धार्मिक स्थलों में हिंसा का औचित्य बताया जा रहा है। धर्म गुरुओं के नाम पर, प्रपंची प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। संत और ज्ञानी भिखारी बना फिरता है। जहाँ धर्म-अधर्म का निर्णायक ही विधर्मी हो, वहाँ ऐसी स्थिति स्वाभाविक है।

आवश्यकता है- धर्म की रूढ़ियों को परिष्कृत करने की, धर्म के उदात्त पक्षों को प्रकाशित करने की। आवश्यकता है बुद्ध की शान्ति, ईसा की करुणा, मोहम्मद का प्रेम और सनातन ऋषियों की प्रज्ञा से उद्‌भूत अद्वैत की स्थापना की। आवश्यकता है- जीवन में धर्मसापेक्षता की, राष्ट्र में सभी धर्मों को प्रतिष्ठित करने की, वर्तमान धर्मसापेक्ष समाज और धर्मनिरपेक्ष राज्य के बीच द्वैधवृत्ति को दूर करने की, सामाजिक जीवन में संवेगात्मक स्थिरता लाने की, तथा सर्वधर्मसद्‌भाव की मनोवृत्ति के निर्माण की।

वाराणसी।

22 फरवरी 1986।

कर्फ्यू का पाँचवा दिन,

क्या धर्मनिरपेक्षता से सर्व-धर्म-समभाव की मनोवृत्ति नहीं बनती ?

धर्म-निरपेक्षता से किसी भी 'धर्म' की मनोवृत्ति नहीं बनती। धर्म-निरपेक्षता की नियति धर्म-विहीनता है। सर्व-धर्म-समभाव पारमार्थिक दृष्टि है। व्यावहारिक दृष्टि से सर्वधर्म-सद्भाव ही सम्भव और अनुकरणीय है।

भारत के प्राचीनतम शास्त्रों में यह निर्देश मिलता है कि राजा कुल-धर्म, जातीय धर्म और देश-धर्म में हस्तक्षेप न करें। शास्त्रों में यह भी स्पष्ट किया गया है कि सभी धर्मों की अपनी-अपनी श्रेष्ठता बनी हुयी है। अतः यह कोई नहीं कह सकता कि मेरा धर्म श्रेष्ठ है और दूसरे का हीन। किन्तु धर्म-अधर्म के भेद से आचारों की श्रेष्ठता और हीनता होती है। इस दृष्टि से सर्वधर्मसमभाव का व्यवहार संभव नहीं है, क्योंकि धर्म की सापेक्षता, धार्मिक इकाइयों से है और धार्मिक इकाइयों में आचार की भिन्नता से श्रेष्ठ और हीन का भाव अपरिहार्य रूप से बना रहता है। सर्वधर्म-सद्भावना का व्यवहार सामाजिक जीवन में प्रत्यक्ष है। उत्तर भारत के सनातनी परिवारों में आज भी एक भाई शैव है, दूसरा शाक्त और तीसरा वैष्णव। इस प्रकार की साम्प्रदायिक भिन्नता पति-पत्नी और पिता-पुत्र में भी पायी जाती है, किन्तु इससे उनके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में किसी प्रकार की विसंगति नहीं उत्पन्न होती। दक्षिण-भारत में शैव-वैष्णव का परस्पर व्यवहार इतना प्रगाढ़ नहीं है किन्तु दार्शनिक और पौराणिक दृष्टि से देवी-देवताओं की अभिन्नता उन्हें भी मान्य है। उनमें साम्प्रदायिक आचारों की दृढ़ता अपेक्षाकृत अधिक है, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनमें साम्प्रदायिक सद्भाव नहीं है। वहाँ के अधिकांश शैव मन्दिरों में वैष्णव और शाक्त देवी-देवताओं की प्रतिमायें स्थापित हैं तथा उनकी विधिवत् उपासना होती रहती है।

सर्वधर्मसद्भाव की मनोवृत्ति-निर्माण में सहअस्तित्ववाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। परम्परागत भारत में इस सिद्धान्त की प्रायोगिक क्षमता सिद्ध हो चुकी है। आज भी इसका एक जीवन्त प्रतिमान काशी है। अध्यात्म दृष्टि से काशी एक लघु ब्रह्माण्ड है-अनादि, अक्षर। ऐतिहासिक दृष्टि से यह विश्व का प्राचीनतम नगर है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह भारतीय सभ्यता का लघु ब्रह्माण्ड है। सैकड़ों वर्षों से यहाँ भारतीय मूल के सभी धर्म और सम्प्रदाय, मुसलमान और ईसाई तथा भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों

और सभी विद्याओं के लोग स्व-धर्म का अनुपालन कर रहे हैं। काशी ने अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया है, अनेक सम्प्रदायों को शरण दिया है। कुछ सम्प्रदाय, जो अपने उद्भव स्थान में लुप्त हो चुके हैं, आज भी यहाँ जीवित हैं। कई सांस्कृतिक परम्परा अपने मूल क्षेत्र से मिट चुकी है, काशी में सुरक्षित है। यहाँ आचारों की दृढ़ता और विचारों की स्वतंत्रता बनी हुई है। यही सहअस्तित्ववाद के सिद्धान्त का मूलाधार है। हजारों वर्ष से काशी ने इस सिद्धान्त का अनुपालन किया है। फलस्वरूप यहाँ एक विशिष्ट मनोवृत्ति का निर्माण हुआ है, जिसे यहाँ के लोग "बनारसी" कहते हैं। "बनारसी" विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का कोई दूध और पानी जैसा मिश्रण नहीं है। यह सहअस्तित्व की संस्कृति है जिसमें सभी धर्मों, क्षेत्रों और जातियों का अपना-अपना आचार सुरक्षित है। इसमें अभय और आनन्द के गुणात्मक संस्कार के लोगों में एक विशिष्ट मनोवृत्ति का निर्माण होता है, जहाँ भोग और मोक्ष का सातत्य बना रहता है, सहअस्तित्व की धारणा बनी रहती है, सर्वधर्मसद्भाव का व्यवहार बना रहता है। इस प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन के आचारों की दृढ़ता होने पर भी सांस्कृतिक जड़ता नहीं आ पाती।

वाराणसी।

24 फरवरी, 1986।

कर्फ्यू का सातवाँ दिन,

धर्मनिरपेक्षता का राष्ट्रीय विकल्प क्या है ?

सहअस्तित्ववाद के सिद्धान्त पर सर्वधर्मसद्भाव की नीति एक विकल्प है। इसके लिये सर्वप्रथम सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में धर्म की अनिवार्यता को स्वीकार करना होगा, तत्पश्चात् सर्वधर्मसद्भाव स्थापित करने के लिये धर्मव्यवस्थाओं में उत्पन्न दोषों को परिष्कृत करना तथा प्रतिसांस्कृतिक सम्बन्धों में संतुलन लाने का प्रयास। साम्प्रदायिक उन्माद बढ़ाने वाले, अल्पसंख्यकों की "राजनीति" रचने वाले, बहुसंख्यक शक्ति के आधार पर अल्पसंख्यकों को त्रास देने वाले और व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिये धार्मिक विश्वासों का दुरुपयोग करने वालों के प्रयासों को विफल करने में सामूहिक मनोवृत्ति के निर्माण का त्वरित कार्यक्रम आवश्यक है।

आज परम्परागत संस्थाओं की सामाजिक भूमिका राज्य ने अपने हाथों में ले ली है। इसके साथ ही उनकी दण्ड और पुरस्कार शक्ति भी। अतः वैयक्तिक अथवा सामाजिक मनोवृत्ति-निर्माण में राज्य एकमात्र प्रभावकारी संस्था बच गयी है।

आधुनिक संचार-व्यवस्था भी राज्य से नियंत्रित है। बुद्धिजीवी भी राज्याश्रित है। सुतरां, मनोवृत्ति परिवर्तन में राज्य की निर्णायक भूमिका होती है। वर्तमान धर्मनिरपेक्ष नीति से राज्य और समाज की द्वैधवृत्ति बनी हुयी है। इसे दूर करने के लिये राष्ट्रीय व्यवस्था में संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता होगी।

मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार केन्द्र में राज्य-सभा और राज्यों में विधान-परिषद् है उसी प्रकार "धर्मसभा" और "धर्मपरिषद्" का गठन हो। इनका संवैधानिक स्वरूप क्या होगा तथा विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधित्व की लोकतांत्रिक व्यवस्था क्या होगी, इसे विशेषज्ञ ही बता सकते हैं। तत्काल मेरी कल्पना के अनुसार धर्मसभा के चार प्रमुख कार्य होंगे-

1. धार्मिक समूहों में सहअस्तित्व के आधार पर सद्भाव बनाये रखने का उपाय ढूँढ़ना तथा तत्सम्बन्धी नियमों को पारित करना।

2. धर्म-जन्य सामाजिक नियमों में अपेक्षित परिवर्तन लाना।

3. धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थलों और संस्थाओं के विकास के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करना, और

4. धर्म सम्बन्धी सभी विवादों के लिये सर्वोच्च न्यायलय का कार्य करना।

राज्य का प्रशासन पक्षपातविहीन दंडाधिकारी के रूप में धर्मसभा के निर्णयों को प्रभावकारी बनायेगा।

धर्मसभा की स्थापना के लिये जनमानस तैयार करना तथा लोकमत प्राप्त करना राष्ट्रनायकों का कार्य है। मेरे जैसे व्यक्ति के लिये इन विचारों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना ही इष्ट है।

●

बौद्ध-धर्म दर्शन और धर्मनिरपेक्षता

धर्म-निरपेक्षता का दर्शन

पं. सुधाकर दीक्षित
प्राध्यापक- न्याय विभाग
सं. सं. वि. वि., वाराणसी

(1)

इस निबन्ध के शीर्षक से हमें ऐसी धारणा नहीं बनानी है कि यहाँ धर्म-निरपेक्षता का कोई दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ हम धर्म- निरपेक्षता की केवल परख करना चाहते हैं। निश्चित ही धर्म-निरपेक्षता बहुत ही भ्रामक शब्द है। अंग्रेजी शब्द "सेक्यूलर" के स्थान पर इसका प्रयोग स्वीकृत हो चुका है, इसलिये इसे स्वीकार करने की बाध्यता है और इसी कारण, यद्यपि यह शब्द कहता है कुछ और ही, पर जिस किसी प्रकार तोड़ मरोड़कर इसका हम शासकीय मनोभाव के अनुसार सर्वधर्म- समभाव आदि के अर्थ में संयोजन करने-का प्रयास करते हैं।

(2)

मानव के लिये धर्म-निरपेक्ष होना निश्चित ही असम्भव है। धर्म शब्द का सही अर्थ है कर्तव्य, जो स्वभावतः श्रेय रूप है। कर्तव्य-निरपेक्षता मानव के लिये स्वीकार्य नहीं हो सकती। कर्तव्य-सापेक्षता से अतिरिक्त मानवता और कुछ नहीं है। कर्तव्य ही तो मानव का जीवन होता है। कर्तव्य-निरपेक्ष होना जीवन-निरपेक्ष होने के समान है।

(3)

"निरपेक्ष" के मूल में ईक्षा शब्द है। "ईक्षा" ईक्ष दर्शन धातु से निष्पन्न है। प्रयोग की दृष्टि से दर्शन एवं ईक्षा में थोड़ा भेद है। उस दर्शन को ईक्षा कहतें हैं जिसका लक्ष्य हेयोपादेय विवेक होता है। इसी ईक्षा में "अप" उपसर्ग लगांने "अपेक्षा" शब्द तथा "उप" उपसर्ग लगाने से "उपेक्षा" शब्द बनता है। यदि हम किसी वस्तु के प्रति सत्कार अथवा तिरस्कार का भाव न रखकर उदासीनता मात्र अपनाते हैं तो हमारी यह उदासीनता ही 'उपेक्षा' शब्द से समझी जाती है। 'अपेक्षा' शब्द तो सत्कार का

भाव व्यक्त करता है जब हम कहते हैं- हमें ज्ञान की अपेक्षा है, तो प्रयोजन के अनुसार ज्ञान की आवश्यकता स्पष्ट कर हम ज्ञान के प्रति सत्कार का ही भाव व्यक्त करते हैं। इसी अपेक्षा शब्द के साथ "निर" उपसर्ग जोड़कर- निर्गतः अपेक्षायाः इति निरपेक्षः (अपेक्षारहित) इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपेक्षा-रहित व्यक्ति को निरपेक्ष कहा जाता है। मानव सामान्यतः अपेक्षा-रहित नहीं हो सकता अतः उसे किसी विशेष वस्तु की अपेक्षा से रहित बताने के लिये ही "निरपेक्ष" शब्द का प्रयोग होता है जैसे यहाँ "धर्म-निरपेक्ष" शब्द का प्रयोग है।

(4)

अब हम "धर्म-निरपेक्ष" शब्द पर विचार करें। धर्म-निरपेक्ष का अर्थ है- धर्म की अपेक्षा से रहित। अपेक्षा शब्द ऊपर के संकेत के अनुसार निश्चित ही, उस आवश्यकता को स्पष्ट कर रहा है जो सत्कार की दृष्टि में पर्यवसित है। ऐसी स्थिति में धर्म-निरपेक्ष शब्द यही भाव दे रहा है कि धर्म की आवश्यकता हमें नहीं है- धर्म के प्रति हममें सत्कार की दृष्टि नहीं है। यह भाव किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना जा सकता। कर्तव्य ही धर्म है। क्या कर्तव्य के प्रति सत्कार की दृष्टि का अभाव उचित माना जा सकता है ? कर्तव्य हमारा हो या अन्य का, सत्कारार्ह तो है ही, पालनीय भले ही किसी के लिये हो किसी के लिये नहीं।

(5)

शासन स्वयं को धर्म-निरपेक्ष कहकर यह बताना चाहता है कि हम धर्म के प्रति निष्पक्ष हैं- आग्रहशून्य हैं। देश में अनेक धर्म हैं, उनमें से किसी धर्म विशेष में हमारा पक्षपात नहीं है। हम सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखते हैं। पर उपयुक्त वस्तुस्थिति के अनुसार धर्म-निरपेक्ष शब्द, इस पवित्र आशय को कथमपि स्पष्ट नहीं करता। इस पवित्र आशय के लिये "निष्पक्ष शासन" पक्षपातशून्य शासन, आग्रह-रहित शासन, आदि शब्द ही उपयुक्त हैं। पक्ष-निरपेक्ष, मत-निरपेक्ष शासन कदाचित् हो सकता है, धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकता।

(6)

धर्म-निरपेक्षता के समर्थन में एक बात कही जाती है-"धर्म" शब्द से यहाँ वे कर्मकाण्ड विवक्षित हैं जिनकी उपयुक्तता में कोई ठोस तर्क उपलब्ध नहीं हैं, पर विभिन्न समुदायों में ये रूढ़ हैं तथा उनकी प्रतिष्ठा के केन्द्रबिन्दु बन चुके हैं और निश्चित ही विभिन्न वर्गों में विद्वेषाधिक्य को उद्दीप्त करते रहते हैं। वर्तमान

परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए उन कर्मकाण्डों से विभिन्न समुदायों को विमुख करना अत्यन्त दुष्कर है और यदि किसी एक समुदाय के कर्मकाण्ड को शासन अपना कर्मकाण्ड मान ले तो देश के समस्त समुदायों का वह विश्वासपात्र नहीं हो सकेगा, फलतः पूरे देश में विप्लव अपरिहार्य है अतः शासन स्वयं को उन कर्मकाण्डात्मक धर्मों से निरपेक्ष मान रहा है। इसमें, हम इतने से अवश्य सहमत हैं कि विभिन्न कर्मकाण्ड विभिन्न समुदायों में धर्म के रूप में मान्य हैं और ये वर्तमान संदर्भ में परस्पर अमिट विरोध के कारण ही बन रहे हैं, अतः इनके प्रति पक्षपात-रहित होना उचित है, पर निरपेक्ष होना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि निरपेक्षता में निश्चित ही सत्कार दृष्टि का अभाव ही स्पष्ट होता है, जो तब तक उचित नहीं माना जा सकता जब तक इन कर्मकाण्डों को किसी भी समुदाय के द्वारा पालनीय माना जा रहा है।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि कुछ कर्मकाण्ड, विभिन्न सम्प्रदायों में जिस रूप में प्रचलित हैं वे वर्तमान संदर्भ में उसी रूप में उपादेय हैं या नहीं, और मेरी दृष्टि में अद्यतन स्थिति के अनुसार यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विचारशील लोगों को इस पर गम्भीरतापूर्वक अवश्य विचार करना चाहिए। देश के उत्थान के प्रति अपने जीवन को समर्पित कर, कुछ लोग अवश्य आगे आयें तथा इन कर्मकाण्डों की तालिका बनायें और इनसे सम्बद्ध विज्ञ लोगों से सम्पर्क कर इनके मूल में निहित उद्देश्य तथा इनके सही स्वरूप से अवगत हों। इसके अनन्तर कहाँ, किस रूप में कितने अंश के संशोधन एवं परित्याग से कर्मकाण्ड के मूल उद्देश्य तथा स्वरूप की रक्षा के साथ पारस्परिक विरोध एवं विद्वेष का उन्मूलन सम्भव है, इसकी समीक्षा करें एवं पुनः योग्य अधिकारियों की समिति में इसे रखकर कर्मकाण्डों का एक ऐसा सर्वसम्मत या बहुसम्मत स्वरूप सुनिश्चित करें जो विभिन्न समुदायों में स्वीकार्य रूप से प्रचारित किया जाय। ऐसा करने से कतिपय कर्मकाण्डों के कारण उभरने वाली विनाशोन्मुख प्रवृत्तियाँ अवश्य रुकेंगी।

यदि यह अति उत्तम कार्य हम लोग सम्पन्न कर सकें तो अवश्य ही प्रचलित कर्मकाण्डों के वे अंश स्वरूपतः स्पष्ट हो जायेंगे जो वस्तुतः त्याज्य हैं और उन त्याज्य अंशों या स्वरूपों के प्रति शासन को, साथ ही समस्त देश को अवश्य निरपेक्ष होना चाहिए।

(7)

मैं तो अपनी छोटी बुद्धि के अनुसार, इस तथ्य की ओर अपना विचार केन्द्रित कर चुका हूँ कि आज समस्याओं के बढ़ते हुए अम्बार में, प्रमुख कारण दो ही हैं- निरंकुश बुद्धिवाद तथा सत्प्रेरणादायक व्यक्तित्व का अभाव। मैं आप लोगों से विनम्र निवेदन करता हूँ-ऐसी कोई योजना अतिशीघ्र आप लोग बनायें जिससे प्रेरक व्यक्तित्व निखरे। प्रेरक व्यक्तित्व के अभाव में ही निरंकुश बुद्धिवाद को प्रश्रय मिलता है। अर्थ, काम की अपेक्षा से हम इतने ग्रस्त हैं कि प्रेरक व्यक्तित्व के उभार की दिशा में निराशा हो रही है। हम लोग इस समय धर्म-निरपेक्षता पर विचार के लिए एकत्र हैं, यह कम शुभ लक्षण नहीं है। निश्चित ही हम लोगों में से बहुत लोग ऐसे हैं जिनके हृदय में व्यग्रता है कि समाज की दिशाहीनता समाप्त हो। ऐसे लोग एक साथ मिलें। परस्पर प्रतिज्ञापूर्वक इस रूप में विश्वास स्थापित करें कि व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये सिद्धान्त की हत्या नहीं होने देंगे तथा हर सम्भव सहयोग के द्वारा किन्हीं निश्चित सुपरीक्षित सिद्धान्तों के अनुकूल अपने छात्रों, सहयोगियों आदि में एक ऐसा वातावरण बनायेंगें जो सिद्धान्त-निष्ठा के लिये प्रेरणाप्रद हो।

(8)

मैं इसी प्रसंग में आप लोगों के समक्ष एक प्रश्न प्रस्तुत करूँ- आज धर्म-निरपेक्ष हम बनना चाहते हैं, अर्थ-निरपेक्ष या कामनिरपेक्ष क्यों नहीं बनना चाहते। आज धर्म के कारण जितनी समस्यायें उठ रही हैं, कहीं उनसें अधिक समस्यायें अर्थ-काम के लिये उठ रही हैं। जो लोग धर्म के नाम पर एक हैं वे भी अर्थ-काम के लिये विघटित हैं और भयंकर संघर्ष के लिये उतावले हैं। पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी अर्थ, काम के कारण विद्वेषाग्नि की लपट से घिर गये हैं। शासक भी प्रायः अर्थ-काम की सापेक्षता के कारण ही स्वच्छ प्रशासन देने में असमर्थ हो रहे हैं। ऐसी वस्तुस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए सर्वप्रथम अर्थ, काम-निरपेक्षता की घोषणा शासन को करनी चाहिए पर यह नहीं हुआ ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है। आधुनिक सभ्यता के रंग में हम इतने रंग गये हैं कि अर्थ-काम ही हमारा जीवन हो गया है। इसी के लिये नैतिकता, चरित्र, धर्म आदि का मुखौटा मात्र कदाचित् हम लगा लेते हैं। हमारा हृदय आधुनिक सभ्यता से इतना अभिभूत है कि हम धर्म को बड़ी ही प्रसन्नता के साथ तिलांजलि दे रहे हैं। पर अर्थ-काम को छोड़ने की बात सोच भी नहीं सकते। वस्तुगत्या छोड़ना तो किसी को भी नहीं है पर प्रयोगरूप धर्म से अर्थ-काम को मात्र नियंत्रित करने की दृष्टि से यह माना जाता है कि अर्थ, काम की उपेक्षा करके भी

धर्म का पालन करना चाहिए। पर इस आप्त मान्यता को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करने के लिये विद्या-वृद्धों की उपासना अपेक्षित है। और यह अर्थ-कामान्ध लोगों के लिये असम्भव है। इसी कारण अर्थ-काम- निरपेक्ष होना हमारी कल्पना के बाहर की बात हो गयी है। आज हम माता-पिता को निराश्रय छोड देंगे पर अपनी उन्नति के लिये विदेश अवश्य चले जायेंगे। यह कौन-सी उन्नति होगी, इसे भारतीय हृदय भली भांति समझ सकता है। हम आप भी वृद्ध माता-पिता की अवस्था में आने पर सम्भवतः स्वयं इसे समझ लेंगे, अस्तु।

प्रकृत में हमें यही कहना है कि धर्म के प्रति आस्थाहीन होने के कारण ही हम धर्म-निरपेक्षता की डींग हाँक रहे हैं। यदि सौभाग्य से हमें, अर्थ-काम की तरह धर्म भी जीवन के अनिवार्य तत्त्व रूप में मान्य होता तो निश्चित ही हम धर्म-निरपेक्षता की बात नहीं करते तथा आज जैसे अर्थ-निरपेक्षता, कामनिरपेक्षता के स्थान पर आर्थिक संतुलन, आवश्यकताओं के पुनरीक्षण, परिसीमन आदि की बात करते हैं वैसे ही धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर धार्मिक सन्तुलन, धार्मिक समन्वय आदि की ही बात हम करते। अस्तु।

(9)

हम प्रकृत पर विचार करें। सिद्धान्तनिष्ठ लोगों के निर्माण के उपयुक्त वातावरण की बात हम ऊपर कर रहे थे तदनुसार हम लोग निश्चित ही सजग हों, क्योंकि यह योजना दूरगामी ठोस परिणाम लाने में अवश्य उपयोगी होगी।

आज हम बुद्धिजीवी एक दुर्बलता से ग्रस्त हैं। वास्तविकता यह है कि हम बुद्धिजीवी ही समाज या देश का भविष्य स्वर्णिम बना सकते हैं। पर हम अपने समय के स्वयम्प्रभु नहीं बन पाते। हमारे समय के प्रभु हमारे शासक होते हैं। हम शासकमुखापेक्षी हो गये हैं। समस्त उत्तरदायित्वों को हमने शासन में निहित कर दिया है और शासन हमें जो करने का आदेश दे उसे महत्त्वपूर्ण मानकर तदनुसार अग्रसर होने में ही हम अपनी उन्नति मान रहे हैं। इसमें भी मुख्य कारण हममें सिद्धान्तनिष्ठा का अभाव ही है। हमारी सिद्धान्तनिष्ठा यदि शासन से पुरस्कृत नहीं होती तो हम उसे भी कोसने लगते हैं तथा पुरस्कार एवं लोकेषणा के प्रति हममें इतनी अन्ध उत्सुकता पनप गयी है कि हम सिद्धान्तहीन होकर शासकीय पुरस्कार तथा तन्मूलक लोकेषणा को सोत्साह गले लगाने के लिये उतावले हो चले हैं। यह दुर्बलता ही अपना स्वरूप पहचानने या उजागर करने में हमारे लिये बाधक हो रही

है। इसे मिटाना आवश्यक है। एतदर्थ कुछ लोग आगे आयें। सिद्धान्त-निष्ठा के आधार पर अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व उजागर करें तथा समाज में यह विश्वास उत्पन्न करें कि शासन, समाज का निर्माण नहीं करता, प्रभावशाली आदर्शनिष्ठ व्यक्तियों का संगठन ही समाज का निर्माण करता है। यदि ऐसा हो जाय तो अवश्य ही निकट भविष्य में वह दिन आ सकता है जब कि हम परमुखापेक्षी न होकर स्वयं अपनी उचित दिशा का निर्धारण करेंगे और तदनुसार समाज को लेकर आगे बढ़ेंगे। हमारा इतिहास भी यही बता रहा है। सप्तर्षि लोग थे, वे समाज के हित की दिशा-निर्धारित करना ही अपना उत्तरदायित्व समझते थे और उसी के लिये सर्वात्मना समर्पित थे। शासन को भी उनके द्वारा निर्धारित दिशा का ही अनुसरण करना अनिवार्य होता था। समाज सप्तर्षियों की ओर देखता था। शासन की तो केवल इतनी ही भूमिका रहती थी जितनी कि एक भवन की रक्षा के लिये नियुक्त दीनदार, ईमानदार, द्वारपाल की होती हैं।

(10)

यह वास्तविकता है कि आज हम जिसे धर्म का रहस्यात्मक स्वरूप समझ रहे हैं, तथा यह मान रहे हैं कि वह समाज के लिये समस्या नहीं बनता वही यथार्थतः धर्म है। विभिन्न कर्मकाण्ड तो उस यथार्थ धर्म को आत्मसात करने के लिये केवल साधन रूप में स्वीकृत हैं। ये मुख्य धर्म नहीं हैं इन साधनों को ही सर्वस्व मान कर इनके प्रति अमर्यादित रूप में अभिनिवेश को न तो कभी उचित माना गया है और न उचित माना जा सकता है। अतः धर्म के सम्बन्ध में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं के निराकरण के लिये हम लोगों को हर सम्भव प्रयास तत्काल आरम्भ करना चाहिए।

(11)

मैं एक बात और स्पष्ट करूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि शासन का अपना कोई धर्म होना ही चाहिए और वह सनातन धर्म ही भारत देश के लिये हो सकता है। जैसे विद्वान ही विद्या का सही महत्त्व समझ सकता है, कोई माँ ही किसी की प्रसव वेदना में अपेक्षित सहानुभूति का यथावत् अनुसरण कर सकती है, वैसे ही स्वधर्म के प्रति यथार्थ रूप में दृढ आस्थावान् ही अन्य धर्म के प्रति आदरपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि अपना सकता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम् कर लेने पर, हमारा यह भ्रम निश्चित रूप से निर्मूल हो सकता है कि धर्म, संघर्ष का कारण बन सकता है।

मेरा यह निश्चित मत है कि जब से धर्म का सम्बन्ध लाभ से जोड़ा जाने लगा है तभी से धर्म के नाम पर अनर्थों के बादल मँड़राने लगे हैं। धर्म तो केवल कर्तव्य बुद्धि से पालनीय होते हैं। धर्म पालन के कारण लाभ यदि अनुसंगतः मिल जाता है तो सच्चा धार्मिक या तो उसकी उपेक्षा करता है अथवा अनासक्त भाव से उसे स्वीकार करता है। यह सुभाषित प्रसिद्ध है-

"गुणाः खलु गुणा एव न गुणा भूतिहेतवः।
धनसञ्चयकृतानि भाग्यानि पृथगेव हि।।"

गुण, गुण हैं। वे ऐश्वर्य के कारण हैं, इसलिये गुण नहीं हैं। इससे धर्म की भी स्थिति संकेतित होती है। धर्म-धर्म है। वह लाभ का हेतु होने से धर्म नहीं है। भगवान् मनु के द्वारा जो धर्म का स्वरूप बताया गया है। उसे हमें हृदयंगम करना चाहिए। वे कहते हैं-

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषिरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।

इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि राग-द्वेषशून्य सज्जन विद्वानों के द्वारा जो सदा सेवित हो तथा हृदय से समर्पित हो, वही धर्म है। राग-द्वेष से रहित सात्त्विक विद्वान् क्या लाभ के लिये धर्माचरण कर सकते हैं। लाभ के लिये धर्माचरण की धारणा निश्चित हो यह एक कुत्सित व्यावसायिक धारणा है, यह धारणा परिणाम में कितना अनर्थ उत्पन्न करती है यह आज के तथाकथित् धार्मिक उन्माद से स्पष्ट है। धर्म के नाम पर विभिन्न सुविधाओं के लोभ ने आज समस्त विश्व को आग में झोंक रखा है। आज का आतंकवाद उग्रवाद इसी धारणा का घिनौना कुपरिणाम है। यदि तत्काल आदर्श शिक्षा के द्वारा हम नागरिकों में यह भाव भर दें कि धर्म, धर्म कि लिये है लाभ के लिये नहीं, तथा इस भाव के आधार पर स्वार्थों से धर्म का सम्बन्ध तोड़ दें तो धर्म का सही रूप सामने आ जायेगा और उसका मुख्य लक्ष्य सुख एवं शान्ति हमें स्वतः प्राप्त होगी साथ ही ऐसे धर्म के प्रति पूर्ण सापेक्ष रहकर हम यथार्थतः भारत को जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित कर सकेंगे। अब उपसंहार में मेरी अंतिम बात यह है-

आज धर्मनिरपेक्षता जोर पकड़ रही है। इसमें मूल कारण धर्म के प्रति तिरस्कार का भाव ही है। तिरस्कार के मूल में घृणा होती है। धर्म के प्रति घृणा का एकमात्र कारण है- पाखण्ड। आज धर्म अवश्य ही पाखण्ड से आवृत है इसलिये उपेक्षणीय

स्थिति में पहुँच गया है। पाखण्ड का उन्मूलन भगवान् बुद्ध के उपदेशों के सहारे ही किया जा सकता है। हम सनातनी भी भगवान बुद्ध का आदर करते हैं- इसमें यही कारण है कि वे पाखण्ड से हमारी रक्षा करने के लिये ही अवतरित हुए-

बुद्धस्तु पाखण्डगणात् -(श्रीमद्भागवत्)

भगवान् बुद्ध के उपदेश वाक्यों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे धर्म के नाम पर प्रचलित उन रूढ़ परन्तु निर्मूल उपाधियों का उन्मूलन करना चाहते थे। जो पाखण्ड को प्रोत्साहित करती हैं। भगवान् बुद्ध के युग में सम्भवतः केवल धर्म का क्षेत्र पाखण्ड से व्याप्त था इसीलिये उनके उपदेश प्रायः धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित हैं। पर आज तो वे सभी क्षेत्र पाखण्ड से व्याप्त हैं जिनका सामाजिक प्रतिष्ठा आदि लौकिक लाभ से सीधा सम्बन्ध है। इस पाखण्ड का उन्मूलन कौन कर सकता है ? हम ईश्वरवादी यद्यपि पलायनवादी नहीं हैं पर इस वस्तुस्थिति को निःसंकोच अवश्य स्वीकार करते हैं कि जब चारों ओर से समस्यायें उलझ जाती हैं तब निष्पक्ष प्रभावशाली व्यक्तित्व ही कुछ कर पाता है और यही व्यक्तित्व ईश्वर है। हम भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश वाक्यों को हृदयंगग करें तथा पाखण्ड से कठोर संघर्ष करना आरम्भ करें। राग-द्वेष से विहीन होकर निश्चित ही हमारा यह प्रयत्न पुनः भगवान् बुद्ध को अवतरण के लिये प्रवृत्त करेगा और वे अवतीर्ण होकर हमारे पाखण्ड को नष्ट करेंगे। अतः यह बहुत ही सामयिक है कि बौद्ध धर्म के संदर्भ में भी हम आज धर्म-निरपेक्षता पर विचार कर रहे हैं। इतना आवश्यक है कि भगवान बुद्ध की उपयोगिता मात्र पाखण्ड के निषेध तक ही है। अनन्तर विधि क्या है विधेय क्या है इसके लिये हमें सनातन धर्म की ही शरण में जाना होगा जो वेदों एवं शास्त्रों में पूर्ण विश्वास पर आधारित है।

●

धर्म और धर्मनिरपेक्षता : एक सैद्धान्तिक विश्लेषण

डॉ० हर्षनारायण

धर्म क्या है ? और धर्मनिरपेक्ष होने का क्या अर्थ है ?

पहले दूसरा प्रश्न ले लें। धर्म से निरपेक्ष होना क्या होता है? धर्म से निरपेक्ष होने के तीन अर्थ सूझते हैं। प्रथम है धर्म का परित्याग, धर्म-संन्यास, धर्म को हेय समझकर उसका प्रतिषेध। दूसरा अर्थ है धर्म के प्रति तटस्थता अथवा उदासीनता की वृत्ति, धर्म को अनावश्यक तथा अनवधेय समझकर उसकी उपेक्षा। तीसरा अर्थ अपेक्षया सूक्ष्म है-धर्म के सहारे धर्म का अतिक्रमण, धर्म से पार हो जाना, धर्म से आगे की भूमि पर पदार्पण करना। ये तीनों अर्थ एक-एक शब्द में इस प्रकार निरूप्य हैं-

(1) धर्मप्रतिषेधवाद (ऐन्टी-रिलिजनिज्म)

(2) धर्मौदासीन्यवाद (नांन-रिलिजनिज्म)

(3) धर्मात्ययवाद। धर्मातिक्रान्तिवाद (ट्रान्स-रिलिजनिज्म)

उक्त तीसरा अर्थ नितान्त वैयक्तिक स्तर की वस्तु है, इस अर्थ में समाज नहीं व्यक्ति ही धर्मनिरपेक्ष हो सकता है किन्तु यहाँ हम आधुनिक सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता पर विचार कर रहे हैं, अतः यह अर्थ अप्रासंगिक हो जाता है। अतएव प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल प्रथम और द्वितीय अर्थ हमारे विचार का विषय हो सकते हैं।

अब धर्म शब्द को ले लीजिए। धर्म एक विविधार्थक शब्द है।

यहाँ उसके सभी अर्थों पर विचार सम्भव नहीं, आवश्यक भी नहीं। उदाहरणतः बौद्ध धर्म-दर्शन में उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ है वस्तु, विषय अथवा सत्ता और जैन धर्म-दर्शन में गति। स्पष्ट है, धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में ये अर्थ विचार कोटि के बाहर हैं।

वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म-दर्शनों में धर्म का धारणार्थक प्रयोग उल्लेखनीय है। अर्थर्ववेद में "पृथिवी धृर्मणा धृताम्" तैत्तिरीयारण्यक में "धर्मो" "विश्वस्य जगतः

प्रतिष्ठा[1]", **महाभारत** में "धारणाद् धर्म इत्याहु, धर्मो धारयते प्रजाः[2]" कहा ही गया है। योगभाष्य में "योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः"[3] कहते हुए धर्म को वस्तुस्वरूप का पर्याय घोषित किया गया है। इसी प्रकार जैन आचार्य नागसेन धर्म का अर्थ वस्तुस्वरूप अथवा वस्तुयाथात्म्य घोषित करते हुए कहते हैं-

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः।।
ततोऽनपेतं यज् ज्ञानं तद् धर्म्यं ध्यानमिष्यते।।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः।।[4]

प्रभाचन्द्र भी धर्म की इसी प्रकार व्याख्या करते हुए कहते हैं-- "जीवादि वस्तुनो यथावस्थित्स्वभावो वा।"[5] धर्म के एवं-विध व्यापक लक्षण से धर्म निरपेक्षता का कोई विरोध नहीं, और न इस प्रकार के धर्म से निरपेक्षता की कहीं अपेक्षा ही हो सकती है।

धर्म एक अन्य प्रकार से भी परिभाषित हुआ है। महावीर स्वामी के अनुसार लौकिक व्यवसाय त्रिविध है-- अर्थ, धर्म और काम (लौगिए ववसाए तिविहे पन्नत्ते। तं जहा- अत्थे, धम्मे, कामे[6])। यहाँ धर्म से तात्पर्य है लोकधर्म, सामान्य धर्म, लौकिक कर्तव्य-कलाप। इसकी प्रतियोगिता में है- लोकोत्तर धर्म, मोक्षधर्म। पुरुषार्थ चतुष्टय (अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष) में धर्म और मोक्ष शब्द इसी द्वन्द्व की ओर इंङ्गित करते प्रतीत होते हैं। जयन्त भट्ट का मत है कि पुरुषार्थ-सिद्धान्त में सब का तात्त्विक ऐकमत्य है (आगमानां विरोधोऽपि नातीव विद्यते, प्रमाणानां पुरुषार्थे सर्वेषामविवादात्[7])। वैयक्तिक स्तर पर "अष्टावात्मिगुणाः-- दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिरनसूया, शौचमनायासो, मङ्गलमकार्पण्यस्पृहेति"[8] की चर्चा आती है। इसी प्रकार मनु के "दशकं धर्मलक्षणम्" की प्रसिद्धि है। ये सब लोक-धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। अश्वघोष एक स्थान पर लिखता है-- उत्तिष्ठ भोः! क्षत्रिय! मृत्युभीत! वरस्व धर्मं, त्यज मोक्षधर्मम्[9]। यहाँ धर्म और मोक्षधर्म का द्वन्द्व स्पष्ट है अश्वघोष धर्म शब्द का

---

१. तैत्तिरीयारण्यक १०/६३/१ तु० कूर्मपुराण १/२/६१
२. महाभारत/ कर्णपर्व ६६/ ५८
३. योगभाष्य/ विभूतिपाद १४
४. नागसेन/ तत्त्वानुशासन ५३-५४
५. प्रभाचन्द्र/ न्यायकुमुदचन्द्र १/१
६. स्थानांगसूत्र ३/३
७. गौतमधर्मसूत्र १/८ २३-२४
८. मनुस्मृति ६-[illegible]
९. अश्वघोष/ [illegible]

प्रयोग मोक्षधर्म के अर्थ में करता प्रतीत होता है। नागार्जुन धर्म की विवृति करते हुए लिखता है--

आत्म-संयमकं चेतः, परानुग्राहकं च यत्।
मैत्रं स धर्मस्तद्बीजं फलस्य प्रेत्य चेह च।।[1]

अर्थात् चित्त अथवा मन जब आत्म-संयम की ओर प्रवृत्त होता है, परोपकार की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है, और प्राणियों के प्रति मैत्री के भाव से भावित होता है, तब वह धर्म कहलाता है। इस पर चन्द्रकीर्ति कहता है--

"धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापितः-- **स्वलक्षणधारणार्थेन, कुगतिगमन-विधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारविधारणार्थेन।**" तत्र स्वलक्षणधारणार्थेन सर्वे सास्रवा अनास्रवाश्च धर्मा इत्युच्यन्ते। कुगतिगमनविधारणार्थेन दशकुशलादयो धर्मा इत्युच्यन्ते। -पान्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन निर्वाणे (?) धर्म इत्युच्यन्ते, धमं शरणं गच्छतीत्यत्र[2]। अर्थात् धर्म शब्द तीन प्रकार से प्रयोग में आता है। सभी सास्रव और अनास्रव धर्मों के धारण के अर्थ में, कुगति और गमन के क़ारण अर्थात् दस कुशल आदि धर्मों के अर्थ में, और पाञ्चगतिक-संसरण की निवृत्ति अर्थात् निर्वाण के अर्थ में। यहाँ अन्तिम अर्थ विशुद्ध मोक्षधर्मात्मक है। हाँ, प्रथम और द्वितीय अर्थ लोकधर्म का सन्दर्भ भी लिये हुए प्रतीत होते हैं।

कणाद धर्म का लक्षण इस प्रकार करते हैं-- "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः[3]। अर्थात् जिससे अभ्युदय अर्थात् लौकिक उत्कर्ष और निश्रेयस अर्थात् मोक्ष दोनों की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। शान्तरक्षित का कहना है कि धर्म की यह परिभाषा सर्वसम्मत है-

यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः।।[4]

कुर्आन में धर्म के लिए "दीन" शब्द का प्रयोग हुआ है। "दीन" के तीन अर्थ हैं-

(1) बदला, प्रतिफल, निर्णय (महाप्रलय-काल, क्रियामः, के लिए यौमुऽद्-दीन शब्द है।[5])

---

१. नागार्जुन/ मध्यमकशास्त्र १७/१
२. चन्द्रकीर्ति/मध्यमकशास्त्र-प्रसन्नपदा १७/१
३. वैशेषिकसूत्र (गायकवांस ओरियन्छल सीरीज संस्करण) १/१/२
४. शान्तरक्षित/ तत्त्वसंग्रह ३४८५
५. कुर्आन/ सुरतुऽलू-फातिह : ४

(2) रीति, परम्परा, रूढ़ि, लोकधर्म

(3) मोक्षधर्म (रिलिजन), प्रणति

इनमें से प्रथम अर्थ में दीन शब्द हिब्रू-आरमीनी मूल का समझा जाता है और द्वितीय अर्थ में अरबी धातु "दान" अथवा "देन" से निष्पन्न, जिसका अर्थ है ऋण। तृतीय अर्थ में "दीन" शब्द पहलवी शब्द "देन" का सीधा विकार प्रतीत होता है, जिसका भी अर्थ लोकधर्म, मोक्षधर्म अथवा दिव्यज्ञान (रेवेलेशन) है। पहलवी "देन" शब्द अवेस्ता में अनेकशः प्रयुक्त दएना का रूपान्तर है, जिसका अर्थ भी लोकधर्म, मोक्षधर्म अथवा अन्तर्ज्ञान होता है। देन शब्द का धर्म अर्थ में प्रयोग तृतीय शताब्दी के मानी नामक धर्माचार्य ने बहुशः किया है। यह भी कहते हैं कि अवेस्ता का "दएना" शब्द वेद के "धेना" शब्द का रूपान्तर है। वेद में "धेना" का अर्थ दुग्धवती गाय, वाक्, आदि तो होता है, किन्तु धर्म अथवा विधि के अर्थ में उसका प्रयोग मुझे नहीं मिला। वैसे उसका वाक् अथवा वाणी के अर्थ में प्रयोग महत्त्वपूर्ण है।[1]

क़ुर्आन में धर्म, विशेषतः लोंकधर्म के अर्थ में "मिल्लः" शब्द का भी प्रयोग प्राप्त होता है।[2] एक अन्य शब्द "वरअ" भी कुर्आन का ही है, जिसका अर्थ वैयक्तिक धर्म है। "मिल्लः", "शरीयः", "मिन्हाजै", नस्क शब्द भी कुर्आनी है, जो विधि अथवा पथ के अर्थ में प्रयुक्त पाये जाते हैं। ध्यान रहे कि "मज्हब" शब्द का अर्थ भी, पथमार्ग होता है, किन्तु यह कुर्आन में नहीं पाया जाता।

इस्लाम में आगे चलकर तीन शब्द-दीन, मिल्लः और मज्हब-क्रमशः तीन अर्थों में रूढ़ हो गये। दीन का सम्बन्ध ईश्वर से निश्चित हुआ जो उसका प्रकाशक समझा जाता है, मिल्लः का सम्बन्ध पैगम्बर से निश्चित हुआ जिसके माध्यम से उसका प्रकाश माना जाता है, और मज्हब का सम्बन्ध इस्लाम के उन इमामों से जुड़ गया जो उसकी व्याख्या और व्यवस्था करते हैं।

पूर्वमीमांसा-सूत्र में धर्म का लक्षण चोदना अथवा शास्त्र का विधान बतलाया गया है- "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।"[3] इस्लाम भी अपनी भाषा में यही बात कहता है। उसकी दृष्टि में ईश्वराज्ञा और उसका अक्षरशः पालन ही धर्म अर्थात् दीन है। इमैनुएल कान्त भी धर्म का लक्षण करते हुए इसी प्रकार की ही बात कहता है। उसके अनुसार अपने कर्तव्य मात्र को विधाता की विधि अथवा ईश्वराज्ञा मानना ही

---

१. ऋग्वेद १/२/३
२. कुर्आन/ सूरः यूसुफ ३८
३. पूर्वमीमांसासूत्र १/१/२

धर्म है। इस प्रकार उसकी दृष्टि में हमारा कर्तव्य-बोध व्यवहार से सीखा हुआ न होकर ईश्वर की ओर से प्रेरित है। उसके शब्द सुन लें-

'Religion is (subjectively speaking) the recognition of all our duties as divine commands'[1]. True religion the only true religion there is, consists of noting but laws; that is, those practical principles of whose unconditional necessity we can become aware and which accordingly we recognize as revealed (not empirically but) throught pure reason'[2].

यह भी एक प्रकार का मोक्षधर्म ही हुआ। स्मरण रहे कि कान्ट इसे "वैयक्तिक धर्म" के रूप में मानता है, और इसे ऐतिहासिक संघबद्ध-संस्थाबद्ध धर्म से भिन्न मानता है। संस्थाबद्ध धर्म को वह कानूनी धर्म (Statutiony) अथवा पुरोहितवाद (clericatism) नाम देता है।

ह्वाइटहेड धर्म को एकाकिता (Solitariness) से समीकृत करता है, और यह भी कहता है कि धर्म वह है जो व्यक्ति अपनी ही एकाकिता से करता है (What the individual does with his own solitariness.[3]) ओस्वाल्ड स्पेंगलर धर्म को इस सीमा तक वैयक्तिक और लोकोत्तर मानता है कि वह कह जाता है कि धर्म को तथ्यों से पूर्ण संसार को सुधारने में कोई दिलचस्पी नहीं। जो धर्म सामाजिक समस्याओं के पचड़े में पड़ता है वह धर्म रह ही नहीं जाता।[4]

किन्तु यदि हम ऐतिहासिक धर्मों पर दृष्टिपात करें तो हमें वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। हिन्दू धर्म मोक्षधर्म, दर्शन और संस्कृति-संस्थान (लोक-व्यवस्था) तीनों है। ताओधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म, मोक्षधर्म और दर्शन हैं। आदिम अरकुष्टीय धर्म, यहूदी धर्म और इस्लाम मोक्षधर्म और संस्कृति-संस्थान (लोकव्यवस्था) हैं। ईसाई धर्म मूलतः मोक्षधर्म मात्र है। कन्फ्यूशियसीय धर्म संस्कृति-संस्थान मात्र है। यह सब

---

१. Immanuel Kant, Religion within the Limits of Reason Alone, Thedore M. Greene & H. Hudson, trs. (London, 1934), revised chiefly by John R. Siber (New York, 1960), P. 142

२. तत्रैव/पृ० १५६

३. A.N. whitehead, Religion in the Making

४. 'No religion aims at improving the world of facts......What has the agony of a soul to do with communism ? A religion that has gone as far as taking social problems in hand has ceased to be a religion." **Oswald Spengler, The Decline of the West. Vol.II (New York, 1947), p. 195.**

हमने "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" की दृष्टि से लिखा है। अन्यथा प्रायः सभी ऐतिहासिक धर्म तीनों आयाम रखते प्रतीत होते हैं - - वैयक्तिक, सामाजिक और लोकोत्तरीय।

धर्मों का अपरिमित वैचित्र्य देखकर धर्म की परिभाषा करने में आजकल इतनी ही सावधानी से काम लेने की अपेक्षा होती है। आज कोई (रूडांल्फ ओटो) पवित्रता-प्रत्यय (आइडिया आंव द होली) को धर्म का प्राण मानता है, तो कोई (पांल टिलिख) परम पुरुषार्थ अथवा चरम अवेक्षा (अल्टिमेट कान्सर्न) को, और कोई परात्पर-चेतना (सेन्स ऑव द ट्रांन्सेन्डेन्ट) को। यदि ऐतिहासिक धर्मों की सर्वसाधारण विशेषताओं का पालन किया जाय तो हमें अधोनिर्दिष्ट सूची प्राप्त होगी-

(1) पूर्ण सत्य का दावा अभिनिवेश

(2) धर्म-संस्थापक में दिव्यता का आरोप

(3) आराध्य की परिकल्पना

(4) शुचि-अशुचि/पुण्य-पाप का विवेक

(5) कर्मफल-सिद्धान्त

(6) परलोकोन्मुखता

(7) धर्मान्तर के प्रति सहानुभूति का प्रायः अभाव

(8) स्वदेश और स्वजाति की श्रेष्ठता का दावा

(9) देवासुर-संग्राम की अवधारणा

(10) स्रष्टा की अवधारण।

(11) आद्य परमपद से पतन और उसकी पुनः प्राप्ति की कल्पना

(12) आदर्श जिसके लिए मृत्यु भी वरणीय हो सकती है

(13) अल्पत्व-बोध-पूर्वक भूमा की अभीप्सा

(14) निष्काम कर्मयोग

(15) सृष्टि के अर्थ और उसकी परागति की चिन्ता

(16) लोकोत्तर जीवन की कल्पना और नित्य में निवास का बोध

यह एक कामचलाऊ सूची है, जिसे घटाया, बढ़ाया और सँवारा जा सकता है, किन्तु हमारे प्रयोजन की दृष्टि से यह पर्याप्त उपयोगी है।

अच्छा, सूचीबद्ध विशेषतायें न्यूनाधिक सभी धर्मों में पायी जाती हैं। आइए, देखें कि वे बौद्ध धर्म में कहाँ तक चरितार्थ होती हैं।

उपर्युक्त विशेषतावली में से प्रथम विशेषता है पूर्ण सत्य का अभिनिवेश। बौद्ध धर्म में बुद्ध की सर्वज्ञता, उनके द्वारा आर्य सत्यों के साक्षात्कार, और आगे चलकर उनके धर्मकायत्व के प्रचार को देखते हुए यह विशेषता औरों के साथ बौद्ध धर्म की भी विशेषता सिद्ध होती है। इसी प्रकार बुद्ध में दिव्यता के आरोप से बौद्ध धर्म में दूसरी विशेषता भी सिद्ध हो जाती है। बौद्ध भी बुद्ध की आराधना करते ही हैं, अतः उनमें तीसरी विशेषता भी पायी जाती है। बौद्धों में शुचि-अशुचि, पुण्य-पाप का विवेक किसी से कम नहीं है, वे कर्मफल-सिद्धान्त में भी आस्थावान् हैं। निर्वाण और सुखावतीव्यूह सिद्धान्त के माध्यम से वे परलोकोन्मुख भी सिद्ध होते हैं। अतः प्रथम छः विशेषताएँ बौद्ध धर्म में भी सिद्ध हुईं। सातवीं विशेषता है धर्मान्तर के प्रति सहानुभूति की कमी। बौद्ध धर्म में इसे भी किसी न किसी सीमा तक दिखलाया जा सकता है। आठवीं विशेषता है स्वेदश और स्वजाति की श्रेष्ठता का दावा। बौद्धों का यह सिद्धान्त कि बुद्ध सदा क्षत्रिय कुल में और जम्बूद्वीप में जन्म लेते हैं, इसी विशेषता को प्रतिबिम्बित करता है। नवीं विशेषता देवासुर-संग्राम की अवधारणा है। मार से संघर्ष की अवधारणा इसी कोटि में आती है। तथापि यह विशेषता बौद्ध धर्म में अन्यों की अपेक्षा क्षीण लगती है। स्रष्टा की अवधारणा भी बौद्ध धर्म में, महायान-स्तर पर, आ गयी पायी जाती है। उदाहरणतः, **कारण्डव्यूह-सूत्र** में आदिबुद्ध को सृष्टिकर्ता मान लिया गया है। अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। किसी मौलिक परमपद से हमारा पतन हुआ है, ग्यारहवीं अवधारणा का यह अंश बौद्ध धर्म में नहीं पाया जाता। इसका द्वितीयांश--परमपद की पुनः प्राप्ति--पुनः शब्द निकाल देने पर बौद्ध धर्म में अवश्य पाया जाता है। शेष पाँच विशेषताएँ तो बौद्ध धर्म मे निर्विवाद रूप में पायी ही जाती हैं।

अब तक हमने विविध धर्मों के सन्दर्भ में धर्म-सामान्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आइए देखें कि धर्म अथवा धर्मों में ऐसी क्या बात अथवा बातें हैं जिससे अथवा जिनसे निरपेक्ष होने की अपेक्षा ने धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति को जन्म दिया।

अच्छा, प्रायः सभी धर्म इस लोक, इस जीवन से किसी न किसी सीमा तक पराङ्मुख पाये जाते हैं और पर-लोक, मरणोत्तर जीवन की ओर उन्मुख। फलतः धार्मिक मनुष्य इस लोक, इस जीवन, की अपेक्षा, परलोक, मरणोत्तर जीवन, को लक्ष्य करके अपना जीवन-क्रम निर्धारित करना चाहता है। धर्मों के इतिहास में यह प्रवृत्ति बहुधा मानव की ऐहिक प्रगति में बाधक सिद्ध हुई है। धर्मों को परलोक बनाने की धुन में इस लोक को बिगाड़ने पर तुला देखकर नौ नकद न तेरह उधारं में विश्वास करने वाला बुद्धिवादी धर्म से निरपेक्ष हो जाता है।

परलोकोन्मुखता जब अति को पहुँच जाती है तो अनेक धर्म इस लोक और इस जीवन का निषेध करने लगते हैं। उक्त बुद्धिवादी धर्म की इस प्रवृत्ति से भला कब समझौता कर सकता है ? फलतः वह धर्म से निरपेक्ष अथवा विमुख हो जाता है।

धर्म इस लोक, इस जीवन, अथवा प्रत्यक्ष का दामन छोड़कर जब परोक्ष के प्रति समर्पित होता है, तब वह मूढ़ाग्रहों के दलदल में फँस जाने का खतरा मोल लेता है। यह भी धर्मनिरपेक्षता के विकास में कारण प्रतीत होता है।

धर्म अन्तिम सत्य का दावा करता है। यह विज्ञान से प्रभावित मन को सहन नहीं होता। अतः वह धर्म से विमुख हो जाता है। बौद्ध धर्म भी अन्तिम सत्य के अभिनिवेश से बच नहीं सका।

अन्तिम सत्य के अभिनिवेश के फलस्वरूप धर्म परिवर्तनशील नहीं रह जाता। उसे परिवर्तन से भय लगने लगता है। जबकि परिवर्तनप्रियता धर्मनिरपेक्ष मानव की घुट्टी में पड़ी है।

अन्तिम सत्य का अभिनिवेश परिवर्तन-भीरुता धर्म में कूर्मवृत्ति, कूपमण्डूकता, परमधर्मासहिष्णुता की प्रवृत्तियों को जन्म देते हैं। ये प्रवृत्तियां प्रगति-प्रेमी मानव को धर्म से निरपेक्ष बनाने के लिए पर्याप्त हैं।

भाग्यवादी धर्म मान के पुरुषार्थ-प्रिय मानव को आकृष्ट नहीं कर सकते। फलतः आज का मनुष्य अधिकाधिक धर्मनिरपेक्ष होता जाता है।

अनेक धर्म ऐहिक व्यवहार- विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, दीवानी, माल और फौजदारी आदि- के लिए भी कानून प्रतिपादित करते हैं। ये कानून धर्मों की परिवर्तन-भीरुता के कारण स्थितिशील होते हैं, जिससे अनेक दुरूह समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। आधुनिक मानव वैयक्तिक धर्म तो सहन कर सकता है, किन्तु धर्म को

आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने दे सकता। यही धर्मनिरपेक्षता का मूल मन्त्र है।

धर्म का शास्त्रप्रमाणवाद, आप्तवचन-प्रामाण्यवाद, जब मानव की प्रगति में बाधक सिद्ध होने लगता है, तब उससे निवृत्ति अथवा निरपेक्षता अवश्यम्भावी है। धर्मनिरपेक्षता को इससे पर्याप्त बल मिलता है। बौद्ध धर्म में भी इस प्रकार का प्रमाणवाद पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। धर्मकीर्ति का तथागत प्रामाण्यवाद प्रसिद्ध है।

हां, जो धर्मशास्त्र की युगानुसारी परिवर्तनशीलता के पोषक हैं और शास्त्र का क्षेत्र लोकव्यवहार से बाहर रखते हैं उनसे धर्मनिरपेक्षता का कोई विरोध नहीं। हिन्दू धर्म में धर्म और शास्त्र दोनों की परिवर्तनशीलता के लिए पर्याप्त अवकाश है।

हिन्दू धर्म तात्त्विक अनेकान्तवाद का पोषक है, फलतः हिन्दू समाज आरम्भ से ही बहुधर्मी समाज रहा है। धर्मनिरपेक्षतावादी इस स्थिति को अपने अन्दर पाता है।

मूल हिन्दुत्व मूलतः तत्त्वतः न तो लोकोन्मुख कहा जा सकता है और न परलोकोन्मुख। वह आत्मोन्मुख धर्म है, मानवात्मा की प्रच्छत्र पूर्णता का पोषक है। इस प्रकार उसे एक व्यापक अर्थ में मानववादी धर्म कहा जा सकता है, और धर्म निरपेक्षवादी मूलतः मानववादी ही होता है।

वस्तुतः धर्मनिरपेक्षतावादी को धर्म के उसी पहलू से विप्रतिपत्ति है, जो लोकव्यवहार को क्षति पहुँचाता है। अन्यथा धर्म से कोई विरोध नहीं। धर्मनिरपेक्षतावाद को धर्ममात्र का विरोधी अथवा नास्तिक समझना भूल है। वह कोई दर्शन-प्रस्थान नहीं है जो धर्म की तार्किक-दार्शनिक रीति से परीक्षा करे। वह धर्म की समीक्षा केवल लोक-व्यवहार की दृष्टि से करता है। वह दार्शनिक दृष्टि से आस्तिकता-नास्तिकता के प्रश्न के प्रति तटस्थ-भाव रखता है। वह आस्तिक भी हो सकता है और नास्तिक भी, किन्तु धर्मनिरपेक्ष होने के कारण नहीं, अपितु दार्शनिक होने के कारण।

धर्मनिरपेक्षता का भारतीय संस्करण भूल से धर्मनिरपेक्षता कहा जाता है, उसे **सम्प्रदाय-निरपेक्षता, सम्प्रदाय-तटस्थता, सम्प्रदाय-निष्पक्षता,** अथवा **हस्ताक्षेपमुक्तता** कहना चाहिए। इस सन्दर्भ में **सर्वधर्मसमभाव** शब्द भी **भ्रामक** है। यहाँ धर्मनिरपेक्ष होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि सभी धर्मों को समान अथवा समानरूप से श्रद्धेय माना जाय। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय के साथ पक्षपात अथवा अनुचित भेदभाव न बर्तना "धर्मनिरपेक्षता" के लिए पर्याप्त है। भारतीय (तथोक्त) धर्मनिरपेक्षता का धर्मों की व्यावहारिक समीक्षा-परीक्षा से भी कोई प्रयोजन नहीं। सभी धर्म

अथवा सम्प्रदाय शान्तिंपूर्वक रहें, इतना पर्याप्त है। यह दूसरी बात है कि व्यवहार में यहाँ इस नियम का भी यथेष्ट पालन न करके बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के कृत्रिम वैमनस्य को चुनावी राजनीति-सम्बन्धी क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए हवा दी जा रही है।

धर्मनिरपेक्षता का एक रूप, जैसा आरम्भ में ही इंगित किया जा चुका है, धर्मात्यवाद है। इसके अनुसार धर्म की काष्ठा अथवा चरम गति धर्मातिक्रान्ति, धर्म को अतिक्रान्त कर जाना, धर्म के परे अथवा आगे पहुँच जाना है। कृष्ण गीता में अर्जुन को धर्मातीत करना चाहते हैं--

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज"[1]

उपनिषद्[2] और महाभारत[3] में कहा गया है--

त्यज धर्ममधर्मं च, उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज।।

इसी स्वर में सूफी भी बोलता है कि वह लोक, परलोक, परमेश्वर को त्याग कर त्याग को भी त्याग देना चाहता है--

सर बरहनः नैस्तम् दारम् कुलाहे चार तर्क।
तर्के दुनिया, तर्के उक्ता, तर्के मौला, तर्के तर्के।।

वस्तुतः इसकी मूल भावना किसी न किसी रूप में बौद्ध और जैन धर्म में भी प्राप्त होती है। बुद्ध ने धर्म को जो नाव से उपमित किया है उसका सम्भवतः यही रहस्य है[4]। आचार्य भिक्षु का वचन है कि पुण्य की इच्छा पाप है--

"पुण्य तणी वांछ कियां, लाग पाप एकन्त"[5]

धर्मात्मा की स्थिति धर्म और अध्यात्म के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाने पर प्राप्त होती है किन्तु यह सामाजिक-व्यवहारिक परियोजना के परे होने से प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष चर्चा का विषय नहीं बन सकती।

●

---

१. गीता १८/६६
२. सन्यासोपनिषद् २/१२
३. महाभारत/ शान्ति-पर्व ३३१/४४
४. मज्झिम-निकाय/ मूल-पण्णसक (१) अलगद्दूपम-सुत्त (२२), पृ० १७६।
५. आचार्य भिक्षु/ नवसद्भाव ३/मुनिनथमल/ अहिंसा तत्त्व दर्शन (चुरुः आादर्श [illegible] संघरु १६६०)/ पृ० १६४/ में उदाहृत।

धर्म और लौकिकता : विरोध या समन्वय ?

डॉ० जे० फाइस

उपर्युक्त शब्दावली का प्रयोग और समस्या का सीमा-निर्देश।

जो प्रश्न आज हमारे सामने रखा जाता है वह बिल्कुल सामान्य रूप से इस तरह व्यक्त किया जा सकता है कि आधुनिक युग में धर्म का स्थान क्या है ? एक ऐसा प्रश्न उठाने से हमारे मन में छिपा हुआ यह संदेह भी प्रकट हो जाता है कि धर्म अतीत काल का अवशेष तो नहीं है ? क्या वह हमारे वर्तमान युग से असंगत नहीं है ? और क्या धर्म का कोई भविष्य भी हो सकता है ? अब इस प्रकार की आशंकायें (या अनेक उदाहरणों में दृढ़ विश्वास) हमारे आधुनिक युग की अपनी विशेषता कहना अत्युक्ति नहीं होगी। यह सच है कि कोई भी युग अतीत को अपने से भिन्न मानता है, लेकिन यह केवल कालिक दृष्टि से, परम्परा की दृष्टि से संबंध अटूट बना रहता है। किन्तु आधुनिक युग में अतीत से विच्छेद युगान्तर मात्र की बात न रहकर संपूर्ण दृष्टिकोण में एक निर्णायक परिवर्तन से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। अब इस नवीन दृष्टिकोण का लक्षण यह है कि आधुनिक विश्व-दर्शन मूलतः धर्म के प्रतिकूल जान पड़ता है।

आधुनिक दृष्टिकोण का धर्म से यह विरोध कुछ अस्पष्ट रूप से "सेक्युलरिज्म" शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। "लौकिकवाद" या "धर्मनिरपेक्षता" आदि जैसे हिन्दी पद किसी न किसी रूप से अंग्रेजी शब्द का अनुवाद करते हैं। उन विविध पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट रूप से निर्धारित करना इस परिसंवाद-गोष्ठी को दिग्दर्शन देने के लिये उपयोगी होगा। फिर, उपर्युक्त हिन्दी शब्दों का मूलपद, अर्थात् "सेक्युलरिज्म" एक विदेशी भाषा से उधार लिया हुआ है, यह स्वयं ही एक अर्थपूर्ण बात है। इससे तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि हमारे संदर्भ में "सेक्युलरिज्म" का तथ्य हमारी अपनी परम्परागत संस्कृति पर एक विदेशी संस्कृति (और वास्तव में पश्चिमी संस्कृति के आधुनिक रूप ही) के प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। उन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण भारत में लौकिकवाद संबंधी समस्या और जटिल बन जाती है।

हिन्दी शब्द-प्रयोग को स्पष्टतया निर्धारित करने के लिये यहाँ इन दो शब्दों का स्पष्ट प्रभेद करना बहुत उपयोगी होगा, अर्थात् एक ओर "लौकिकीकरण" और दूसरी ओर "लौकिकवाद"। अंग्रेजी में भी "सेक्युलराइजेशन" एवं "सेक्युलरिज्म" का प्रभेद प्रचलित और स्वीकृत है।[1] प्रथम शब्द, अर्थात् "लौकिकीकरण" का तात्पर्य है : आधुनिक युग की संस्कृति में एक प्रक्रिया या विकास जिसके परिणामस्वरूप सभी क्षेत्रों में धार्मिक दृष्टिकोण का स्थान लौकिक दृष्टिकोण द्वारा लिया जा रहा है। जहाँ तक इस प्रक्रिया के ऐतिहासिक स्वरूप की बात है, यहाँ उपस्थित विद्वान् उसका वर्णन और व्याख्या मेरी अपेक्षा भलीभाँति कर सकते हैं। दार्शनिक होकर मेरा स्वधर्म सिर्फ तथ्यों के सारतत्त्व पर चिंतन करना है। अब यह बहुत ध्यान देने योग्य है कि धार्मिक दृष्टिकोण के बदले जो लौकिक दृष्टिकोण विकसित होता है, उसे वि-धर्मी या धर्मविरुद्ध नहीं कहा जा सकता है, वरन् अधिक से अधिक अ-धर्मी या धर्मनिरपेक्ष ही, अर्थात् धर्म के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण। इस दृष्टि से **लौकिकता,** अर्थात् "लौकिक बना देने की प्रक्रिया" से निर्मित विश्वदर्शन **लौकिकवाद** से मूलतः भिन्न है जैसे आगे स्पष्ट किया जायेगा।

लौकिकीकरण की प्रस्तुत परिभाषा का एक दूसरा अंग यह हुआ कि उक्त विकास संस्कृति के सभी क्षेत्रों में पहचाना जा सकता है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक क्षेत्र में जहाँ धर्मतंत्र प्रचलित हुआ करता था, वहाँ धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श संस्थापित किया गया। इसी तरह समाज में भी धार्मिक आस्था पर आश्रित वर्णधर्म के बदले मानव-दर्शन से अनुप्राणित जाति, लिंग, वर्ण की प्रभेद-रहित समता स्वीकार की जाती है। दर्शन के क्षेत्र में लौकिक दृष्टिकोण का एक उदाहरण सृष्टिवाद के स्थान पर विकासवाद का आगमन है। लेकिन इस प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह है कि लौकिकता लोकजीवन तक सीमित नहीं है, वरन् व्यक्ति के निजी जीवन और मनोवृत्ति पर भी अपना गहरा प्रवाह डालती है। वायुमंडल की भाँति लौकिकता एक ऐसा वातावरण है जिसमें हम सब के सब दिनोंदिन सांस लेते हैं। इस तथ्य में यह भी निहित है कि लौकिकीकरण का सार पहचानने का उपयुक्त उपाय ऐतिहासिक वर्णन की अपेक्षा अंतर्दृष्टि द्वारा लौकिक मनोवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण है। लौकिकता यदि एक दृष्टिकोण है, तो उसका निवास स्थान हमारा अपना मन ही है।

लौकिकीकरण की प्रस्तुत परिभाषा के साथ यहाँ दो टिप्पणियाँ जोड़ना उचित होगा। पहली यह कि संस्कृति के सभी क्षेत्रों में विस्तृत होने पर भी लौकिकीकरण का

---

9. New Catholic encvclopedia, Mc Graw-Hill, New York, 1967. Volume 13; articles : "Secularism" and "Seculerization".

आन्दोलन स्वयं ही एक और विस्तृत प्रक्रिया का पहलू मात्र है। यह तो विकास का सामान्य सिद्धान्त है कि जो तत्त्व विकसित हो जाता है, उसके अंगों और इन्हीं के कार्यों का विशिष्ट हो जाना अनिवार्य है। राजनीतिक संघटन में विकास से संबंधित इस विशिष्टीकरण का सर्वज्ञात उदाहरण तीन अधिकारों अर्थात् विधान कार्यकारी एवं न्यायिक अधिकार-का विभाजन है। जीव के विकास के अंगों-जैसे चलने के लिये पैर या ग्रहण करने के लिये हाथ-का विशिष्टीकरण भी उसी नियम का एक उदाहरण है। अब यदि कार्यों, शक्तियों, अंगों आदि का विशिष्टीकरण संपूर्ण विकास और प्रगति की अनिवार्य शर्त कहा जा सकता है, तो धार्मिक और लौकिक क्षेत्रों का पृथक्करण प्रगतिशील परिवर्तन का लक्षण भी माना जा सकता है। एक शब्द में, हमें लौकिकीकरण का औचित्य स्वीकार करना होगा।

दूसरी टिप्पणी संक्षेप में इस तरह है। लौकिकीकरण के फलस्वरूप सांसारिक क्षेत्र पर धर्म का प्रभाव जितना घटता है, उसी मात्रा में धर्म पर लौकिक शासन का अधिकार भी कम हो जाता है-या हो जाना चाहिये। तथाकथित "पवित्र रोमन साम्राज्य" का उदाहरण लीजिये। मध्यकालीन युग में जब राजनीतिक क्षेत्र में लौकिकता का पूरा अभाव था- जर्मन सम्राट् जैसे अपने को परम धार्मिक अधिकारी मानते थे, वैसे ही पोप साहब अपने को ईसाइयत का न केवल परम धर्माधिकारी, बल्कि राजनीतिक परमाध्यक्ष भी कहते थे। धर्म की दृष्टि से परवर्ती लौकिकीकरण की प्रगति का सब से कम श्रेष्ठ परिणाम यह नहीं हुआ कि पश्चिमी देशों में ईसाई कलीसियाओं (चर्च) को लौकिक बातों से पृथक् उनके अपने धार्मिक क्षेत्र में स्वाधीनता प्राप्त हो गयी। सभी धार्मिक समुदायों की वही स्वतन्त्रता भारत जैसे धर्म निरपेक्षता का आदर्श माननेवाले देशों में उसी विकास का समीचीन वरदान है। दूसरी ओर जिस शासन-प्रणाली में धर्म का संपूर्ण लोकजीवन से पूर्णतया बहिष्कार किया जाता है, उसमें लौकिकता का सही आदर्श पाया जाता है, इसमें संदेह हो सकता है। कारण, इस प्रश्न को ठीक ही उठाया जा सकता है कि क्या धार्मिक और लौकिक क्षेत्रों का संपूर्ण पृथक्करण धर्म और इहलोक के स्वभाव के अनुकूल है ? यदि इहलोक की भाँति परलोक की भी परवाह करना मानव का अपना व्यवसाय है, तो दोनों क्षेत्रों को एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रखना स्वयं मनुष्य को विभाजित करने के बराबर है।

ऊपर "सेक्युलराइजेशन" एवं "सेक्युलरिज्म" का स्पष्ट प्रभेद किया गया है। एक को यदि "लौकिकीकरण" कहा जाय, तो हम दूसरे को "लौकिकवाद" कहें या पूर्वोक्त

जैसे प्रगति का स्वाभाविक एवं अनिवार्य लक्षण है, वैसे ही उपरोक्त विकास का उपतत्त्व और अतिक्रमण से जनित असंतुलित दृष्टिकोण जान पड़ता है। इसके आधार पर धर्म को सामाजिक जीवन से निकालने का और उसे व्यक्तिगत व्यवहार तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार की असंगति इसी से प्रत्यक्ष हो जाती है कि समाज का जीवित अंग होने के कारण व्यक्ति का धार्मिक दृष्टिकोण न केवल उसका निजी व्यवहार, वरन् अनिवार्य रूप से उसका आम जीवन भी प्रभावित करेगा। इस सामाजिक अर्थ के अतिरिक्त लौकिकवाद का एक दूसरा अर्थ ज्ञानशास्त्र से संबंध रखता हैं। जहाँ तक अपने-अपने विषय के अनुसार विज्ञान की विविध शाखायें धर्मसिद्धांतों को त्यागकर प्रत्यक्ष प्रणाली अपनाती है, यह ऊपर कथित विशिष्टीकरण का अनुसंधान के क्षेत्र में एक उपयुक्त उदाहरण है। अनुचित लौकिकवाद तभी शुरू होता है जब विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रणाली को संपूर्ण यथार्थता का एकमात्र मानदण्ड घोषित किया जाता है, मानों परोक्ष तत्त्वों के परे अन्य कोई, अपरोक्ष यथार्थता नहीं होती।

प्रस्तुत निबंध इस अर्थ में परिभाषित "लौकिकवाद" की और कोई चर्चा नहीं करेगा। कारण, लौकिकवाद लौकिकता से अनिवार्य संबंध नहीं रखता है। इसका निहितार्थ यह है कि लौकिकवाद भले ही धर्म का पूरा निषेध करे, लेकिन लौकिकवाद से स्वाधीन, सही लौकिक दर्शन अनिवार्य रूप से धर्म का विरोध नहीं करता है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि लौकिक और धार्मिक, दोनों दृष्टिकोणों को एक ही दर्शन में समन्वित करने का प्रयास असंभव नहीं प्रतीत होता है। एक-दूसरे का अपवर्जक होने के बदले दोनों परस्पर संपूरक हैं।

लौकिक और धार्मिक मनोभाव का परस्पर-विरोध एवं परस्पर-संबंध

मुख्य धाराणाओं के प्रारंभिक स्पष्टीकरण के बाद अब धर्म और लौकिकता की विषमता पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। यह सच है कि दोनों का समन्वय स्थापित करने की भूमिका में दोनों की विभिन्नता दिखाना अन्तर्विरोधी-सा जान पड़ता है। किन्तु यथार्थ समन्वय का तात्पर्य समन्वित तत्त्वों का तादात्म्य नहीं हो सकता है। अब धार्मिक आस्था और लौकिक मनोवृत्ति की असंगति प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। संपूर्ण आधुनिक युग इस तथ्य का साक्ष्य देता है कि एक की प्रगति दूसरे की अवनति को पैदा करती है। तथ्य का ऐतिहासिक वर्णन करने की अपेक्षा इसका मूलभूत कारण ढूँढ़ निकालना कहीं अधिक उपयोगी होगा। अब हम यह मानते हैं कि

धर्म स्वरूप में ही उसका लौकिक मनोभाव से विरोध निहित है। आइये, हम समस्या के इस पक्ष विशेष का विश्लेषण करें।

एक तो, यह सभी धर्मों का अंगभूत पहलू जान पड़ता है कि वे मानव की दुर्बलता पर बल देते हैं, इसके विपरीत मानव की आत्मनिर्भरता पर दृढ़ विश्वास करना लौकिक दृष्टिकोण का सार ही प्रतीत होता है। नीति का उदाहरण लीजिये। नैतिक पतन, पाप की धारणा, पाप-क्षमा की आवश्यकता आदि, इस प्रकार के भाव ईसाई धर्म में बहुत महत्त्व रखते हैं। संत पौलुस इस तरह लिखते हैं, मैं प्राकृतिक और पाप का दास हूँ। मैं अपना ही आचरण नहीं समझता हूँ, क्योंकि मैं जो करना चाहता हूँ, वह नहीं, बल्कि वही करता हूँ, जिससे मैं घृणा करता हूँ।[1] अब नैतिक व्यवहार की इसी असंगति को संत तुलसीदास भी अपने आप में पहचानते हैं। "विनय-पत्रिका" में वह यों लिखते हैं :-

बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयों न मानत, मूढ़ता असि मोरि।।[2]

उदाहरणों की संख्या बढ़ाने की कोई आवयश्यकता नहीं है, अपने पापमय स्वभाव की अनुभूति करना प्रायः सभी धार्मिक परंपराओं का लक्षण कहा जा सकता है। अब मनोविज्ञान से अनुप्राणित आधुनिक नैतिक भाव उपर्युक्त धार्मिक अपराध-भावना से मूलतः भिन्न जान पड़ता है। दोष-भावना को एक मनोग्रंथि (काम्प्लेक्स) मात्र कहा जाता है जिससे हमें, किसी मुक्तिदाता के अनुग्रह से नहीं, वरन् अपने को ही मुक्त करना चाहिये, यदि हम मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहते हैं। तो धर्मावलम्बी व्यक्ति की नैतिक असहायता के बदले, लौकिक दृष्टिकोण से हमें अपनी नैतिक आत्मनिर्भरता पर विश्वास दिलाता है।

नैतिक क्षेत्र का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। इसी बात को संसार में ग्रस्त मानव की अन्य दुर्बलताओं के विषय में भी दोहराया जा सकता है, जैसे बीमारी, गरीबी, मृत्यु जिन्हें पाप का फल कहा जाता है। हाँ, यहाँ तक कि जन्म को भी जीवन का दान नहीं, दुर्भाग्य ही माना जाता है। धर्मचक्र-प्रवर्तन नामक उपदेश में कहा गया है : "अब, दुःख संबंधी आर्य सत्य यह है : जन्म लेना दुःख है,

---

१. रोमियों के नाम पत्र. ७, १४,-१५.
२. विनय पत्रिका, १५८.२.

जरा-मरण भी दुःख है, आदि"।[1] विलियम जेम्स ने धर्म और निराशावाद का घनिष्ठ संबंध इस तरह प्रस्तुत किया है : सब से संपूर्ण धर्म के ही प्रतीत होते हैं जिनमें निराशावादी पहलू अधिक विकसित है।[2] इसके विपरीत वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप प्रायः सभी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर आधुनिक मानव बहुत अधिक आत्मविश्वासी बन गया तो उपर्युक्त विवेचन से यह प्रश्न उठता है कि क्या निस्सहाय, फिर आत्मनिर्भर मनुष्य पर विविध दृष्टिकोण अंततोगत्वा विरोध की बात है, या दोनों का समन्वय किया जा सकता है ? दूसरे शब्दों में वसा विज्ञान पर आश्रित मानव दर्शन धार्मिक अंधविश्वास को मिथ्या सिद्ध करता है, या दोनों एक ही मानव स्थिति में भिन्न-भिन्न पहलुओं को प्रकट करते हैं ?

धार्मिक मानव की ओर से आत्मावमूल्यन का एक अन्य उदाहरण ईश्वरवाद से विशेष संबंध रखता है। सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, शाश्वत ईश्वर की तुलना में मनुष्य कमजोर, अज्ञानी, क्षणभंगुर ही दिखाई देता है।

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन, मोसों कोन खोटो।।[3]

इतना ही नहीं, शून्य से सृष्टि का सिद्धान्त प्रस्तुत करने से ईश्वरवाद मानव की शून्यता ही घोषित करता प्रतीत होता है। "सृष्टि-भावना" (क्रियेचर फीलिंग) को धार्मिक चेतना का मर्म समझकर रूदोल्फ ओत्तो उसे इस तरह वर्णित करते हैं : "परम तत्त्व के विपरीत, जो सभी सृष्ट तत्त्वों के परे है, अपनी शून्यता में लीन और उससे अभिभूत हुये सृष्ट तत्त्व की भावना।"[4] अब विज्ञान और शिल्प विज्ञान के विकास के फलस्वरूप आधुनिक मानव अपने को किसी स्रष्टा द्वारा निर्मित तत्त्व न समझकर, अपने को अपना निर्माता ही मान सकता है, और अंतरिक्ष-यात्री बनकर वह संपूर्ण विश्व पर अपना शासन रखने का स्वप्न करता है। यदि एक विश्वकर्मा हो, तो वह मनुष्य ही है, न कि ईश्वर।

विज्ञान के विकास के पहले ही दर्शन ने ईश्वर के सूर्यास्त के साथ मानव के सूर्योदय की भविष्यवाणी की थी। "ईश्वर" की कल्पना को मानव आत्मचेतना का प्रतिबिम्ब कहकर फायरवख ईश-धर्म के बदले मानव-धर्म का आगमन घोषित किया।

---

१. Quoted: A.K. Comaraswmy, Buddha and the Gospel of Buddism Harper & Row, New York, 1964, pp. 39&40.
२. The VArieties of Religious Experience, Doubleday, New York, 1978. P. 172
३. विनय पत्रिका, ७२.२
४. The Idea of the Holy, O.U.P. London, 1969; p.10.

नास्तिक पश्चिम तक सीमित न रहकर मानव-धर्म का स्वागत भारतवर्ष में भी किया गया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तो अपनी "द रिलीजन आफ मेन" नामक व्याख्यानमाला में लिखते हैं : हमारे ईश्वर की मानवता की धारणा, या शाश्वत मानव का देवत्त्व, इस पुस्तक का मुख्य विषय है।[1] अतः धर्म बनाम लौकिकता की समस्या पर जब हम चिंतन करते हैं तो इस प्रश्न का विवेचन करना बहुत आवश्यक होगा, अर्थात् : यदि धर्म को बचना चाहिये, तो क्या केवल मानवतावादी धर्म लौकिकता के आदर्श से संगत हो सकता है, न कि ईश्वरवादी धर्म ? कारण, यह बहुत अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि जहाँ ईश्वर हैं, वहाँ मनुष्य के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता है। "अत्ता हि अत्तनों नाथो, को हि नाथो परो सिया ?"[2] तो संघर्ष है ईश्वर और मनुष्य का, न कि धर्म और लौकिकता का ?

आदि पाप या सृष्टिवाद जैसे विशिष्ट धर्म सिद्धान्तों को छोड़कर यदि हम स्वयं धर्म के स्परूप का विश्लेषण करें तो उसकी लौकिक क्षेत्र से पृथकता और स्पष्ट दिखाई देगी। ऊपर चर्चित औत्तो महोदय के अनुसार धर्म का अपना क्षेत्र "पवित्रता" (द, सेक्रेड) की धारणा द्वारा लक्षित किया जा सकता है। लेखक के शब्दों में : "ऐसा कोई धर्म नहीं है जिससे "पवित्रता" उसके यथार्थ एवं अंतरतम मन के रूप में विद्यमान नहीं है, और "पवित्रता" के अभाव में कोई भी धर्म कहलाने योग्य नहीं होता।"[3] अब मिर्सेआ एलियाद जैसे धर्म के विश्वविख्यात विद्वान् "पवित्रता" को "लौकिकता की व्याघाती धारणा मानते हैं।" "पवित्रता की जो सर्वप्रथम परिभाषा संभव है वह यह कि पवित्रता लौकिकता का उलटा है।"[4] दोनों प्रत्ययों का पारस्परिक विरोध एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। काशी-क्षेत्र को एक पुण्यभूमि माना जाता है। किन्तु जब कि इस क्षेत्र की सीमाओं के अंदर में जिसका निधन होता है उसके लिये मोक्ष-प्राप्ति निश्चित है, इसके विपरीत पुनीत काशी-क्षेत्र के बाहर, (जैसे गंगाजी के पूर्वी तट पर) मर जाना दुर्भाग्य ही माना जाता है। या, किसी पवित्र स्थान की पास-पड़ोस से पृथकता, जिसे प्रायः भौतिक रूप में व्यक्त किया जाता है जैसे मंदिर के आवरण द्वारा, लौकिकता और पवित्रता का वही विरोध सूचित करती है।

---

१. The Religion of Man, George Allen & Unwin, London, 1949; p. 17.
२. धम्मपद, १६०.
३. Otto, op, cit; p. 6.
४. Mircea Eliade, The Sacred and the Profane, Harcourt, Brace & World, New York, 1959; p. 10.

किन्तु यह अत्यन्त ध्यान देने योग्य बात है कि इस तरह पृथक्-पृथक् होते हुये भी भौतिकता, फिर पवित्रता एक ही तत्त्व के पहलू हो सकते हैं। पुनीत भूमि होने के साथ-साथ काशी पाण्डित्य की संस्थाओं और साड़ी के कारखानों से भरपूर महानगर भी है। तो उपर्युक्त विश्लेषण से यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि अपने स्वभाव के बल पर एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न होने पर भी लौकिक और धार्मिक लक्षण एक ही तत्त्वों समन्वित भी हो सकते हैं। अलग-अलग होने के साथ-साथ दोनों एक-दूसरे से अविच्छिन्न भी प्रतीत होते हैं। तो फिर, क्या लोकजीवन में धर्म का आभास तक छोड़कर शुद्ध धर्मनिरपेक्षता को संस्थापित करना संभव है ?

प्रश्न उठता है कि धर्म और लौकिक दृष्टिकोण का यथार्थ संबंध क्या है ? बात को एक उदाहरण विशेष के प्रसंग में समझाया जा सकता है। वैदिक युग के ऋषि वायु, अग्नि, सूर्य आदि जैसी प्राकृतिक शक्तियों में एक परम तत्त्व के दर्शन किया करते थे-"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। इसके विपरीत आधुनिक युग के विद्वान् इन्हीं वस्तुओं में खगोलीय पिण्ड या वायुमंडलीय तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते हैं। लौकिक दृष्टिकोण प्रत्यक्ष विश्व तक सीमित है, धर्म की सूक्ष्म दृष्टि विश्व के परे कुछ और पहचानती है। हाँ, कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि विज्ञान ने तो धर्म, सभी देवकथाओं का खण्डन किया है ? वैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रधनुष किसी देव का शास्त्र नहीं, वरन् प्रकाश का वर्णक्रम में विवर्तन मात्र है। प्रश्न है कि क्या विज्ञान ने प्राकृतिक तथ्य की सही व्याख्या देने से इस अन्य सत्य को मिथ्या सिद्ध किया है कि प्रकृति का वैभव पारलौकिक परम तत्त्व का आभास भी प्रकट कर सकता है ? वैज्ञानिक या लौकिक मात्र दृष्टिकोण इसलिये धार्मिक दृष्टिकोण को खंडित नहीं कर सकता है क्योंकि धर्म मानव के अंतरतम में निहित एक ऐसी बोध-शक्ति पर आधारित है जो प्रत्यक्ष-ज्ञान पर निर्भर नहीं है। बदले में हमें यह भी स्वीकारना होगा कि धार्मिक दृष्टिकोण लौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने में असमर्थ हैं : इन्द्रधनुष का मिथक वायुमंडलीय तथ्य की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं दे सकता है और ओझा का तंत्र-मंत्र अंधविश्वासियों का मन छोड़कर तत्त्वों को प्रभावित करने का व्यर्थ प्रयास है।

हाँ, उपर्युक्त विवेचन बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। लेकिन हम मानते हैं कि इस तरह के तर्क पर इस द्विविध सिद्धान्त को सिद्ध करना संभव है, अर्थात् प्रथम, एक दूसरे का खण्डन करने में असमर्थ होने के कारण धार्मिक और लौकिक दृष्टिकोण परस्पर स्वाधीन हैं। दूसरे, पारलौकिक दृष्टिकोण के अभाव में प्रत्यक्ष मात्र यथार्थता पर अपूर्ण दृष्टिकोण है कारण, प्रत्यक्ष ज्ञान की भाँति धर्म की सूक्ष्म दृष्टि

भी मानव की एक स्वयंप्रकाश ज्ञान-शक्ति है। ज्ञानशास्त्र के इस दुगुने सिद्धांत से तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में यह निष्कर्ष निकलता है कि लौकिक पहलू के अतिरिक्त यथार्थता का एक पारलौकिक आयाम भी है।

ईश्वरवादी धर्म लौकिक मानवतावाद का मूलाधार

ऊपर यह कहा गया है कि एक दृष्टि से धर्म, विशेषकर ईश्वरवादी धर्म, मानवतावाद का विरोध करता है। लेकिन वास्तविक स्थिति का वर्णन अधूरा ही रहा। सच पूछा जाय, एक अन्य दृष्टि से धर्म लौकिकवाद को नहीं, बल्कि मानवतावाद को प्रोत्साहन दे सकता है, हाँ ईश्वरवाद सही मानवतावाद का यथार्थ आधार कहा जा सकता है। उक्त सिद्धांत को कुछ विरोधाभासी रूप से इस तरह भी व्यक्त किया जा सकता है : ईश्वरवादी धर्म मानव-केन्द्रित धर्म है। आइए, इस सिद्धांत की पुष्टि में हम एक दो युक्तियाँ प्रस्तुत करें।

भजन-संहिता में यहूदी उपासक अपना आश्चर्य प्रकट करता है : विराट् ब्रह्माण्ड की तुलना में मानव नगण्य होने पर भी सृष्टिकर्ता परमेश्वर मनुष्य का विशेष ध्यान रखते हैं और उसी को संपूर्ण विश्व पर आधिपत्य सुपुर्द करते हैं। भजनकार यों कहते हैं :

"जब मैं तेरे बनाये हुये आकाश को देखता हूँ, तेरे द्वारा स्थापित तारों और चन्द्रमा को, तो सोचता हूँ कि मनुष्य क्या है, जो तू उसकी सुधि ले ?"[1]

तो स्पष्ट है कि यहूदी भक्त सृष्टिकर्ता का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी विश्व को मानव-केन्द्रित ही मानते हैं। संपूर्ण सृष्टि कितना विशाल क्यों न हो उसे मनुष्य के अधीन किया गया है। भजन के शब्दों में :

"तूने मनुष्य को अपनी सृष्टि पर अधिकार दिया और सब कुछ उसके पैरों तले डाल दिया।"

अब कोई ठीक ही यह आपत्ति उठायेगा कि विश्व भले ही मनुष्य के अधीन हो, किन्तु मनुष्य स्वयं ही परमेश्वर के पराधीन है। प्रश्न है कि क्या अपने परे ईश्वर को मानने से मनुष्य का महत्त्व घटता है ? क्या वैज्ञानिक प्रकृति का रहस्य सुलझाकर और इस तरह विश्व पर अपना शासन स्थापित कर उस अद्भुत कार्य में शिल्पकार का वैभव नहीं पहचानेगा ? इतना ही नहीं ? सृष्टिवाद में यह भी निहित

---

१. Psalm 8, verses 4-5 and 7.

है कि संपूर्ण विश्व को मनुष्य के हित के लिये ही सृष्ट किया गया है, अतः विश्व का शीर्ष होने की अपेक्षा मानव की अपूर्व महत्ता इसमें है कि वह सृष्टिकर्ता का प्रेम-पात्र है।

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु में परमं वचः।
इष्टोऽसि में दृढ मिति, ततो वक्ष्यामि ते हितम्"।

जिस सिद्धान्त की हम पुष्टि करना चाहते हैं वह यह कि ईश्वरवाद मानव केन्द्रित है। अब ईश्वरवाद दो प्रकार का हो सकता है। एक के अनुसार ईश्वर को मानव का प्रतिरूप माना जाता है। फायरवाख ने धर्मों का विकास इस तरह समझाया कि संस्कृति की प्रगति के साथ-साथ मानव द्वारा रचित उसके देवताओं की परिकल्पनायें भी क्रमशः उच्चतर श्रेणी की हो जाती हैं। जब तक मानव प्राकृतिक वातावरण में विलीन रहता है, तब तक उसके देव प्राकृतिक शक्ति-स्वरूप या पशु-स्वरूप प्रतीत होते हैं। ज्यों ही मनुष्य को अपनी श्रेष्ठता का बोध प्राप्त होता है तभी वह अपने ईश्वर की कल्पना आदर्श मनुष्य के रूप में भी करता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का "ईश्वरवाद" मानवतारोप मात्र का उदाहरण है।

किन्तु ईश्वर को मानव रूप में कल्पित करने के विपरीत ईश्वरवाद का दूसरा प्रकार मनुष्य को ही ईश्वर के अनुरूप सृष्ट किया हुआ समझता है। "उत्पत्तिग्रंथ" में लिखा है : "ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया, उसने ईश्वर का प्रतिरूप बनाया।"[2] तो सही ईश्वरवाद में मानवतारोप के बदले "दैवत्वारोप" की चर्चा करना कहीं अधिक उचित होगा। सच्चे नाम का ईश्वरवाद यहां तक मनुष्य की महत्ता स्वीकार करता है कि वह मनुष्य को ईश्वर के तुल्य कहने का साहस भी करता है। वहीं ईश्वरवादी मानवदर्शन श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रतिध्वनित है जहाँ श्री भगवान् कहते हैं कि ज्ञान, अर्थात् मनुष्य, मेरी अपनी आत्मा है :

"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"।[3]

उपर्युक्त बातें इस सिद्धांत को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं, अर्थात् ईश्वरवाद मानवतावाद के लिये मूलाधार प्रस्तुत करता है। मानवतावाद मानव व्यक्ति की श्रेष्ठता घोषित करता है इसी नींव पर आदर्श समाज को स्थापित करना चाहता है। अब मनुष्य को परम तत्व का प्रतिबिंब मानने से ईश्वरवाद मानव के परम मूल्य की

---

१. भगवद्गीता, १८.६४
२. Genesis, 1.27
३. भगवत् गीता, ७.१८.

पुष्टि करता है। इसके विपरीत लौकिक मात्र मानवतावाद, जो परम तत्त्व का निषेध करता है, मानव मर्यादा को किसी आधार पर संस्थापित करेगा ? फिर, मानव श्रेष्ठता में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता भी निहित है। नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में मनुष्य एक दूसरे मनुष्य, हाँ यहाँ तक कि समाज के भी, अधीन नहीं हो सकता है। अब, यदि मानव मर्यादा स्वयं मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य, मानवातीत तत्त्व पर आधारित नहीं होती, तो व्यक्तिगत नैतिक स्वतंत्रता का मण्डन करना विशेष करके समाज के सामने-बहुत कठिन हो जायेगा। संक्षेप में, हम ईश्वरवादी धर्म को इसलिये मानवतावाद की अनिवार्य शर्त मानते हैं क्योंकि इसके अभाव में मानव अधिकार अंततोगत्वा निराधार जान पड़ते हैं।

लेकिन धर्मदर्शन का दृष्टिकोण छोड़कर हम अब समस्या का आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राज्य दृष्टि से विवेचन करने की चेष्टा करेंगे। क्या लौकिक राष्ट्र वास्तव में धर्म के अभाव में मानव मर्यादा और मानव अधिकारों की सुरक्षा नहीं कर सकता है, जैसे हमने अभी-अभी कहा है ? हम यहाँ ऐसी नास्तिक शासनप्रणाली का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करेंगे जहाँ बहुत प्रकट रूप से मानव अधिकारों को पैरों तले रौदा जाता है- जैसे नाजी शासन में। इसके प्रत्युत्तर में ऐसे आस्तिक राष्ट्रों का उदाहरण देना, जहा समान रूप से मानव मर्यादा का तिरस्कार किया जाता है, कठिन नहीं होगा। उदाहरण के रूप में हम भारत का संविधान इसलिये प्रस्तुत करना चाहेंगे क्योंकि स्वतंत्र भारत को धर्मनिरपेक्ष देश का ज्वलंत आदर्श माना जा सकता है। जिस बात को हम संक्षेप में दिखाना चाहते हैं वह यह कि राजनीतिक स्तर पर धर्म को न मानने पर भी देश के लौकिक मूल्य अंततः धार्मिक दृष्टिकोण पर आश्रित हैं।

एक तो धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य धर्म का विरोध या नास्तिकता की स्वीकृति नहीं है- इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस देश के नागरिक राष्ट्रगान में जगद्-विधाता की दुहाई देते हैं, उसे कैसे नास्तिक देश कहा जा सकता है ? धर्मनिरपेक्षता का सही अर्थ यही कि राजनीतिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र को एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् किया जाता है। अब, यह ऊपर प्रस्तुत हमारे सिद्धांत के पूर्णतया अनुकूल है, अर्थात् अपने स्वभाव के बल पर धर्म लौकिकता से अलग बात है, दोनों परस्पर स्वाधीन क्षेत्र हैं। किन्तु हमने यह भी कहा था कि दोनों परस्पर संबद्ध भी हैं, धार्मिक और लौकिक दृष्टिकोणों के इसी संबंध को हम अब तीन उदाहरणों में दिखाना चाहेंगे।

भारत का संविधान धारा 17, अस्पृश्यता को समाप्त करता है। जिस प्रथा से विवश होकर सदियों तक मनुष्य अपने सह-मनुष्य को उसकी मानव मर्यादा से वंचित किया करता था उसे अब कानून के विरुद्ध अपराध घोषित किया गया है। अब यह सच है कि अस्पृश्यता धर्म का, या विकृत किये हुये धर्म का अपना फल है। अतः अस्पृश्यता की समाप्ति लौकिक, मानवतावादी दृष्टिकोण की धार्मिक रूढ़िवाद पर विजय कहना होगा। धर्म भी लौकिकता से बहुत लाभ उठा सकता है : यह दोनों की संपूरकता का एक पहलू है। दूसरी ओर धर्म का अपना योगदान इसमें होगा कि हम समता मात्र के परे बढ़ सके। लौकिक आदर्श के बल पर देश के नागरिक भले सबों की समान मर्यादा स्वीकार करें, इसके अतिरिक्त एक-दूसरे के साथ भाइचारे का व्यवहार करना यह शायद केवल धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाने से ही संभव होगा। कारण, केवल धार्मिक मानव सब मनुष्यों को एक ही पिता-परमेश्वर की संतान, अतः अपने भाई-बहिन, मान सकता है। अब, अस्पृश्यता के निषेध में उसी भ्रातृ-प्रेम का आदेश निहित है।

धारा 25 में संविधानं अंतःकरण की स्वतंत्रता एवं धर्म-संबंधी स्वतंत्रता भी स्वीकार करता है। इससे यह तुरंत स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अपनाया हुआं दृष्टिकोण मात्र लौकिकवादी नहीं है। संविधान के रचयिताओं ने धार्मिक जीवन का वातावरण इसलिये सुरक्षित करने की चेष्टा की है क्योंकि वे धार्मिक मूल्यों को देश-निर्माण के लिये उपयोगी मानते थे। हाँ, इस प्रसंग में धर्मनिरपेक्षता की एक ऐसी गलत व्याख्या देने की संभावना है मानो वह उदासीनता मात्र होती: इस दृष्टि से सभी धार्मिक आस्थाओं को इसलिये बराबर माना जाता है क्योंकि उन सबों को लौकिक दृष्टि से बेकार या निरर्थक माना जाता है। "जाने दो" की उस "सहिष्णुता" के विपरीत धर्मनिरपेक्षता के सही आदर्श में यह विचार निहित है कि सच्चे धार्मिक मूल्य, जैसे शांति, क्षमाशीलता, न्याय या संतुलन, वे किसी भी धार्मिक परम्परा में पाये जायें- सब के सब मानव की उन्नति के लिये सहायक और लाभदायक हो सकते हैं। इस तरह धार्मिक मूल्यों को आदरपूर्वक मानने से धर्मनिरपेक्ष संविधान लौकिक मात्र मानदण्ड के परे मूल्यों की एक परम कसौटी स्वीकार करता प्रतीत होता है।

धारा 46 में देश "कमजोर वर्गों" का शैक्षिक और आर्थिक क्षेत्रों में हित बढ़ाना अपना कर्तव्य मानता है। ऊपर से देखने पर इस प्रकार का पूर्वाधिकार उपर्युक्त समता का उल्लंघन करता प्रतीत होता है। वास्तव में एक ऐसा निर्णय शुद्ध मानवतावाद से निष्कर्ष स्वरूप नहीं निकलता है : मात्र लौकिक दृष्टि से जो

अनुत्पादक और व्यर्थ है, उसे छोड़ना होगा, न कि उसका विशेष रूप से पोषण करना। अब, इसके विपरीत संविधान की धारा में अधिक विकसित वर्गों की ओर से आत्मत्याग की माँग सन्निहित है। इसके अतिरिक्त धारा में धार्मिक भाव की आवश्यकता भी स्वीकार की जाती है : यह तो सर्वज्ञात बात है कि प्रेम के अभाव में लोक-कल्याण के केन्द्र निष्प्रभाव और निष्प्राण संस्थायें होती हैं। अब दीन-हीन लोगों से प्रेम रखने के लिये एक अति-मानव प्रेरणा की आवश्यकता है। यह जानकर गाँधीजी ने शोषित दलों का नाम "हरि-जन" अर्थात् ईश्वर की संतान रखा है। और ईसा मसीह ने तुच्छों की सेवा को अपनी सेवा के बराबर कहा है : "तुमने मेरे इन भाइयों में से किसी एक के लिये, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, जो कुछ किया, वह तुमने मेरे लिये ही किया।"[1]

इस तरह धर्म का अभावात्मक पहलू, जिसे ऊपर धर्म का अनिवार्य अंग कहा गया है, अंत में फिर प्रकट हो जाता है। क्या हम धर्म के अभावात्मक अंश को छोड़कर केवल उसका भावात्मक पक्ष स्वीकार करेंगे ? लेकिन क्या भगवान् बुद्ध ने यह नहीं दिखाया कि दुःख मानव जीवन का अंगभूत अंश है ? और क्या दीनता के अभाव में मानव अभिमान से मोहित होकर पतन की ओर नहीं बढ़ेगा ? तो मानव की सही प्रगति को प्रोत्साहन देने और उसे मजबूत नींव पर आधारित करने के लिये हमें धर्म के भावात्मक और अभावात्मक, दोनों पहलुओं को अपनाना होगा। वही है धर्म और लौकिकता के समन्वय का "मध्यमार्ग"।

डॉ० जे० फाइस

संत अल्बर्ट कालेत, राची।

---

१. संत मत्ती के अनुसार सुसमाचार, २५. ४०.

धर्म-निरपेक्षता : बौद्धधर्म के सन्दर्भ में

डॉ० अजित शुकदेव
दर्शन विभाग, विश्वभारता,
शान्तिनिकेतन।

प्रस्तुत निबन्ध के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'निरपेक्षता' शब्द की व्याख्या की गयी है और तत्पश्चात् बौद्धधर्म की प्रारम्भिक स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। क्योंकि धर्मनिरपेक्षता की ही भाँति बौद्धधर्म भी धर्म की विसंगतियों के बीच ही विकसित हुआ है और उसकी ही भाँति मानव मूल्य की स्थापना करता है। अन्त में, बौद्धधर्म की सर्वांगीण विशिष्टताओं को पल्लवित किया गया है जो धर्मनिरपेक्षता का आधार माना जा सकता है।

"धर्मनिरपेक्षता" शब्द वस्तुतः पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की उपज है, जो ईसाई धर्म के विरोध में, एक आन्दोलन के रूप में प्रचलित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल के ब्रिटेन का इतिहास साक्षी है कि उस समय वहाँ किस प्रकार धर्म की विसंगतियों का बोलवाला था। ईसाई धर्म और चर्च ने मानव समुदायों को अपने आक्टीपशीय बंधन में जकड़ लिया था। जहाँ मनुष्य की स्वतंन्त्रता छिन गयी थी और मनुष्य मात्र धर्म के बाहरी आडम्बरों एवं मिथ्या रीति-नीतियों में घुटन महसूस कर रहा था। राज्याश्रित होने के कारण धर्म मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का सहायक न होकर उत्पीड़न, भय एवं संहार का कारण बन गया था। वहाँ के वैज्ञानिकों तथा अन्य स्वतंत्र विचारों के चिन्तन पर चर्च का अवरोध उत्पन्न हो गया था और उनके स्वतन्त्र चिन्तनों के कारण कईयों को अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा था। ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय के अनुयायियों ने राजशक्ति के बल पर एक-दूसरे को विनाश के कगार पर फेंकने में भी कोई-कसर न उठा रखी। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक था कि धर्म के प्रति आमलोगों की भी आस्था स्खलित हो और धर्म का विरोध भी हो। फलस्वरूप परम्परागत धार्मिक विश्वास की जड़ें हिलने लगीं और चर्च के प्रभाव से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न होने लगे। विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि क्षेत्रों में स्वतन्त्र विचारकों की प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके माध्यम से वहाँ के विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य आदि क्षेत्रों में नई प्रतिमा निर्बाध

रूप से प्रतिष्ठापित होने लगी। अनुभव किया जाने लगा कि मनुष्य मात्र की सत्ता ही महत्त्वपूर्ण है और उसके जीवन का सर्वांगीण विकास ही श्रेयस्कर है। ऐसी स्थिति में ऐसे मूल्यों की स्थापना होने लगी जो व्यक्ति और समाज के जीवन को दिशा प्रदान कर सकें और उन्हें समुन्नत करने में सहायक सिद्ध हो सकें। इस मूल्यपरक अभियान को ही धर्मनिरपेक्षतावाद की संज्ञा दी गयी और इसे मानवतावाद भी कहकर पुकारा गया। अतः पाश्चात्य देशों की सर्वांगीण भौतिक उन्नति के साथ ही साथ उनके जीवन को उदात्त बनाने का अवसर प्राप्त हुआ।

धर्म के प्रति उपेक्षा भाव रखने के कारण धर्मनिरपेक्षता को योग धर्म का विरोधी भी मानते हैं लेकिन मौलिक रूप से यह धर्म का कतई विरोध नहीं करती है। यह किसी मूल्य पर भी धर्म की विसंगतियों एवं मिथ्या विश्वासों को स्वीकार नहीं करती। इसके अनुसार वही धर्म श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जो मनुष्य मात्र को भौतिक उन्नयन में सहायक हो सके और मानव-मूल्य की स्थापना कर सके। इसकी दृष्टि में धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक है, समाज से नहीं। इसके अनुसार सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था कभी भी धर्म पर आधारित सम्भव नहीं है। यह प्रत्येक मानव को अपने आप में स्वतंत्र एवं निर्बल मानती है। मनुष्य की इस स्वतंत्रता के कारण किसी धर्म को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की इच्छा व्यक्ति पर है। उसकी इच्छा एवं विश्वासों के विपरीत किसी की इच्छा अथवा विश्वास ऊपर से लादा नहीं जा सकता। उसके अनुसार राष्ट्रीय संविधान एवं शासन को धर्मनिरपेक्ष ही होना चाहिए। इस विचारधारा के मानने वाले कुछ समर्थक जैसे मार्क्सवादी धर्म का सर्वथा विरोध करते हैं।

निरपेक्षतावाद की ही तरह बौद्धधर्म का प्रारम्भकाल धर्म की विसंगतियों का काल था। तत्कालीन हिन्दू धर्म अपनी विशिष्टताओं के बावजूद भी धर्म के ठेकेदार मठाधीशों, पंडितों, पुरोहितों के हाथ बन्दी बन गया था। उन्होंने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म के आडम्बरों, मिथ्या विश्वासों एवं हास्यास्पद रीति-रिवाजों की सृष्टि कर ली थी और उन्हीं सबों के बीच आम जनता ने भी अपने आपको कैद होने की स्वीकृति दे दी थी। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति के नाम पर खुलेआम बलिप्रथा की छूट दे दी गयी थी, दान-दक्षिणा शोषण का कारण बन गयी थी और कर्म की प्रधानता के बदले ईश्वर कृपा ही जीवन का सबल माध्यम बन गयी थी। मनुष्य क्रीतदास की तरह दुःख, उत्पीड़न, भय, आशंका आदि के साथ जीने के लिए विवश हो गया था। ऐसी संत्रास की स्थिति में बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ।

महामानव गौतम एक नयी आशा, विश्वास एवं नयी जीवन दृष्टि लेकर उपस्थित हुए। उनका एकमात्र उद्देश्य था मनुष्य मात्र के दुःखों को दूर करना और शांति प्रदान करना। उन्होंने आर्य-सत्यों के माध्यम से मृतप्राय मानवता को चेतना प्रदान करने का श्लाघ्य प्रयास किया। उन्होंने बताया कि मनुष्य ही संसार का श्रेष्ठ प्राणी है और अपने ही प्रयत्नों से परम सत्य की प्राप्ति कर सकता है। उन्होंने ईश्वर के खोखले विश्वासों का पर्दाफास किया और ईश्वर के नाम पर हो रही हिंसा का विरोध किया.। उनके ही प्रयत्नों से मनुष्य में पुनः सामर्थ्यबोध पैदा हुयी। यद्यपि यह सामर्थ्यबोध व्यक्तिपरक था लेकिन प्रकारान्तर से समष्टिपरक भी था। उन्होंने धर्म के सभी आडम्बरों को दूर करने की चेष्टा की और धर्म के वास्तविक रूप को लोगों के समक्ष रखने की कोशिश की। उन्होंने किसी भी धर्म का खुल्लमखुल्ला विरोध नहीं किया बल्कि उसके बदले उन्होंने मानवतावाद की शिक्षा दी, जो सभी धर्मों का है। चिन्तन के क्षेत्र में भी उन्होंने पहल करने की कोशिश की और बताया कि मानव-जीवन की समस्याओं के निराकरण में चिन्तन का उपयोग होना चाहिए। उन्होंने आध्यात्मिक असंगता, उच्चादर्शवाद, जीवन की भद्रता, मानव करुणा आदि नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की। वे सदा तत्त्वमीमांसीय व्याख्या से विरत रहे क्योंकि वे जानते थे कि उसका विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। यही कारण है कि उनके समस्त सिद्धान्त -प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगुरवाद, द्वादश निदान, निरात्मवाद आदि की स्थापना के पीछे उनकी मानव करुणा ही है। इस प्रकार गौतम प्रतिपादित बौद्धधर्म निरपेक्षतावाद की तरह ही मानव जीवन का एक नया मूल्य लेकर उपस्थित हुआ, जो ईश्वरवाद के बदले मानववाद की स्थापना करता है। धार्मिक विसंगतियों का निर्णय करता है, पारलौकिकता से अधिक लौकिक उन्नयन में विश्वास रखता है और नैतिक जागरण में आस्था प्रकट करता है।

यद्यपि धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त पाश्चात्य संस्कृति के अधिक अनुकूल है क्योंकि वहाँ इसका आधार मानववादी नैतिक दर्शन है, जिसका सम्बन्ध धर्म से नहीं है और नैतिक दर्शन नैतिक मूल्य की स्थापना करता है जो अनुभव एवं बुद्धि के आधार पर प्रतिष्ठित है एवं वह इन्द्रियातीत किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करता। दूसरी ओर भारतीय सॉंस्कृतिक परम्परा में सार्वजनिक जीवन पूर्ण में धर्म-नियन्त्रित रहा है और नैतिक मूल्य भी धर्मसापेक्ष रहा है। फिर भी 'यह परम्परा धर्मनिरपेक्षता विरोधी नहीं कही जा सकती है क्योंकि उसके कुछ तत्त्वों का समर्थन किसी न किसी प्रकार से होता रहा है। इसी आशा से हमारे संविधान में धर्मनिरपेक्षता का प्रावधान हुआ है।

यहाँ के दृष्टिकोण के अनुसार धर्मनिरपेक्षता का वास्तविक अर्थ सर्व-धर्म-समभाव ही उपयुक्त है। क्योंकि यहाँ बहुत से धर्म हैं और सभी धर्मों के सम्यक् विकास की कामना की जाती है। अतः धर्मनिरपेक्षता राजनीति एवं संवैधानिक मूल्य के रूप में ही स्वीकृत हुई है, जिसका सैद्धान्तिक आधार अभी नहीं बन पाया है। इन मूल्यों को जब तक जीवन दृष्टि के रूप में स्वीकार नहीं किया जायेगा तब तक बहु-धर्मी सामाजिक परिवेश में गुणात्मक परिवर्तन की सम्भावना सम्भव नहीं हो सकेगी। धर्मनिरपेक्षता का तालमेल मानवीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के साथ भी करना होगा क्योंकि इनके बिना भारतीय परम्परा इसे आसानी से स्वीकृत नहीं कर पायेगी। बिना बौद्धिक आधार बनाये निरपेक्षता का सम्यक् पालन सम्भव नहीं है। मात्र शासन अथवा राज्य के धर्मनिरपेक्ष होने से धर्मसापेक्ष जन-मानस इसे सहजता से स्वीकार नहीं कर सकता।

यद्यपि भारत का धर्म प्रारम्भकाल से ही धर्मनिरपेक्षता के मानववादी दृष्टिकोण का समर्थक रहा है फिर भी अन्य धर्मों की अपेक्षा बौद्ध धर्म और दर्शन की स्थिति धर्मनिरपेक्षता के अधिक अनुकूल है। स्थापित धर्म होने के बावजूद भी बौद्धधर्म एवं दर्शन निरपेक्षता के बीच माध्यम का काम कर सकता है। क्योंकि इस धर्म के कुछ ऐसे उदार एवं उदात्त तत्त्व हैं, जो धार्मिक नैतिकता से बँधे रहकर भी मानवतावाद के नैतिक मूल्यों के समक्ष उपस्थित होते हैं। उन तत्त्वों का विश्लेषण करना यहाँ अभिष्ठ है।

बौद्धधर्म हिन्दू धर्म की तरह वर्णाश्रम धर्म अथवा जाति-पाति के बंधनों में जकड़ा नहीं है। यह मनुष्य मात्र की समानता, समकक्षता और सहअस्तित्व में विश्वास रखता है। इसलिए यह धर्म पूर्णमानववाद का समर्थक है। इसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष मानव मूल्य को संस्कार के रूप में ग्रहण किये हुए हैं। बुद्ध के अनुसार तपस्या की साधना में संलग्न कोई भी मनुष्य, चाहे वह किसी जाति का हो अथवा धर्म का, जो कोई स्मृति प्रस्थानों की भावना करेगा। वही निर्वाण का साक्षात्कार करने में समर्थ है। प्रधान मनुष्यों में विभेद करने का प्रचलन वहां नहीं है। उन्होंने कहा कि- जाति मत पूछ, आचरण पूछ अथवा माजातिं पूछ, चरण चं पूछ। उनके अनुसार मनुष्य की श्रेष्ठता की पहचान उसके कर्म द्वारा होती है। उनका कहना था कि जिस प्रकार कीट, पतंग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि जातियों में जातिगत पृथक् चिह्न होते हैं वैसे मनुष्यों में नहीं होते। इस दृष्टि से कहा जा सकता

है कि बौद्धधर्म समस्त मानव को समान समझता है और समभाव दृष्टि का पोषक है।

बौद्धधर्म के अनुसार सम्यक् प्रधानों की चर्चा हुई है, जिसका तात्पर्य है-प्रयत्न, पुरुषार्थ अथवा वीर्य-साधन। यहाँ पुरुषार्थ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य अपने सत् प्रयत्नों से बुद्धत्व की प्राप्ति कर सकता है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने प्रयत्नों से बुद्धत्व की प्राप्ति की थी- तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य सत्यं। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, उसे किसी की कृपा की अपेक्षा नहीं है। मनुष्य का भौतिक उन्नयन अथवा आध्यात्मिक विकास का दायित्व अपने आप पर है। मनुष्य के इस दायित्व बोध की चरम परिणति बुद्ध शासन में ही सम्भव है। उन्होंने भौतिक उन्नयन में संयम पालन करने का विधान किया है। उन्होंने स्मृतिप्रस्थानों के माध्यम से अर्थ और काम को संयमित करने का उपदेश दिया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने मानवीय भौतिक उन्नयन से मुँहमोड़ लिया हो। उन्होंने आध्यात्मिक विकास के पाँच प्रमुख साधनों (श्रद्धा, वीर्य, समृति, समाधि और प्रज्ञा) की चर्चा करते हुए बताया कि बौद्धधर्म की नैतिक व्यवस्था में इन पाँच इन्द्रियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि निरपेक्षता की दृष्टि से आध्यात्मिकता का उतना महत्त्व नहीं दिया जाता है। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में आध्यात्मिकता के समुचित अभाव में वहाँ की धर्मनिरपेक्षतावादी सभ्यता अन्तर्विरोधों से गुजर रही है। बौद्धधर्म का अष्टांगिक मार्ग निश्चय ही बुद्ध शासन का महत्त्वपूर्ण अंग है, जो सम्यक् प्रज्ञा, सम्यक्शील और सम्यक् समाधि के माध्यम से नैतिक मूल्य की स्थापना करता है। बुद्ध शासन इन नैतिक मूल्यों की स्थापना में मनुष्य को वह आदर्श उपस्थित करने का प्रयास करता है, जहाँ मनुष्य मात्र सर्वांगीण उन्नयन कर सकता है। शरीर पीड़ा और भोगवाद की अतियों से बचकर जिस प्रकार भगवान् ने आर्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में समन्वित जीवन विधि का विकास किया, उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में समन्वय का विधान किया है उनके द्वारा साक्षात्कृत मध्यमा प्रतिपदा अपने पूर्ण अर्थ में अत्यन्त व्यापक और विरतृत दृष्टि के हुयी है-मज्झेन तथागतो धम्मं दैसेति। उन्होंने अतियों का समाधान प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्तों द्वारा किया। प्रतीत्यसमुत्पाद में प्रत्यय शब्द का अर्थ विशेष अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक या सहायक हो तो वह उसका प्रत्यय कहलाती है। इसलिए प्रत्यय सामग्री के हेतु से ही, उसके बिना नहीं, जो धर्मों को स्थिति में आता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद है। उत्पत्ति न स्वतः होती है और न बिना हेतुओं के ही, बल्कि वह

प्रत्ययों के आश्रय से ही या उनके साथ ही होती है। अतः इस कार्यकारण सम्बन्धी प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के द्वारा उन्होंने दार्शनिक चिन्तन को एक नया मोड़ दिया। इस नियम के द्वारा जीवन के दुःखों के कारण का पता लग जाता है और साथ ही उनके निवारण का भी समाधान मिल जाता है। इस नियम के साथ ही कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि के प्रत्यय जुड़े हुए हैं। अविद्या से जरा-मरण तक द्वादश निदानों का ज्ञान इसी सिद्धान्त के द्वारा प्रतिष्ठापित होता है। शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद के एकांगी मतों से अलग हटकर, इसके द्वारा मध्यम मार्ग की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए इस सिद्धान्त को धर्म कहा जाता है। इस कार्य-कारण वाद द्वारा शून्यता की भी सिद्धि की जाती है। इसके द्वारा जड़ चेतन का सह अस्तित्व भी प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है।

बौद्धधर्म का प्रमुख सिद्धान्त अनात्मकवाद है, जिसके द्वारा यह बताया गया है कि शरीर के अतिरिक्त किसी आत्मा नाम की कोई सत्ता मनुष्य में नहीं है। जिस तरह चक्र, धुरी, घोड़ी आदि की समष्टि का नाम रथ है उसी तरह बाह्यरूपयुक्त शरीर मानसिक अवस्थायें, हाथ, पैर, मुँह, नाक, चेतना आदि की समष्टि का नाम मनुष्य है। जब यह समष्टि विघटित हो जाती है तो मनुष्य का भी अन्त हो जाता है। भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है कि आत्मा को नित्य समझने के कारण ही आसक्ति बढ़ती है और दुःख उत्पन्न होता है। यह आसक्ति अथवा तृष्णा ही दुःख का कारण है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म का केन्द्रबिन्दु दुःख-सन्तप्त मानवता ही है और उसके दुःखों को दूर करने का प्रयास ही उनकी नैतिक शिक्षा का आधार है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म एवं दर्शन मानव समस्याओं से केन्द्रित धर्मदर्शन है। मानव करुणा एवं सेवा की भावना का जितना विकास इस धर्म में हुआ है, उतना अन्य किसी धर्म में नहीं। यह धर्म व्यक्ति के साथ ही साथ राष्ट्रीय आदर्श को भी प्रतिष्ठापित करता है। आध्यात्मिकता के सन्दर्भ में यह धर्म अन्य धर्मों के साथ समभाव रखने में भी समर्थ है। इस धर्म के द्वारा वैयक्तिक उन्नयन के साथ सामाजिक उन्नयन भी संनिहित है। यह बौद्धिक मूल्यों की भी रक्षा करता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस धर्म के साथ धर्मनिरपेक्षता की भावना का सम्यक् विकास सम्भव है।

•

बौद्ध धर्म तथा धर्म-निरपेक्षता

डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा
दर्शन-विभाग
काशी-विद्यापीठ, वाराणसी-२

यह शीर्षक अपने आप में भ्रामक तथा विरोधी-सा लगता है, किन्तु जिन विद्वानों ने इसे विमर्श का विषय बनाया है उनके अनुसार अवश्य ही इसमें किसी न किसी रूप में सामंजस्य होगा। बौद्ध धर्म एवं धर्मनिरपेक्षता के बीच वह अनुरूपता कैसे और किस रूप में देखी जा सकती है उसे ही समझने का प्रयत्न हम भी यहाँ करेंगे। इस सम्बन्ध में मुख्यतः तीन पक्ष सामने आते हैं- (1) धर्मनिरपेक्षता, (2) बौद्धधर्म के सिद्धान्त तथा (3) निरपेक्षता की संभावनाएँ।

धर्म-निरपेक्षता

शाब्दिक अर्थ

निरपेक्ष का अर्थ होता है- अपेक्षा का अभाव। तब धर्मनिरपेक्षता के शाब्दिक अर्थ दो हो सकते हैं-

(1) धर्म को किसी व्यक्ति अथवा समाज की अपेक्षा न हो

इस अर्थ से धर्म की सत्ता बाधित होती है। धर्म किसी न किसी समाज में ही प्रतिष्ठित होता है और कोई न कोई व्यक्ति ही उसका पालन करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज की अपेक्षाओं को त्याग कर धर्म जीवित नहीं रह सकता।

(2) किसी व्यक्ति अथवा समाज को धर्म की अपेक्षा न हो

इस अर्थ से व्यक्ति अथवा समाज की सत्ता खण्डित होती है। जो हमें अर्थात् हमारे जीवन को धारण करता है उसे हम अपना धर्म मानते हैं। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति को धारण करता है वह व्यक्ति का धर्म है और जो समाज को धारण करता है वह समाज का धर्म है। फिर तो धर्म की अपेक्षा को छोड़कर व्यक्ति और समाज अपनी-अपनी सत्ताएँ गवाँ बैठेंगे। यहाँ कहा जा सकता है कि भौतिकवादी समाज में धर्म नाम की कोई चीज नहीं होती है, फिर भी उसकी सत्ता है। क्यों ? भौतिकवादी समाज में किसी तत्त्व या किसी सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा तो होती ही है। वह श्रद्धा

ही उस समाज को धारण करती है। उस श्रद्धा को ही यदि हम उस समाज का धर्म मान लें तो कोई अनुचित नहीं होगा। इन अर्थों से ऐसा लगता है कि धर्म-निरपेक्षता जैसी चीज हो ही नहीं सकती। क्योंकि न तो "धर्म" व्यक्ति और समाज को छोड़ सकता है और न व्यक्ति तथा समाज धर्म को छोड़ सकते हैं। यह एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। फिर भी बहुत से तथाकथित प्रगतिशील लोग धर्मनिरपेक्षता के दूसरे अर्थ में अपने को धर्मनिरपेक्ष बताकर गौरवान्वित होते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में किसी धर्म को स्वीकार करना रूढ़िवादिता है, पोंगापन्थी है।

धर्मनिरपेक्षता का वैधानिक रूप

मध्ययुग में पाश्चात्य देशों में धर्म का बोलबाला था। पोप और पादरियों का प्रभाव सभी दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनैतिक गतिविधियों पर था। आधुनिक युग में जब विज्ञान का प्रभाव बढ़ा तब दर्शन को धर्म की दासता से मुक्त करने का प्रयास हुआ। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में धर्म के महत्त्व को कम करके आँका जाने लगा। इस बात को स्वीकार करना लोगों ने पसन्द नहीं किया कि सामाजिक गतिविधियों के सम्बन्ध में धर्म निर्णय ले। सामाजिक समस्या के समाधान के लिए लौकिक शक्ति में विश्वास किया जाने लगा और इस सम्बन्ध में ईश्वर या अन्य पारलौकिक तत्त्वों को छोड़ने की बात मानी जाने लगी। यदि कोई असामाजिक कार्य करता है तो उसे दोषी समझकर समाज या राज्य उसे दंडित करेगा, वह ईश्वर के हवाले नहीं किया जायेगा। यदि कोई गरीब है तो इसलिए नहीं कि उसने पूर्वजन्म में पाप किए हैं, बल्कि समाज के किसी व्यक्ति ने उसका हक ले लिया है। अभी कोई अपराध कर रहा है तो उसे इसलिए नहीं छोड़ा जा सकता कि पुनर्जन्म में वह अपने किये का फल भोगेगा बल्कि उसे अभी सजा भोगनी होगी। इसी तरह की धर्मनिरपेक्षता को भारतीय विधान ने भी अपनाया है। प्राचीन काल से हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत समाज चार वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) में विभाजित चला आ रहा था तथा वर्गों के अलग-अलग धर्म या कर्तव्य और अधिकार भी निर्धारित थे। किन्तु जब स्वतंत्र भारत का विधान बना तो यह माना गया कि भारत के सभी नागरिक समान हैं तथा सबके कर्त्तव्य एवं अधिकार भी समान हैं। न कोई उच्च है और न कोई नीच। जबकि ब्राह्मण परम्परा के अन्तर्गत कोई ऊँचा तो कोई नीचा बताया गया है और उसी को ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिकार दिए गए हैं। हमारे विधान ने विषमता को छोड़कर समता को अपनाया हैं धर्म द्वारा प्रतिपादित बड़े-छोटे के सिद्धान्त का परित्याग करके समानता के सिद्धान्त को ग्रहण किया है।

इसी अर्थ में धर्मनिरपेक्षता को राजनीति में अपनाया गयी है। यहाँ एक ऐसी कठिनाई हो सकती है कि यदि धर्म के हस्तक्षेप को समाज और राज्य स्वीकार नहीं करते हैं तो राज्य के हस्तक्षेप को धर्म क्यों स्वीकार करेगा। किन्तु ऐसा होता है। जब दो धर्मानुयायियों के बीच मतभेद बढ़ता है तो शासन अपनी व्यवस्था को ठीक रखने के लिए हस्तक्षेप करता है।

धर्म-निरपेक्षता : धर्मों की मौलिक एकता के रूप में

सभी धर्म तात्त्विक दृष्टि से एक हैं। धार्मिक चेतना के रूप में भाव, ज्ञान तथा संकल्प सभी धर्मों में होता है। लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण में सभी धर्म विश्वास करते हैं तथा इन उपलब्धियों के लिए भक्ति, ज्ञान और कर्म को ही साधन रूप में स्वीकार करते हैं। इस तथ्य को आधुनिक भारतीय दार्शनिक डॉ० भगवान् दास ने बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रकाशित किया है। "एक" सदा निरपेक्षता का ही सूचक होता है। क्योंकि यहाँ अपेक्षाओं से निर्मित सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। इसलिए धार्मिक निरपेक्षता का बोध धर्मों की मौलिक एकता में भी हो सकता है।

धर्मनिरपेक्षता और गाँधी जी

गाँधी जी ने धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार किया है किन्तु इसके लिए उन्होंने अपनी पद्धति अपनाई है जो अनोखी है। जिस प्रकार उन्होंने धर्म सम्बन्धी अपना मत प्रस्तुत किया है उससे तो ऐसा लगता है कि निरपेक्षता के भाव को ग्रहण करने के लिए सापेक्षता की पृष्ठभूमि अनिवार्य है। उन्होंने कहा है- "समाज में से धर्म को निकाल फेंकने का प्रयत्न वन्ध्यापुत्र के समान ही निष्फल कार्य है और यदि कहीं वह सफल हो जाय तो उसमें समाज का विनाश निश्चित है। धर्म के रूपान्तर हो सकते हैं। उनमें प्रत्यक्ष अन्धविश्वास, सड़न और अपूर्णता दूर हो सकती है, हुई है और होती रहेगी। मगर धर्म तो जब तक जगत् है, तब तक चलता रहेगा क्योंकि धर्म ही जगत् का आधार है। धर्म की अन्तिम व्याख्या है ईश्वर का कानून। ईश्वर और उसका कानून पृथक्-पृथक् चीजे नहीं हैं।" धर्म और राजनीति के सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है-"धर्मरहित राजनीति कोई राजनीति नहीं है। धर्मरहित राजनीति एक मौत का फन्दा है-क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।" गाँधी जी धर्म में विश्वास करते थे तथा ईमानदारी के साथ उसका पालन करते थे; किन्तु दूसरे धर्मों के प्रति भी उनके मन में सम्मान था। वे मानते थे कि जिस तरह एक व्यक्ति अपनी माँ के प्रति श्रद्धा-भाव रखता है उसी तरह दूसरा भी अपनी माँ को

श्रद्धास्पद मानता है और इस बात के लिए आपस में कोई विरोध नहीं देखा जाता, उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति सच्चाई से अपने-अपने कर्म का पालन करें तो कहीं भी विरोध ही गुंजाइश नहीं होगी। हमें दूसरे की माँ को माँ का सम्मान देने में कोई हिचक नहीं होती उसी तरह दूसरे के धर्म को सम्मान देने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिये। गाँधी जी कहते थे मैं एक हिन्दू हूँ, सच्चा सनातनी हूँ, इसीलिए एक मुसलमान भी हूँ, एक ईसाई भी हूँ, एक पारसी भी हूँ--- मैं वेदों के एकमात्र ईश्वर में विश्वास नहीं करता। मेरा विश्वास है कि बाइबिल, कुरान और जेन्दवास्ता में उतनी ही ईश्वरीय प्रेरणा है जितनी की वेदों में पायी जाती है। इन बातों से ऐसा लगता है कि गाँधी जी यह मानते थे कि किसी एक धर्म को अपना कर कोई व्यक्ति दूसरे के धर्मों को भी आदर दे सकता है अर्थात् धर्मसापेक्ष होकर कोई व्यक्ति धर्मनिरपेक्ष बन सकता है।

बौद्ध-सिद्धान्त

बौद्ध धर्म-दर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्त अति प्रसिद्ध हैं-

(1) परिवर्तनशीलता- विश्व परिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण बदलती रहती है।

(2) अहिंसा- किसी भी प्राणी का घात नहीं करना चाहिये।

(3) समता- सभी समान हैं। न कोई बड़ा है और न कोई छोटा।

इनके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं जिनके मत इस प्रकार हैं-

वैभाषिक

यह सम्प्रदाय सभी वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करता है। भूत और भौतिक वस्तुएँ चित्त तथा चैत्तिक वस्तुएँ सभी सत्य हैं, सबके अस्तित्व हैं।

सौत्रान्तिक

यह भी सभी वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु वैभाषिक और सौत्रान्तिक में अन्तर यह है कि वैभाषिक मत में सभी वस्तुओं का बोध प्रत्यक्ष से होता है और सौत्रान्तिक मत मानता है कि वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं बल्कि अनुमान से होता है।

योगाचार (विज्ञानवाद)

विज्ञानवाद मानता है कि मात्र विज्ञान की सत्ता है, वस्तु की सत्ता नहीं है। यह चित्त या मन को विज्ञान या विज्ञप्ति कहता है।

माध्यमिक (शून्यवाद)

शून्यवाद के अनुसार शून्य ही परम तत्त्व है। वह अधर्मा है।

निरपेक्षता की संभावनाएँ

यह बात पहले ही समझ ली गई है कि धर्म को त्याग कर धर्मनिरपेक्षता को अपनाया नहीं ज़ा सकता। भारतीय परम्परा में दी गई अपनी परिभाषा के अनुसार धर्म किसी भी व्यक्ति अथवा समाज के लिए आवश्यक है। अब प्रश्न सामने आता है कि धर्म का त्याग किए बिना किस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का पालन होगा ? इस सम्बन्ध में गाँधी जी का विचार श्रेयस्कर है। किसी धर्म को अच्छी तरह समझकर तथा सच्चाई के साथ उसका अनुगमन करके ही धर्मनिरपेक्षता की प्रतिष्ठा हो सकती है। यह बात सभी धर्मों के साथ लागू होती है। अतः बौद्धधर्म भी इसके अन्तर्गत आ जाता है।

किन्तु यहाँ यह भी देखना है कि बौद्धधर्म में कौन-सी विशेषताएँ हैं जो इसे धर्मनिरपेक्षता की ओर बढ़ा सकती हैं ?

(1) बौद्धधर्म परिवर्तनशीलता में विश्वास करता है। परिवर्तन तभी संभव हो सकता है जब एक से अधिक तत्त्व या रूप या सिद्धान्त को स्वीकार किया जाय। एक के बाद दूसरा रूप या नियम या विचार आएगा तभी तो परिवर्तन होगा। एक से अधिक नियम या विचार को स्वीकार करने की प्रवृत्ति बताती है कि बौद्धधर्म दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव रख सकता है।

(2) अहिंसा का पालन वही कर सकता है जिसे दूसरे की सत्ता का महत्त्व ज्ञान हो। यदि कोई मात्र अपनी ही सत्ता को महत्त्व देता है तथा दूसरे के अस्तित्व की अवहेलना करता है तो वह अहिंसा के मार्ग पर नहीं चल सकता। बौद्धधर्म चूँकि अहिंसामार्ग को प्राथमिकता देता है इसलिए इसकी उदारता दूसरे धर्म को सम्मानित करने में सफल हो सकती है।

(3) समानता का भाव तब तक पुष्ट नहीं हो सकता जब तक कोई यह माने कि मैं बड़ा हूँ तथा मेरा धर्म श्रेष्ठ है एवं अन्य धर्म तथा उनके अनुयायी छोटे हैं,

निम्न हैं। बौद्धधर्म समानता के सिद्धान्त में विश्वास करता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि इसमें दूसरे धर्मों के प्रति दुराग्रह नहीं बल्कि सदाग्रह होगा।

(4) बौद्धदर्शन की शाखाओं ने अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। किसी ने वस्तु की सत्ता को स्वीकार किया है तो किसी ने चित्त की सत्ता को, किसी ने मात्र शून्य को ही परम तत्त्व माना है। किन्तु ये सभी बौद्ध-दर्शन के अंतर्गत हैं। ये शाखायें प्रमाणित करती हैं कि बौद्ध-दर्शन वैचारिक विभिन्नताओं को मानता है। फिर तो दूसरे धर्म-दर्शनों के सिद्धान्तों का आदर करने में इसे कोई हिचकिचाहट नहीं होगी।

(5) जैन तथा बौद्धधर्म ई०पू० छठी शताब्दी में विकसित हुए। जैन धर्म केवल भारतवर्ष तक ही सीमित रह गया क्योंकि उसने कोई परिवर्तन या अपवाद स्वीकार नहीं किया। किन्तु बौद्धधर्म में देश और काल के अनुसार परिवर्तन तथा नियमों के अपवाद देखे जाते हैं। यही कारण है कि इसका विस्तार विश्व के विभिन्न भागों में हो सका है। जापान, चीन, थाइलैण्ड, वर्मा, तिब्बत, लंका आदि देशों के आचार-व्यवहार एक ही तरह के नहीं हैं परन्तु इन सब की विभिन्नताओं को बौद्धधर्म ने सहर्ष अपना लिया है। इसलिये दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव एवं सम्मान व्यक्त करने में इसे कठिनाई नहीं हो सकती हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म में धर्मनिरपेक्षता के भाव को सबल एवं सफल बनाने की संभावनाएँ हैं।

●

बौद्ध-दर्शन और धर्मनिरपेक्षता

डॉ० गोरखनाथ पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरू वि०वि०,
नई दिल्ली।

बौद्ध-दर्शन के सन्दर्भ में धर्म निरपेक्षता और धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में बौद्धदर्शन का सवाल प्रासंगिक और जरूरी है। अपने देश में वैज्ञानिक और बुद्धिवादी चिन्तन की एक समृद्ध परम्परा रही है। बौद्ध-दर्शन इस परम्परा का अविभाज्य अंग है। धर्मनिरपेक्षता की आधुनिक अवधारणा के समर्थन में जब हम इस वैज्ञानिक और बुद्धिवादी चिन्तन परम्परा की ओर नजर दौड़ाते हैं तो बुद्ध के चिन्तन पर ध्यान दिये बिना नहीं रह सकते।

हम यहाँ धर्मनिरपेक्षता, धर्म, विज्ञान और बौद्धधर्म तथा दर्शन के आपसी रिश्तों के बारे में कुछ कहना चाहेंगे। हमारी राय में धर्मनिरपेक्षता आधुनिक समाज की जरूरतों के आधार पर निर्मित अवधारणा है और यह मनुष्य की धार्मिक मिथ्या चेतना पर उसकी वैज्ञानिक, बुद्धिपरक चेतना के बढ़ते प्रभाव का संकेत देती है। हम यह भी मानते हैं कि बौद्ध-दर्शन और धर्म के बीच गम्भीर अन्तर्विरोध है। क्योंकि बौद्धधर्म जहाँ अन्य धर्मों की तरह ही बुद्धि के बजाय भावना पर बल देता है और साम्प्रदायिक निष्ठा की माँग करता है वहाँ बौद्धदर्शन बुद्धि पर बल देता है, मानव चेतना को स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा में ले जाता है और इसलिए धर्म-निरपेक्षता की आधुनिक अवधारणा के पक्ष में जाता है।

जब हम कहते हैं कि आधुनिक समाज में मनुष्य की चेतना सैक्युलर या धर्मनिरपेक्ष होती गयी है तो इसका मतलब यही है कि ऐतिहासिक विकास की इस मंजिल पर पहुँचकर मानव चेतना धार्मिक विचारों के प्रभाव से मुक्त होती गयी है। यानी, अब उसके लिए यथार्थ और जीवन से सम्बन्धित लोकातीत सत्ता की अवधारणा प्रासंगिक नहीं रह गयी है और अब वह यथार्थ और जीवन की व्याख्या यथार्थ और जीवन के माध्यम से ही करने में समर्थ हो गयी है। जैसा कि हम जानते हैं, इस जगत् और जीवन से परे तथा ऊपर स्थित किसी और जगत् तथा जीवन की कल्पना करना और दूसरे जगत या जीवन के माध्यम से ही इहलौकिक

जीवन की व्याख्या का प्रयास करना धर्म की आम विशेषता रही है। धार्मिक चेतना ऐसा करते समय कहीं न कहीं मनुष्य के इहलौकिक जीवन की वास्तविकता का भी निषेध करती है। वह ईश्वर के रूप में एक ऐसी सत्ता की कल्पना करती है जो समूचे ब्रह्माण्ड का सचेतन ढंग से नियन्त्रण करती है। इस अर्थ में ईश्वर की धारणा, जैसा कि फ्रेंच दार्शनिक सार्त्र ने कहा है, मनुष्य की स्वतंत्रता के विरोध में जाती है। अगर ईश्वर है तो मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। चूँकि मनुष्य एक हद तक स्वतंत्र है और अपनी स्वतन्त्रता के क्षेत्र का लगातार विस्तार कर रहा है इसलिए ईश्वर नहीं है।

धार्मिक चेतना का विकास आमतौर पर मनुष्य की दासता, असहायता और अज्ञान की परिस्थितियों में हुआ। उन परिस्थितियों में, जब उसे अपनी दासता, असहायता और अज्ञान का तीखा अहसास था लेकिन उन्हें खत्म करने के लिए जरूरी भौतिक और आध्यात्मिक साधन उसके पास सुलभ न थे। ऐसी हालत में मनुष्य के बाहर और भीतर की अनियंत्रित शक्तियाँ रहस्यमय रूप अख्तियार कर लेती थीं, उसकी पहुँच और पकड़ से परे लगती थीं और दासों की दुनिया से अलग स्थित मालिकों की दुनियाँ की तरह कल्पना की एक अलग दुनियाँ बना लेती थीं। जो मुक्ति जीवन में सम्भव न थी उसे हासिल करने के लिए जीवन से परे के लोक में जाना समझा जाता था। दासता, असहायता और अज्ञान की परिस्थितियों और इनसे मुक्ति की छटपटाहट से पैदा हुई यह पारलौकिक चैतना चूँकि यथार्थ और जीवन से कट जाती थी इसलिए इसे बनाए रखने के लिए अनुभव-बुद्धि की अपेक्षा निष्ठा या विश्वास पर बल दिया जाता था। परजीवी शासक वर्ग अपने हितों के लिए धर्म की अबौद्धिक व्यवस्था को और मजबूत करता था और उसे सत्ता के एक दमनकारी आध्यात्मिक संस्थान के रूप में संगठित करता था। इसके अलावा धर्मों के अपने-अपने मठ, महन्त, सम्प्रदाय, चर्च और पादरी इत्यादि भी होते थे जो आर्थिक और सामाजिक सुविधाओं का प्रतिष्ठान बन जाने के कारण धार्मिक एक सुनिष्ठता को बढ़ावा देते थे। अबौद्धिक और पारलौकिक चेतना से युक्त होने के अलावा धर्म की दूसरी आम विशेषता साम्प्रदायिक एकनिष्ठता की माँग की रही है।

आधुनिक यूरोप का विकास दो स्तरों पर हुआ है। पहले स्तर पर सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों का द्वंद्व और संघर्ष दिखाई पड़ता है। पिछड़ी सामंती शक्तियों के खिलाफ सत्ता का दावेदार एक नया वर्ग उभरता है- पूँजीपति वर्ग। वह सामन्तवाद के खिलाफ अपने संघर्ष में आम जनता को भी अपने साथ ले लेता है। दूसरे स्तर पर सामन्ती व्यवस्था से अभिन्न रूप से जुड़ गये और सत्ता से स्वतन्त्र प्रतिष्ठान में

बदल गये चर्च के खिलाफ विज्ञान और टेक्नालाजी का उदय होता है। अनुभव और बुद्धि पर बल देने वाली दार्शनिक पद्धतियाँ विज्ञान और टेक्नालाजी के समर्थन में आ जाती हैं।

ये दोनों स्तर समानान्तर विकसित होने के साथ परस्पर सहायक होने की भूमिका भी निभाते हैं। चर्च और सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देने और उन पर काबू पाने के लिए नयी सामाजिक शक्तियाँ-विज्ञान, टेक्नालाजी और दर्शन की अनुभववादी और बुद्धिवादी परम्परा को बढ़ावा देती हैं। यह समूची क्रान्तिकारी प्रक्रिया मानव जीवन को विकास की एक नई मंजिल पर ले जाती है। स्वतन्त्रता और ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार होता है। लाप्लास के शब्दों में दुनिया की व्याख्या के लिए ईश्वर की धारणा गैरजरूरी हो जाती है और भौतिकवाद तथा निरीश्वरवाद की विचारधारा मजबूत होती है। इस तरह धर्मनिरपेक्षता अपने प्राथमिक अर्थ में एक ऐसी धारणा के रूप में विकसित होती है जो यथार्थ और जीवन के ज्ञान और मानव मुक्ति के लिए लोकातीत सत्ता के विचार को अनावश्यक करार देती है और दुनिया की व्याख्या और बदलाव के लिए मनुष्य की बुद्धि और व्यवहार को पर्याप्त समझती है। धर्मनिरपेक्षता लोकातीत से लोक की ओर, भ्रांति से ज्ञान की ओर और परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर मनुष्य के लम्बे अभियान के दौरान निर्मित विश्व दृष्टि की एक धारणा है। यह विश्वदृष्टि यथार्थ और जगत् की सत्ता में विश्वास करती है और मानवेतर या लोकातीत सत्ता के हस्तक्षेप के वगैर मनुष्य की मुक्ति को सम्भव बताती है।

मनुष्य की यथार्थपरक विश्वदृष्टि का अंग होने के नाते धर्म-निरपेक्षता धर्म के प्रति तटस्थता का रुख नहीं अपनाती। वह अपने को धार्मिक विश्व-दृष्टि के विरोध में सक्रिय रूप से स्थापित करने की ओर अग्रसर होती है। इसलिए किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के बारे में यह कहना सही नहीं कि वह धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक एक साथ है। जो व्यक्ति खुद किसी धर्म के प्रति निष्ठा रखता है वह दूसरे धर्मों के प्रति निरपेक्ष हो सकता है लेकिन धर्म के प्रति आमतौर से निरपेक्ष नहीं हो सकता। धर्म-निरपेक्षता और धार्मिकता परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं।

यहाँ हम धर्म-निरपेक्षता की दूसरी और गौण धारणा पर आते हैं। इसके अनुसार विभिन्न धर्मों के सन्दर्भ में राज्य निरपेक्षता का रुख अख्तियार करता है। राज्य धर्मनिरपेक्ष होता है। असल में यह धारणा भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट और यहूदी आदि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों या धर्मों के परस्पर संघर्ष के सन्दर्भ में पहले यूरोप

में विकसित हुई। राजनीतिक धारणा के रूप में धर्म-निरपेक्षता का अर्थ यह माना गया कि राज्य किसी धर्म को न अपनायेगा, न उसे संरक्षण देगा, धर्म को सामाजिक, लौकिक जीवन में हस्तक्षेप करने से रोकेगा और खुद किसी व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों में दखल न देगा। इसका मतलब यह भी हुआ कि राज्य जिस विचारधारा के आधार पर काम करेगा वह धार्मिक न होगा और वह धर्म को प्रोत्साहित करने के बजाय धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों का प्रचार कर उसे निरुत्साहित करेगा।

पश्चिम के पूँजीवादी राज्य शोषण की व्यवस्था कायम रखने के कारण धर्म के रूप में भ्रांत चेतना को बनाए रखना चाहते हैं। इसलिए उनकी धर्म-निरपेक्षता जरूरत के अनुसार कभी धर्मों के प्रति समानता में, कभी किसी धर्म के प्रति तटस्थता में और कभी किसी अन्य धर्म के प्रोत्साहन में बदल जाती है।

सच्चे मायनों में धर्मनिरपेक्ष राज्य वही कर सकता है जो शोषण, दमन और परतन्त्रता की व्यवस्था का अन्त करने में सक्रिय हो, सामाजिक जीवन में धर्म का हस्तक्षेप न होने देता हो और व्यक्तियों की धार्मिक मान्यताओं के मामले में शक्ति का इस्तेमाल किए बगैर धर्म-निरपेक्ष या यथार्थपरक विचारों और मूल्यों के प्रचार-प्रसार के जरिए उन्हें भ्रांत चेतना से मुक्त होने में सक्रिय मदद करता हो। मेरे ख्याल से ऐसा एक समाजवादी राज्य ही कर सकता है। इसलिए धर्म-निरपेक्षता समाजवादी राज्य की धारणा का अभिन्न अंग है।

बुद्ध का समूचा चिन्तन दो विरोधी विचार व्यवस्थाओं के सम्मिश्रण से बना मालूम पड़ता है। एक तरफ वह अपने समय तक उपलब्ध विज्ञान की बुद्धिवादी परम्परा को प्रखर रूप से प्रस्तुत करते और धर्म की तत्कालीन विचारपद्धति का निषेध करते दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी तरफ धर्म की अनेक धारणाओं को उनके निषेध रूप में स्वीकार करते भी दिखाई पड़ते हैं। लगता है कि भाववाद और भौतिकवाद तथा धर्म और बुद्धिवाद के बीच सेतु बनाने के अपने इस प्रयत्न को ही इन्होंने मध्य-मार्ग की संज्ञा दी होगी।

आइए, बुद्ध के चिन्तन के इन दोनों पहलुओं पर क्रमशः विचार करें।

(1) बुद्ध अपने समकालीन जीवन में फैली दासता और दुःख के कारण गम्भीर रूप से चिन्तित थे और उनसे मुक्ति के उपाय तलाशना चाहते थे। मुक्ति के उपाय तलाशने की उस प्रक्रिया में उन्होंने धर्म के प्रचलित तौर-तरीकों को अमान्य ठहराया और कार्यकारण सम्बन्ध की तलाश करने वाली वैज्ञानिक बुद्धिवादी पद्धति को अपना

आदर्श माना। उन्होंने आयुर्विज्ञान के आधार पर चार आर्य सत्यों-- दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का उपाय है-- की रूपरेखा तैयार की। उन्होंने बताया कि जिस तरह रोग का निदान कर लेने पर उससे मुक्त हुआ जा सकता है उसी तरह दुःख का मूल कारण जान लेने पर उससे मुक्त हुआ जा सकता है। दुःख के कारण के रूप में उन्होंने अविद्या आदि की कल्पना की और इन कारणों को न तो कोई लोकातीत सत्ता दी न तो ईश्वर आदि किसी लोकातीत सत्ता को दुःख का कारण माना। अविद्या और कर्म मानव जीवन की विशेष अवस्थाएँ हैं। इन पर सम्यक् ज्ञान और सम्यक् कर्म की विशेष अवस्थाएँ हैं। इन पर सम्यक् ज्ञान और सम्यक् कर्म आदि के जरिए कावू पाया जा सकता है। बंधन भी मनुष्य निर्मित है और बंधन से मुक्ति भी मनुष्य के हाथों में है।

प्रतीत्यसमुत्पाद या कारण-कार्य सम्बन्ध की धारणा के जरिए बुद्ध ने अपनी वैज्ञानिक सोच को ठोस पद्धति का रूप दिया। कारणता की इस धारणा को चिन्तन की केन्द्रीय अवधारणा बनाकर बुद्ध ने अपने समय में वैचारिक क्रांति का संकेत दिया था। इसके अनुसार नाम रूपमय जगत् कारण और कार्य की शृंखला से बना है। इसमें कुछ भी अकारण नहीं है और इसलिए सब कुछ बुद्धिगम्य है। धार्मिक और रहस्यवादी चिन्तन-सत्ता के मूलरूप को अकारण और जगत् का कारण मानता है। बुद्ध ने मूल आध्यात्मिक सत्ता की इस धार्मिक अबौद्धिक और लोकातीत धारणा का निषेध कर दिया।

जगत् को कार्य-कारण की शृंखला मानने का मतलब यह भी है कि वह परिवर्तनशील है। भौतिक पदार्थ और उसकी चेतना निरन्तर बदल रही है। उपनिषदों के दार्शनिक मानते थे कि जो सत् है, यथार्थ है वह परिवर्तनशील नहीं है। वह सनातन है, स्थान और काल की सीमा से परे है। ब्रह्मन् या आत्मा वही स्थायी लोकातीत सत् है। वे यह भी मानते थे कि जो परिवर्तनशील है वह सत् नहीं है। चूँकि नामरूपमय जगत् गति और परिवर्तन के नियमों से संचालित है, इसलिए वह ब्रह्म या आत्मा की तरह सत् नहीं है। बुद्ध ने सत् और असत् का और गति का यह पराभौतिक भेद नष्ट कर दिया। उन्होंने बताया कि जो सत् है वह गतिशील है, वह परिवर्तित हो रहा है। इस तरह परिवर्तनशील जगत ही सत् है। उससे परे या ऊपर सनातन सत् का कोई अकारण और परम लोक नहीं है। इस तरह बुद्ध प्राचीन भारत के द्वंद्वात्मक यथार्थवादी चिन्तन को पूरी प्रबलता के साथ प्रस्तुत करते हैं और धार्मिक, रहस्यवादी चिन्तन का निषेध करते चलते हैं।

बुद्ध की इस द्वंद्वात्मक और बुद्धिवादी चिन्तन पद्धति का समाज और जीवन के सन्दर्भ में प्रयोग सहज ही क्रांतिकारी महत्त्व का साबित हुआ। उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित जन्मना वर्ण या वर्ग की धारणा का खण्डन करते हुए कर्मणा या श्रम के आधार पर वर्ण की धारणा का प्रतिपादन किया। जन्म के आधार पर वर्ण-विभाजन की धारणा बनाकर जहाँ ब्राह्मणों ने उसे मानव समाज के प्राकृतिक या स्वाभाविक विभाजन का स्वरूप प्रदान किया था वही वर्णों को ब्रह्म से उत्पन्न मानकर उन्हें एक लोकातीत चरित्र भी प्रदान किया था। कुल मिलाकर वर्ण-विभाजन सहज और लौकातीत पहलू के कारण मनुष्य द्वारा अपरिवर्तनीय माना जाता था। बुद्ध ने कर्म से वर्ण की व्याख्या करते हुए और मनुष्य द्वारा अच्छे कर्म के जरिए कर्म की शृंखला को तोड़ने और बदल देने की सम्भावना का संकेत करते हुए वर्ण-विभाजन की स्वाभाविकता और लोकातीतता का खण्डन कर दिया। इसका यह भी मतलब हुआ कि जन्मना सभी मनुष्य समान हैं और बंधन तथा दुःख से मुक्त होने की क्षमता और योग्यता रखते हैं। इस यथार्थपरक अवधारणा ने समाज की गतिशील शक्तियों को बल प्रदान किया और दासता की हालत में पड़े लोगों में आशा का संचार किया। स्त्रियाँ और शूद्र भी मुक्ति के दावेदार बने।

यथार्थ और जीवन के बारे में बुद्धिवादी दृष्टिकोण, गतिहीन सत् का निषेध और गतिशील जगत् की सत्ता की घोषणा, कार्यकारण सम्बन्धी वैज्ञानिक पद्धति का प्रतिपादन और सामाजिक विभाजन के स्वाभाविक चरित्र या लोकातीत स्रोत का निषेध-बुद्ध के चिन्तन की ये प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो उन्हें महान् बुद्धिवादी चिन्तकों की परम्परा में रखती हैं। विचार के ये तत्त्व अपने मूल आशय में धर्म की अवधारणा के खिलाफ जाते हैं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को पुष्ट करते हैं। बुद्ध अपने दर्शन को पुल की तरह इस्तेमाल कर आगे बढ़ जाने की सलाह देकर अपने को धार्मिक ज्ञान की स्वघोषित पराकाष्ठा से अलग करते हैं और वैज्ञानिक की तरह विनम्रता दिखलाते हैं।

उनके इस चिन्तन ने भारत में यथार्थ परक विचारों का आन्दोलन शुरू किया जो वैभाषिक दर्शन में भौतिकवाद के करीब चला जाता है। धर्मकीर्ति जैसे महान् तर्कशास्त्रियों और नागार्जुन जैसे अदम्य निषेधवादी दार्शनिकों के उदय के पीछे बुद्ध द्वारा चलाए गए इस स्वतन्त्र विचारधारात्मक आन्दोलन का हाथ है। इस रूप में बुद्ध प्राथमिक अर्थ में धर्मनिरपेक्ष थे और उनकी परम्परा यथार्थपरक बुद्धिवादी चिन्तन की परम्परा है।

(2) लेकिन हर चिन्तक की तरह बुद्ध भी अपने समय की सीमाओं से प्रभावित थे। जैसे, दुःख और दुःख निरोध से सम्बन्धित उनके चार आर्य सत्यों को ही लें। ये सत्य मनुष्य की तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के अध्ययन पर ही आधारित न थे। जाहिर है कि कुछ अपने समाज में फैली दासता और दुःख को देखकर आन्दोलित थे। लेकिन उन्होंने दुःख का सिद्धान्त गढ़ते वक्त समूचे जीवन को हमेशा के लिए दुःखमय मान लिया। दुःख परिवर्तनशील जीवन और जगत् का स्थायी भाव बन् गया। यह एक अनैतिहासिक या पराभौतिक दृष्टिकोण था जिसकी जड़ें धर्म में निहित थीं।

असल में दुःख सुख से सापेक्ष मनःस्थिति है। जीवन में कभी दुःख ही दुःख हो सकता है। लेकिन सुख भी जीवन में ही होता है। जैसे प्रिय से वियोग अगर दुःख है तो प्रिय से संयोग सुख है। लेकिन अगर जीवन को दुःख का पर्याय मान लिया जाय तो इसका सीधा अर्थ यह होगा सुख जीवन से परे स्थित किसी सत्ता का गुण है। यानी, जीवन को हमेशा के लिए दुःखमय मानने वाला विचार कहीं न कहीं लोकातीत सत् और आनन्द की धारणा से परिभाषित होता है। उपनिषद् के भाव ब्रह्मवादी दार्शनिक ऐसा ही करते थे। उनके अनुसार लोकातीत और नित्य ब्रह्म या आत्मा सत्, चित् और आनन्द है और परिवर्तनशील लोक महज दुःख है। बुद्ध ने लोकातीत और आनन्दमय ब्रह्म की धारणा का तो खण्डन कर दिया। लेकिन उसी धारणा के दूसरे पहलू दुःखमय लोक की धारणा को आलोचनात्मक ढंग से अपना लिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्ध के लिए दुःख के निरोध और उससे मुक्ति का मतलब जीवन का अन्त या जीवन से मुक्ति बन गया। चूँकि ब्रह्म या आत्मा जैसी कोई लोकातीत सत्ता वे स्वीकार नहीं करते थे, इसलिए जीवन के परे आनन्द या सुख का कोई भावात्मक आधार वह नहीं प्रदान कर पाते थे। मुक्ति निर्वा[illegible] जीवन-रूपी दीपशिखा का बुझ जाना है। संक्षेप में, मृत्यु या शून्य है।

कार्य-कारण सम्बन्ध की वैज्ञानिक धारणा भी बुद्ध की तत्त्वमीमांसा में लागू होने पर धार्मिक भाववादी धारणा का शिकार हो गयी। अविद्या से शुरू होकर जरा-मरण तक जाने वाली बारह अंगों की यह कार्य-कारण शृंखला जगत् और जीवन की निहायत सरलीकृत प्रतिमा तो है ही। इसकी मूल कड़ी अविद्या कहीं न कहीं उपनिषदों में विकसित अविद्या या माया की धारणा से जुड़ी हुई है। उपनिषद् की अविद्या लोकातीत ब्रह्म की एक शक्ति के रूप में जगत् की रचना करती है [illegible]ुद्ध के

चिन्तन में अविद्या भाववादी के ब्रह्म और भौतिकवादियों की प्रकृति का स्थान खुद ले लेती है। मानवचेतना की एक विशेष अवस्था यह अविद्या प्रकृति और चेतना (नामरूप) का कारण बन जाती है। आकस्मिक नहीं कि फिर यहाँ संसार एक भवचक्र मालूम पड़ने लगता है और मरण के साथ अविद्या-प्रसूत जीवन का अन्त मुक्ति लगने लगता है। लगता है कि यहाँ वैज्ञानिक पद्धति को धार्मिक पराभौतिक विचार ने दबोच लिया हो।

बुद्ध ने ब्रह्म या आत्मा जैसी किसी भी नित्य और पारलौकिक सत्ता का निषेध किया था और परिवर्तनशील जगत् को सत् माना था। यह विरोध उन्हें जगत् की अनित्यता या स्वभावशून्यता के दूसरे छोर पर ले गया। सारे धर्म (पदार्थ) अद्रव्यात्मक, या सत् के स्वभाव से रहित मान लिए गए। इसका नतीजा यह हुआ कि जगत् एक स्तर पर महज नामरूप या प्रतीति बन कर रह गया। आगे चलकर जब बौद्धदर्शन पर धर्म पूरी तरह से हावी हो गया तब जगत् की स्वभावशून्यता की इस धारणा ने एक तरफ भाववाद (विज्ञानवाद) और दूसरी तरफ शून्यवाद की शक्ल ले ली। द्वंद्वात्मक चिन्तन की जगह अतिभौतिकवाद ने ले ली।

वर्ण-विभाजन की जन्म या लोकातीत सत्ता के जरिए व्याख्या बुद्ध को मंजूर न थी। उन्होंने उसकी व्याख्या कर्म के आधार पर की। लेकिन यह कर्म महज सामाजिक, इहलौकिक कर्म न था। यह एक जन्म से दूसरे जन्म और जन्म-जन्मान्तर एक स्थानांतरित होने वाला कर्म था और पुनर्जन्म की आदिम भ्रांत धारणा से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। ऐसी हालत में यह जन्मना वर्ण-विभाजन वाली धारणा को कमजोर करने के बजाय नए सिरे से मजबूत करता था।

बुद्ध देवी-देवता और उनके लोक के प्रति एक व्यंग्य का भाव जरूर रखते थे। लेकिन सत्ता को पूरी तरह से नकार न पाते थे। जाहिर है कि मिथकीय चेतना का दबाव उनके समय में बना रहा होगा।

इसके साथ ही बुद्ध ने अपने मार्ग का अनुसरण करने वालों का संघ बनाया जो आम समाज से पृथक् और विशिष्ट संगठन था और एक तरह का सम्प्रदाय बन गया। संघ में शामिल होने वाला व्यक्ति बुद्ध की शरण में, संघ की शरण में और धर्म की शरण में जाने की घोषणा करता था। धर्म की शरण में जाना बौद्धिक स्वतंत्रता का समर्पण करने के बराबर है। चाहे वह धर्म बुद्ध जैसे स्वतंत्र बुद्धजीवी ने ही क्यों न बनाया हो। बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए उसमें दीक्षित राजाओं ने

शस्त्र बल का उपयोग नले न किया हो, यह तो साफ है कि राज्याश्रय पाते ही यह धर्म शक्ति और सत्ता का एक प्रतिष्ठान बन गया। शायद सनातन धर्म के पुनरुत्थान का संगठित रूप से विचार प्रस्तुत करने वाली गीता ने धर्म की शरण में जाता हूँ की तर्ज पर और उसके निषेध में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज' की अपील की होगी।

धर्म की खास विशेषता या लोकातीत सत्ता की धारणा बुद्ध के चिन्तन में न के बराबर थी। वह शायद अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता के बारे में सजग तो थे लेकिन खुद को मनुष्यों की श्रेणी में ही गिनते थे। जैसे-जैसे उनकी बुद्धिवादी चिन्तन पद्धति पर धर्म की चेतना हावी होती गयी वह लोकातीत सत्ता के पद पर प्रतिष्ठित किए जाने लगे। बाद के बौद्धों ने उन्हें ईश्वर की विशेषताओं से मण्डित करने में कोई कसर न की। धर्म अपने सामान्य अबौद्धिक और लोकातीत चरित्र के साथ अवतरित हुआ। बुद्ध का मध्यम मार्ग हीनयान और महायान से होते हुए बज्रयान की तंत्र-मंत्र से भरी गुह्य कंदरा में विलीन हो गया। यथार्थ और जीवन का खुला मैदान उसकी दृष्टि से ओझल हो गया।

वैज्ञानिक चिन्तन और रहस्यवादी प्रवृत्ति, लोक और लोकातीत, ज़गत् और जीवन की स्थापना और जगत् और जीवन का निषेध, गति और गतिहीन विराम, मुक्त जीवन और जीवन से मुक्ति परस्पर पूरक धारणाएँ नहीं हैं। ये परस्पर विरोधी हैं और इनमें से किसी एक को चुनना होगा। हमें बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बुद्धिवादी विचारों के आन्दोलन को चुनना होगा और धर्म के जीवन और स्वतन्त्रता का निषेध करने वाली अबौद्धिक प्रवृत्ति को वर्तमान समाज की जरूरतों के लिए अप्रासंगिक होने के कारण छोड़ना होगा। बुद्ध की इस इहलौकिक बुद्धिवादी विचारों की विरासत से हम अपनी धर्मनिरपेक्ष दृष्टि को और समर्थ बना सकेंगे।

आधुनिक भारत में धर्म-निरपेक्षता की स्थिति बहुत नाजुक दिखाई पड़ती है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ चलने वाले संघर्ष के दौरान बुद्धिवादी, वैज्ञानिक दृष्टि की एक धारा जरूर सक्रिय रही जो पतनशील सामन्ती मूल्यों और विचारों तथा औपनिवेशिक पूँजीवादी मूल्यों और विचारों के बंधन से भारतीय जन-मानस को मुक्त करना चाहती थी। मगर प्रभावी विचारधारा पुनरुत्थानवादी थी और सनातन या हिन्दू धर्म का तत्त्व काफी सबल था। कई बड़े विचारक और नेता वेदांत को भारतीय प्रतिमा का चरम शिखर मानते थे और दर्शन के क्षेत्र में साम्प्रदायिक रुख अपनाते थे। गाँधी कभी भी धर्म के प्रति निरपेक्षता का भाव न रखते थे। वह हिन्दू धर्म के

खुले उपासक थे और अपनी दैनिक प्रार्थना में ईश्वर और अल्लाह को समान ढंग से पुकारते थे। नेहरू ने जरूर एक हद तक धर्म- निरपेक्षता की दृष्टि अपनाई। लेकिन वह भी समय-समय पर धार्मिक मान्यताओं और संस्थाओं को बढ़ावा देते थे। हमारे शासक वर्ग का आम रवैया अपने शोषणपरक हितों के लिए धर्म को बनाए रखने का है। चुनाव की राजनीति ने धार्मिक साम्प्रदायिकता को लगातार बढ़ावा दिया है। धर्म के नाम पर भारत के विभाजन की त्रासदी घटित होने के बाद भारत में हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान की धुर साम्प्रदायिक चेतना को लगातार प्रश्रय मिला है। आज शासक वर्ग की तथाकथित धर्मनिरपेक्षता ने पंजाब में हिन्दू और सिख तथा सिक्ख और सिक्ख के बीच साम्प्रदायिक खून-खराबे का भयावह स्वरूप ग्रहण कर लिया है। कुल मिलाकर धर्मनिरपेक्षता न तो हमारे समाज की आम विचार व्यवस्था का अंग बन पाई है और न राज्य ही उसे सही मायनों में बरत रहा है।

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। अगर हम इस पर सचमुच काबू पाना चाहते हैं तो हमे पूरी दृढ़ता के साथ इहलौकिक और बुद्धिवादी विचारधारा का आन्दोलन चलाना होगा और उसे जनता के एक नए किस्म के मुक्ति आन्दोलन से जोड़ना होगा। हमें मुक्ति चाहिए जीवन से नहीं। जीवन में, इसी जीवन में और इसी दुनियाँ में मुक्ति चाहिए।

हम मानव जाति के मुक्ति संघर्ष को आगे बढ़ाने में बुद्ध की प्रखर इहलौकिक और वैज्ञानिक विचारपरम्परा से मदद ले सकते हैं।

●

बौद्ध-धर्म, दर्शन और धर्मनिरपेक्षता- एक विवेचन

श्री भवानी शंकर शुक्ल
9, गुलिस्तां कालोनी, लखनऊ

चाहे कोई धर्म हो उसकी अपेक्षा होती है कि लोग उसका आचरण करें। यदि धर्म मानने वाले न हुए तो उसकी उपादेयता क्या रही। धर्म को स्वीकार कर ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार करना सब के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि ऐसे भी धर्म है जो ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व के विवाद में नहीं पड़ते। पुनर्जन्म भी कोई ऐसा विषय नहीं जिस पर सभी धर्म विश्वास करते हों। अतः आस्तिकता और नास्तिकता भी धर्म के सन्दर्भ में अधिक महत्त्व नहीं रखते। यदि मानव जाति के इतिहास पर निगाह डाली जाय तो मालूम होता है कि धर्म से व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही रहा है। धर्म में अनेक प्रकार के विश्वास और कर्मकाण्ड सम्मिलित रहे हैं। धार्मिक विश्वास तथा धार्मिक नियम और कर्मकाण्ड व्यक्ति और समाज को संस्कारित करते हैं। सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में धर्म का यदि अनिवार्य अथवा आवश्यक महत्त्व है तो धर्म की सार्वभौमिकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। जो लोग यह कहते हैं कि उनका धर्म में विश्वास नहीं है अथवा वे किसी धर्म को नहीं मानते वे अपवादस्वरूप ही हैं।

जब हम धर्मनिरपेक्षता की बात करते हैं तो शाब्दिक अर्थ के अनुसार यह समझते हैं कि "धर्म की अपेक्षा" अनावश्यक और अवाञ्छनीय है। प्रश्न यह है कि यह निरपेक्ष व्यक्ति के लिए है अथवा समाज के लिए अथवा किसी अन्य संगठन के लिए। स्पष्टतः व्यक्ति और समाज तो धर्मसापेक्ष हैं। इनका धर्मसापेक्ष रहना वैयक्तिक और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उचित भी है। फिर भी "धर्मनिरपेक्षता" का प्रश्न राजनीतिक दृष्टि से बारम्बार उठाया जाता है। भारत जैसे बहुधर्मी राष्ट्र में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता जोर देकर कही जाती है। अतः दूसरे कारण का पता लगाना चाहिए।

धर्म के अनेक पक्ष हैं- दर्शन, विश्वास, नैतिकता और कर्मकाण्ड आदि। जहाँ तक दर्शन और नैतिकता की बात है उनको लेकर विभिन्न धर्मों में अधिक झगड़े नहीं होते यद्यपि जो लोग धर्म को मात्र एक मार्ग मानते हैं वे मानवता अथवा व्यक्तित्व के

पूर्ण विकास की उपेक्षा कर ईश्वर प्राप्ति या स्वर्ग के सुखों के पाने के तरीकों को लेकर ही शताब्दियों तक लड़ते रहे हैं और अब भी लड़ते हैं। कर्मकाण्ड और अनेक धार्मिक विश्वास अवश्य ऐसी बातें हैं जो विभिन्न धर्मों में पारस्परिक विरोधी हैं। अतः विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच इन बातों को लेकर संघर्ष होता है।

धर्मनिरपेक्षता की चर्चा करते समय हम व्यक्ति और समाज की बात कर चुके हैं परन्तु राष्ट्र की बात करना अभी शेष है। यह निर्विवाद है कि राष्ट्र की संरचना व्यक्ति और समाज से ही होती है, अतः राष्ट्र पर भी वैयक्तिक तथा सामाजिक विश्वासों तथा अवधारणाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परन्तु जिस राष्ट्र में अनेक धर्म और उनके अवलम्बी हों उसकी धर्म सम्बन्धी क्या नीति हो यह प्रश्न विचारणीय है। भारत निश्चय ही बहुधर्मी राष्ट्र है, अतः धर्मसापेक्षता अथवा निरपेक्षता के प्रश्न को लेकर उसकी नीति पर विचार करना समीचीन होगा। राष्ट्रीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता पाश्चात्य अर्थ में (सेक्यूलरिज्म) है जिसके अन्तर्गत राष्ट्र का अपना कोई धर्म नहीं है यद्यपि वह व्यक्ति और समाज को अपना-अपना धर्म पालन करने की अनुमति देता है। इस नीति की यदि व्यावहारिक दृष्टि से विवेचना की जाय तो धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। भारतीय मुद्रा और ध्वज आदि पर एक विशेष धर्म के चिह्नों को अंकित करना अथवा अनेक राजकीय समारोहों का शुभारम्भ वैदिक अथवा विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाओं अथवा कर्मकाण्ड से करना क्या सही अर्थ में धर्मनिरपेक्षता का द्योतक है ? किसी धर्मविशेष के वैयक्तिक कानूनों का संशोधन तथा अन्य धर्म के वैयक्तिक कानूनों के यथावत् व्यवहृत होते रहने की छूट किस बात को सिद्ध करते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि राष्ट्र अथवा उसके शासन को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए तो सभी धर्मों के प्रति समभाव होना चाहिए तथा विभिन्न धर्मों के वे आचरण और व्यवहार सम्बन्धी नियम जो वर्तमान के सन्दर्भ में मानवीय मूल्यों पर आधारित नहीं अथवा जो लोकनीति के विरुद्ध हैं, अथवा जो न्यायसम्मत नहीं है अथवा संविधान की इच्छा के प्रतिकूल हैं, उनमें दखलन्दाजी होना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि धर्मनिरपेक्षता राष्ट्रीय सन्दर्भ में कर्मकाण्ड और अन्धविश्वासों तक ही सीमित नहीं जिससे हम आँखें मूदना चाहते हैं। धर्मनिरपेक्षता की चर्चा करते समय हम यदि इतिहास पर भी निगाह डालें तो शायद अनुचित न होगा यद्यपि आज की तरह प्राचीन भारत में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-सिक्ख आदि धर्म न अपितु ब्राह्मणधर्मी, बौद्ध, जैन तथा अन्य मत अवश्य थे। इन धर्मों के दर्शन तथा आचरण सम्बन्धी नियमों में भेद भी थे। फिर भी ऐसे बहुधर्मी

समाज और राष्ट्र में सम्राट् अशोक, कनिष्क तथा हर्ष की क्या नीति थी। प्रतापी गुप्त शासकों की क्या नीति थी। क्या ये सभी शासक धर्मनिरपेक्ष थे? अशोक ने क्या सद्धर्म का प्रचार नहीं किया ? कनिष्क बौद्धधर्मावलम्बी रहते हुए क्या अन्य धर्मों का विरोधी था ? परम वैष्णव गुप्त राजाओं के काल में क्या बौद्ध, जैन और आजीविका धर्म और दर्शन की उपेक्षा हुई ? इतिहास साक्षी है कि ये सभी शासक धर्मसापेक्ष थे। राज्य द्वारा विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को सहायता और प्रोत्साहन मिलता था। परन्तु वर्तमान युग में ऐसा लगता है कि हम लोगों ने यही सोच लिया है कि "सेक्यूलरिज्म" जिसे रूढ़ अर्थ में हम "धर्मनिरपेक्षता" कहेंगे ही बहुधर्मी समस्याओं का निदान है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है धर्मनिरपेक्षता अब तक हमारी बहुधर्मी समस्याओं को सुलझाने में सफल नहीं रही है। लेबनान और श्रीलंका में विभिन्न समुदायों के बोच होने वाले रक्तरंजित संघर्ष, भारत में ही हिन्दू-मुसलमान तथा हिन्दू-सिक्ख या शिया-सुन्नी के झगड़े धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त या नीति से नियन्त्रित नहीं हो सके हैं। अतः मेरे विचार से धार्मिक झगड़ों को सुलझाने का हल धर्मनिरपेक्षता से हटकर किन्हीं अन्य नीतियों में खोजना चाहिए। क्या आधुनिक युग में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विसंगतियों का कारण धर्मसापेक्षता अथवा धर्माचरण है ? ऐसा तो नहीं है कि विभिन्न धर्मों में अनेक ऐसे नियम और विश्वास जुड़ गये हैं जो स्वयं उन धर्मों के आदर्श, दर्शन और नैतिक मूल्यों के अनुकूल नहीं हैं। यदि अस्पृश्यता अधार्मिक कृत्य है तो स्त्रियों की उपेक्षा और उनका शोषण कैसे धर्मसम्मत है। ऐसी स्थिति में क्या राष्ट्र धर्मनिरपेक्षता के नाम पर खामोश बैठ जाय। क्या यह अधिक समीचीन न होगा की सभी धर्मों का पुनर्मूल्यांकन हो और राष्ट्रीय नीति के तहत उन सभी नियमों अथवा परम्प्राओं को नियन्त्रित तथा परिवर्तित किया जाय जो सामाजिक न्याय और मानवीय मूल्य के विपरीत है। क्या यह लोकहित में या बहुजन हित में अधिक अच्छा न होगा कि पूर्वाग्रह, संस्कार, वाद अथवा ईश्वर की दुहाई दिए बिना हम अपनी वर्तमान समस्याओं को समझने और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करें।

विभिन्न धर्मों के नैतिक पक्ष पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि उनमें मूलभूत एकता है। यह एकता केवल भारत में जन्मे धर्मों में ही नहीं बल्कि इस्लाम और ईसाई धर्म में भी है। चाहे किसी धर्म का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति हो या न हो परन्तु सभी धर्म मनुष्य को ईश्वर के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण प्राणी मानते हैं। इसी मनुष्य के

प्रयास से लौकिक और आध्यात्मिक जगत् की व्यवस्था होती है। यदि हम यह भी मान लें कि मनुष्य ईश्वरेच्छा से ही सत्कर्म के लिए प्रेरित होता है तो भी इस बात के अनेक प्रमाण मिलेंगे कि मनुष्यजन्म ही लोकमंगल और दुःखनिरोध के लिए हुआ है। यदि सभी धर्मों का उद्देश्य मानव कल्याण है तो धर्मों की निरपेक्षता कैसी यदि विभिन्न के कतिपय तत्त्व पारस्परिक विरोधी हैं तथा उनमें संघर्ष, अलगाववाद, लोक अमंगल अथवा अन्याय को बल मिलता है तो ऐसे तत्त्वों की निरपेक्षता अथवा उपेक्षा क्यों ? क्या इनका वर्जन लोकहित में न होगा।

धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता अथवा अनावश्यता पर कुछ विचार करने के बाद हम उसके सन्दर्भ में बौद्धधर्म और दर्शन की भी चर्चा करना चाहेंगे। यह मानने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि बौद्धधर्म लोकोन्मुखी, कर्मवादी तथा मनुष्य के चरम विकास का पक्षधर है। वह नियतिवादी नहीं है तथा अनेक सार्वभौमिक तत्त्वों से सम्पन्न है। यदि ऐसा धर्म वरेण्य और प्रेय है तो वह धर्मनिरपेक्षता बल्कि सेक्यूलरिज्म का हामी कैसे हो सकता है ? मेरे विचार से बौद्धधर्म और धर्मनिरपेक्षता की कोई संगति नहीं है। बौद्धधर्म के आचरण से धर्मनिरपेक्षता को बल नहीं मिलता। ऐतिहासिक दृष्टि से भी बौद्धधर्म अन्य धर्मों की उपेक्षा करने वाला नहीं रहा बल्कि उनका खण्डनकर्ता ही रहा है। अतः इस धर्म को निरपेक्ष कदापि नहीं कहा जा सकता है। यदि सर्वधर्मसमभाव या सद्भाव की दृष्टि से देखें तो भी ऐसे समभाव पर बौद्धधर्म का ही एकाधिकार नहीं है। विभिन्न धर्मों और मतों को समादृत करने की क्षमता उपनिषदों के समय से ही भारत में रही है। तथापि बौद्धधर्म के अनेक सिद्धान्त चूंकि ऐसे हैं जो ईश्वर, आत्मा, ऊँच-नीच के झंझट में नहीं पड़ते। अतः वे धार्मिक कट्टरता और कर्मकाण्ड का निषेध करते हैं। इस धर्म का सर्वाधिक बल मनुष्य की साधना और उसके सदाचार और प्रयासों पर है। इसमें मैत्री भावना पर भी अधिक जोर है तथा धर्म को मात्र साधना माना गया है न कि साध्य। इसीलिए यदि धर्मनिरपेक्षता या सेक्यूलरिज्म को धार्मिक अन्धविश्वास, पाखण्ड अथवा अतिशय कर्मकाण्ड की उपेक्षा करना मात्र माना जाय तो बौद्धधर्म सेक्यूलरिज्म को प्रोत्साहित करने वाला अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु धर्मनिरपेक्षता की क्या इतनी ही अपेक्षा है ?

मेरे मत से धर्मनिरपेक्षता से राष्ट्रीय हित में जिस अभीष्ट की प्राप्ति अपेक्षित वह धार्मिक विसंगतियों के निराकरण, उनके नियमन और नियंत्रण से सुखकर होगा न कि धर्म की निरपेक्षता से।

●

बौद्ध सम्राट् अशोक एवं कनिष्क की धर्म-निरपेक्षता

श्री सी० एस० उपासक

यह तो सर्वविदित है कि भारत के राजाओं में बौद्ध सम्राट् द्वय अशोक एवं कनिष्क सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभुतासम्पन्न राजा हुए हैं। इनका साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत रहा है। अशोक का राज्य उत्तर में काश्मीर से दक्षिण में मैसूर तथा पश्चिम में अफगानिस्तान से पूरब में उड़ीया तक फैला हुआ था। कनिष्क का साम्राज्य भी विस्तार की दृष्टि में कम नहीं था। इसकी पश्चिमी सीमा खोतान, चीन, तुर्किस्तान तक थी तो पूरब में उसका राज्य वाराणसी तक था। कश्मीर भी उसके राज्य का एक अंग था। इन दोनों सम्राटों के इतने विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न जातियों, क़बीलों तथा विभिन्न भाषा, वेष-भूषा एवं परम्पराओं के लोग बसे थे। अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र थी तथा कनिष्क ने अपने विशाल साम्राज्य के सुचारु प्रशासन हेतु पूरब में मथुरा और पश्चिम में कपिशा (अफगानिस्तान) में दो राजधानियाँ बनाई थीं। इन दोनों बौद्ध सम्राटों ने अपने राज्य को बड़ा सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित रखा था। इनकी शासन व्यवस्था बड़ी सुदृढ़ थी। प्रजा सुखी थी और उनमें पारस्परिक सौहार्द एवं शान्ति थी। दोनों सम्राट् बौद्धधर्म के प्रति पूर्ण निष्ठावान् थे। यह भी उल्लेखनीय है कि दोनों राजाओं के काल में बौद्ध शासन को नये-नये आयाम मिले। अशोक के काल में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार देश-विदेश में हुआ। बुद्ध-वाणी का प्रथम संस्करण जिसे हम आज त्रिपिटक के नाम से जानते हैं, इसी संगीति में पूर्ण हुआ था। कनिष्क की संरक्षता में चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ था जिसमें बौद्ध-धर्म-दर्शन को एक नवीन दिशा एवं गति मिली थी। वैभाषिक, सर्वास्तित्ववादी तथा एतत् प्रभूत अन्य बौद्ध दार्शनिक निकायों को नयी प्रेरणा एवं नया दृष्टिकोण मिला बौद्ध धर्म-दर्शन का जो सृजन एवं संकलन संस्कृत भाषा में हो रहा था, वह और गतिशील हुआ, फलस्वरूप संस्कृत में अनेकानेक बौद्ध धर्म-दर्शन के ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। ऐसा कहा जाता है कि इसी युग में चीन, तुर्किस्तान, मध्येशिया, तार्जिकिस्तान जैसे सुदूर देशों में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार हुआ था। प्राचीन चीनी भाषा में बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद लाखों की संख्या में मिलते हैं

जिनका यदि किसी भारतीय भाषा में रूपान्तरण किया जाय तो करोड़ों पृष्ठ छपकर होंगे। इन ग्रंथों के चीनी अनुवाद की परम्परा संभवतः कनिष्क युग से ही प्रारम्भ हुई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों बौद्ध राजाओं का राजनीतिक महत्त्व ही नहीं है अपितु भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में इनका अमूल्य योगदान रहा है।

यद्यपि अशोक एवं कनिष्क दोनों ही सद्धर्म के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् थे, तथापि उनके शासन में सभी धर्मों को समान संरक्षण प्राप्त था। एक ओर जहाँ अशोक ने अनेक बौद्ध बिहार स्तूप निर्मित कराए तो दूसरी ओर अनाजीविक सम्प्रदाय के संतों के लिए बिहार में बराबर की पहाड़ियों में गुफाएँ निर्मित करायीं। इसी प्रकार कनिष्क ने भी अनेक स्तूप बिहार निर्मित कराए तथापि अफगानिस्तान के मुल-ए-खुमरी के निकट पारसी धर्म से सम्बन्धित देवकुल का निर्माण कराया था। यह उल्लेखनीय है कि भगवान् बुद्ध की शरीर धातु की प्राप्ति अशोक एवं कनिष्क के युगों में ही प्राप्त हुई है। नागार्जुनी कोडा से लेकर अफगानिस्तान तक अनेक स्तूपों के उत्खनन से लेखयुक्त मंजूषाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें शाक्यमुनि बुद्ध तथा अन्य बौद्ध सन्तों के अस्थि-अवशेष मिले हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि इन दोनों सम्राटों की व्यक्तिगत धार्मिक-निष्ठा बौद्ध-धर्म में ही थी। किन्तु हमें ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिला है जिससे यह संकेतित हो कि ये दोनों महान् सम्राट् किसी बौद्धेतर सम्प्रदाय के प्रति अनुदार रहे हों। जिस प्रकार वे बौद्ध भिक्षुओं को दान देने में पुण्य मानते थे ठीक उसी प्रकार वे जैन आजीविक, यूनानी, जोरोष्ट्रीयन धर्मों के सन्तों के प्रति समान आदरभाव रखते थे। प्रजा का हित-साधन करना ही उनकी एकमात्र नीति थी, चाहे वो किसी भी सम्प्रदाय के मानने वाले क्यों न हों। फलस्वरूप उनके राज्यकाल में सुशासन सुव्यवस्था एवं शान्ति बनी रही।

अशोक ने यद्यपि अपने शिलालेखों में "धम्म" के प्रसार-प्रचार के निमित्त अनेक स्थलों पर चर्चा की है किन्तु कहीं भी उसे बौद्धधर्म के लिए प्रयुक्त नहीं किया है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने प्रारम्भ में अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी होने में संदेह व्यक्त किया था। अशोक ने जिस "धम्म" की व्याख्या की है वह तो शुद्ध धर्म था और इसलिए वह सार्वजनीन और सार्वकालिक था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शुद्ध धर्म स्वतः निरपेक्ष होता है। वह तो सर्वथा लोक-कल्याणकारी होता है। व्यावहारिक जगत् में हम अनेक धर्मों के नाम सुनते हैं, यथा हिन्दू-जैन-बौद्ध-ईसाई-इस्लाम आदि। यदि हम किंचित् चिंतन करें तो वास्तव में ये धर्मों के नाम नहीं है

बस मात्र सम्प्रदाय हैं जिन्हें हम धर्मों की संज्ञा दे बैठे हैं। इन सम्प्रदायों के अपने-अपने सिद्धान्त, देवता, पूजा-मंत्र, वेशभूषा तथा परम्पराएँ आदि विकसित हैं। कुछ अहिंसावादी हैं तो कुछ हिंसा में विश्वास करते हैं। इसी प्रकार ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी भी हैं। इन सम्प्रदायों के अनेक भेद-प्रभेद, पंथ-उपपंथ है। हमने उनमें व्याप्त निष्प्राण परम्पराओं एवं थोथे कर्मकाण्डों को ही धर्म मान लिया है एवं उनमें गहरी आस्था लगाए बैठे हैं। हम यहाँ धर्म निरपेक्षता पर विचार कर रहे हैं जो अनुपयुक्त प्रतीत होता है। सामान्य भाषा में यहाँ धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य सम्प्रदाय-निरपेक्षता से है। हम वास्तव में अशोक एवं कनिष्क की सम्प्रदाय-निरपेक्षता पर ही विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं।

अशोक के शिलालेखों में सम्प्रदाय के लिए "पाखण्ड" शब्द का ही प्रयोग किया गया है न कि धर्म का, जैसा कि हमने ऊपर कहा है धर्म या धम्म से अशोक का तात्पर्य विशुद्ध धर्म से था। उसने धम्म की व्याख्या अपने द्वितीय स्तंभ लेख में इस प्रकार की है-धमें साधु। कियं चु धमे ति ? अपासिनवे, बहुकयाने दया दाने सोचये। अर्थात् धर्म साधु है। धर्म क्या है ? अल्प-पाय, बहु-कल्याण, दया-दान और शुचिता। अशोक सर्वदा इसी धम्म के प्रचार-प्रसार पर बल देता रहा है। प्रथम स्तंभ अभिलेख में उसने अपने शासन के लक्ष्य का भी उल्लेख किया है। वह कहता है "धर्म द्वारा प्रजापालन, धर्म द्वारा संविधान, धर्म द्वारा प्रजा को सुखी बनाना और धर्म द्वारा प्रजा की रक्षा करना ही हमारा लक्ष्य है" "-एसहि विधि इयं धम्मेन पालना, धम्मेन विधाने, धम्मेन सुखीयना, धम्मेन गोतीति"। इस धम्म के प्रचार हेतु वह अपने शीर्षस्थ अधिकारियों, यथा युक्त राजुक तथा प्रादेशिक राज्याधिकरियों को पाँच-पाँच वर्षों पर दौरे पर जाने का आदेश देता है ताकि वे अपने भ्रमण में धर्मानुशासन की स्थापना करें। स्तंभ लेख तृतीय में इस धर्मानुशासन की बातें स्पष्ट हैं जो इस प्रकार है- "साधु मातरि च पितरि च सुश्रुसा मित्रसंस्तुत श्रातीनं ब्राह्मण समणानं साधु दानं प्राण न साधु अनारामों अपव्ययता अपमाण्डता साधु", अर्थात् "माता-पिता की सुश्रूषा साधु है। मित्र, परिचित ब्राह्मण श्रमण को दान देना साधु है। प्राणियों का वध न करना साधु है। अल्पव्यय तथा अल्पग्रही होना साधु है।" अशोक की सदा यही कामना रही कि सभी सम्प्रदाय के लोग पारस्परिक सद्भावना के साथ राज्य में सर्वत्र सुखपूर्वक निवास करें। बारहवें शिलालेख में अशोक ने इसी बात को निम्नलिखित शब्दों में कहा है-"देवानांपिय पियदसि राजा सवपासंडनि च पवनिजानि च घरस्तानि च पूजयति, दानेन च विवाधाय च पूजयति ने। न तु तथा दानं व पूजा व देवानां

पियो मन्यति यथा-सा अस सब पाखण्डानं। साखड़ी तु बहुविधा तस तु इदं मूलं यं वचगुती। किं ति आत्मपाखण्ड पूजा परपाषण्डगरहा नो भवे अप्रकरहि- लहुका व अस तम्हि तम्हि प्रकरणे। पूजेतया तु एवं परपाषण्डा तेन तेन प्रकरेण। एवं करू आत्मपाषण्डं, च बहूयति, परपाषण्डं च उपकरोति। तदम्य करोन्ते आत्मपाषण्डं च छणति परपाषण्डस च पि अपकरोति- - -समवायो एव साधु ! किंति ? अंजमंजस धम्मं सुणरु च सुनसुसेर, च" अर्थात् देवानां प्रियदर्शी राजा सभी पाषण्डों (सम्प्रदायों) की पूजा दान देकर तथा अन्य विविध प्रकार से करता है किन्तु दान और पूजा को देवानांप्रिय उतना (महत्त्वपूर्ण) नहीं मानते जितना इस बात को कि सभी सम्प्रदायों में उनके धर्म के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सार-वृद्धि कई प्रकार की हो सकती है। उसका मूल है वचन-संयम। कैसे ? अनुचित अवसरों पर अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा नहीं होनी चाहिए। थोड़ी हो सकती है, किन्तु उचित अवसरों पर। परन्तु उन अवसरों पर भी दूसरे सम्प्रदाय पूजनीय हैं। ऐसा करने पर ही मनुष्य अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है और दूसरे सम्प्रदाय का उपकार। इसके विपरीत करता हुआ अपने सम्प्रदाय को तो क्षीण करता ही है दूसरे सम्प्रदाय का अपकार भी। जो कोई अपने सम्प्रदाय की पूजा करता है तथा दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करता है वे सभी अपने सम्प्रदाय की अभिवृद्धि के लिए ऐसा करते हैं किन्तु ऐसा करता हुआ मनुष्य अपने सम्प्रदाय की बहुत हानि करता है। इसीलिए समन्वय, समवाय साधु है- अशोक ने इसी प्रकार की भावना अपने सप्तम शिला लेख में भी इस प्रकार की है- "देवानां पियो पियदसिराजा रछति सबे पाषण्डा बसेयु। सवे ते संयमं च भावशुद्धि च इछति। जनो तु उचाउच छन्दो उचाउच रागो। ते सर्वे व कासन्ति एक देसं व कासन्ति। विपुले तु पि दाने यस नास्ति। संयमें भवसुचिता व कतनता व दड़मतिता च निचावाई", अर्थात् देवानां प्रियदर्शी की इच्छा है कि सर्वत्र सभी सम्प्रदाय निवास करें। वे सभी संयम और भाव शुद्धि चाहते हैं किन्तु लोगों के ऊँच-नीच विचार और भाव होते हैं। वे या तो सम्पूर्ण कर्त्तव्य करते हैं अथवा उसका अंश। जिसने बहुत दान दिया हैं किन्तु यदि उसने संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़-भक्ति नहीं है तो वह (दान) निश्चय ही निम्न कोटि का है।

सभी सम्प्रदायों के कल्याण तथा उनमें धम्म की प्रतिस्थापना के उद्देश्य से धर्म-महाभाव नामक अधिकारियों की नियुक्ति की थी (शिला-अभिलेख-5)। धर्म से सम्बन्धित उसने "धर्ममंगल", "धर्मदान", "धर्म अनुग्रह" आदि की बातें कही हैं। धर्म मंगल के उद्देश्य के विषय में अष्टम शिलालेख में सम्राट् ने इस प्रकार अपने उद्गार

व्यक्त किये हैं- "दास-भृत्यों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का उचित समादर, प्राणि हिंसा में संयम, ब्राह्मण श्रमण को दान आदि ही इसी प्रकार के पुण्य कृत्य ही धर्म मंगल हैं। (दास भटकम्हि सम्यप्रतिपति, गु३ नं अपिचति साधु, पाणेसु संयमो साधु, ब्राह्मणसमणानं साधुदानं, एतं च अयं च एतारिसन धम्ममंगल नाम।)"

इसी प्रकार शिला अभिलेख ग्यारहवें में उसने कहा कि "ऐसा कोई दान नहीं जैसा धर्मदान, ऐसी कोई मित्रता नहीं जैसी धर्म-मित्रता, ऐसी कोई उदारता नहीं, जैसी धर्म उदारता है, ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं जैसा धर्म-सम्बन्ध (नास्ति एताडिसं दानं या रिसं धम्मदान, धम्मसंस्तवो वा धम्म सम्विभागो, धम्म सम्बन्धो व।)" सम्राट् का अनुराग सभी धर्मों के प्रति समान था। वह सभी सम्प्रदायों के अनुष्ठानों में स्वयं उपस्थित होकर उनकी समुचित पूजा एवं अभ्यर्थना करता था। छठवें शिला-अभिलेख में उसने इसी बात को अंकित इस प्रकार किया है- "सब पाषण्डापि में पूजिता विविधाय पूजाय। ऐचु इयुं अत्तनापच्चुपगमने। अर्थात् सभी सम्प्रदाय मेरे द्वारा पूजित हैं, मैं उनकी विविध प्रकार से पूजा करता हूँ किन्तु व्यक्तिगत रूप से उनके पास जाने को अपना मुख्य कर्त्तव्य मानता हूँ।

उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि अशोक का विश्वास "शुद्ध-धर्म" में था। उसकी यह भी मान्यता थी कि "शुद्धधर्म" के पालन से ही सभी जन का कल्याण हो सकता है। सम्प्रदायवाद से तो हानि ही हानि है। सम्राट् की यही मंगलकामना थी कि प्रजा में धर्माचरण की अभिवृद्धि हो, सभी लोग संयम से रहें तथा दान करें। (बढ़ति विविधं धम्म चलने संयमे दान सम्वभागेति-चतुर्थ-स्तंभी लेख)

अशोक ने अपने राज्य का शासन पूर्ण रूप से सम्प्रदाय-निरपेक्ष होकर किया था। फलस्वरूप उसके राज्य में सर्वत्र शान्ति, सुव्यवस्था और सुशासन था।

यह उल्लेखनीय है कि उसके शिलालेखों में ब्राह्मण और श्रमण शब्द एक साथ अनेक बार आए हैं उनमें भारत से प्राप्त अभिलेखों में पहले ब्राह्मण शब्द का प्रयोग हुआ है तत्पश्चात् श्रमण। केवल शाहबाजगढ़ और मानसेहरा के अभिलेखों में जो पाकिस्तान में पेशावर के पास पाये गए हैं, श्रमण शब्द ब्राह्मण से पहले अपेक्षाकृत अधिक बार अंकित है। इसका संभवतः कारण यह रहा हो कि उस क्षेत्र में श्रमण-सम्प्रदायों की संख्या ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक रही हो।

अब हम दूसरे महान् बौद्ध सम्राट् कनिष्क की धर्मनिरपेक्षता पर विचार करें। हम सभी जानते हैं कि कनिष्क बौद्ध शासन का प्रबल पोषक और समर्थक रहा।

बौद्ध धर्म के प्रति उसकी निष्ठा एवं भक्ति-भावना अनन्य थी। किन्तु वह निष्ठावान् बौद्ध होते हुए भी सम्प्रदायवादी कदापि नहीं था। वह उतना ही उदार था जितना हम अशोक को पाते हैं। सभी सम्प्रदायों के प्रति समान आदर, उनमें प्रचलित परम्पराओं के प्रति उदारता, उनके देवी-देवताओं के प्रति आदर भाव तथा सभी सम्प्रदायों के प्रति समभाव अशोक की तरह कनिष्क की भी स्पष्ट नीति थी। यद्यपि उसने अशोक के अनुरूप राज्यालेख नहीं खुदवाएँ किन्तु उसके विभिन्न प्रकार के सोने-चाँदी के सिक्कों के आधार पर हम उसकी धार्मिक सहिष्णुता का स्पष्ट प्रमाण पाते हैं इन मुद्राओं में एक ओर राजा को खड़ा होकर प्रज्वलित अग्नि की ओर हाथ फैलाए हुए पाते हैं। तथा दूसरी ओर किन्हीं देवी-देवताओं के चित्र अंकित हैं। ये देवी-देवता अनेक धर्मों एवं सम्प्रदायों के हैं जो हिन्दू, पारसी, यूनानी, बौद्ध आदि धर्मों से सम्बंधित हैं। हिन्दू देवताओं में शिव चित्रित हैं और यूनानी-लिपि में महेश लिखा है। पारसीयन, ईरानी देवताओं के चित्रण सर्वाधिक हैं। ईरानी देवी-देवताओं में अथसो अर्थात् अग्निदेव, लहुरस्यो अर्थात् विद्युत् देव, माओ अर्थात् चन्द्र, मिहिर अर्थात् सूर्य, नाना अर्थात् मातृदेवी, ओरलेग्नो अर्थात् युद्धदेव, बहराम, फैटो अर्थात् अग्नि, मज्दोहानो अर्थात् असुरदेव, अरडोक्शो अर्थात् भाग्यदेवी, वोआड़ो अर्थात् वातो-वायुदेव। ईरानी देवताओं की अधिकता का कारण, सम्भवतः उसके साम्राज्य का विस्तार इन्हीं क्षेत्रों में होना था। यूनानी देवी-देवताओं का चित्रण अपेक्षाकृत कम अंकित हैं। इनकी संख्या मात्र चार है जो इस प्रकार है-सेलिनी अर्थात् सोम, मानावागो अर्थात् चन्द्र, हेकियास्टोस अर्थात् अग्निदेव और हेलियोस अर्थात् सूर्य। कनिष्क के सिक्कों में ही हम सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध को भी चित्रित पाते हैं। उसके मात्र दो ऐसे सिक्के मिले जिनमें एक स्वर्ण मुद्रा है तथा दूसरी ताम्र मुद्रा। स्वर्ण मुद्रा में भगवान् बुद्ध ध्यान मुद्रा में हैं और यूनानी लिपि में बोड्डो अंकित है। ताम्र मुद्रा में बुद्ध उसी प्रकार बैठे हैं किन्तु उल्लिखित है-शाकोमन बोड्डो अर्थात् शाक्यमुनि बुद्ध।

कनिष्क के सिक्कों पर पाये जाने वाले देवी-देवताओं के चित्रों पर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि उसने अन्य धर्मावलम्बियों के देवी-देवताओं के ही चित्रण अपेक्षाकृत अधिक कराए हैं। इसका एकमात्र कारण यही था कि अशोक की

भाँति कनिष्क में भी सम्प्रदाय-निरपेक्षता का ही भाव था। बौद्धधर्म उसका व्यक्तिगत धर्म था। सभी धर्मों के प्रति आदर, समन्वय भाव तथा सहिष्णुता, यह उसकी राजनीति थी।

इन दोनों सम्राटों में जो धर्म-निरपेक्षता भाव अथवा सम्प्रदायनिरपेक्षता भाव हम पाते हैं उसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि वे शुद्ध धर्म में विश्वास रखते थे न कि सम्प्रदायवाद में।

भगवान् बुद्ध कभी-भी सम्प्रदायवादी नहीं थे। उनका धर्म तो सार्वजनीन, सार्वभौमिक और सार्वकालिक था। बुद्ध के इसी मूल भाव से प्रेरित हो अशोक और कनिष्क ने इतने विशाल साम्राज्य के स्वामी होते हुए भी सदैव धर्म-निरपेक्षता का आदर्श सामने रखकर शासन किया। भगवान् बुद्ध के "धर्म" के सार्वजनीन, सर्वकालिक एवं सर्वकल्याणकारी होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

●

भारत में धर्मनिरपेक्षता : बहुधर्मी परिवेश में

श्री कृष्णराज मेहता
साधना-केन्द्र,
राजघाट, वाराणसी

भारत बहुत पुराना देश है। यहाँ अनेक धर्म-गुरु, धर्म-संस्थापक, दार्शनिक और मनीषी पैदा हुए। उन्होंने अपने धर्म, दर्शन, विचार आदि का प्रचार भारत में और भारत के बाहर किया। परन्तु साथ न सत्ता लेकर गए और न शस्त्र लेकर। वे केवल आत्मबोध और अनुभवी जीवन लेकर गये और विचार समझकर ही संतोष माना। यही भारत की विशेषता रही है।

भारतीय संस्कृति का विश्वास शुरू से प्रेम, मैत्री और सह-अस्तित्व में रहा है। यहाँ शक, हूण, आर्य, यहूदी, पारसी, ईसाई, मुगल, पठान, चीनी, जापानी कई देशों व धर्मों के लोग आये। भारत ने सबको कबूल किया उन्हें आश्रय दिया और सह जीवन का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार बहुधर्मी परिवेश में भारतीय जनजीवन क्रमशः विकसित होता रहा। इससे भिन्न-भिन्न जातियों, कौमों और धर्मों में सह-अस्तित्व और सौहार्द्र भी बढ़ता रहा। परिणामस्वरूप आज भारत में अनेकों भाषाओं, धर्मों, वर्णों, वर्गों, पक्षों, प्रान्तों और जातियों के लोग एक साथ रह रहे हैं विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र के रूप में अपना कारोबार भी चला रहे हैं. विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व के लिए भी यथाशक्ति प्रयास कर रहे हैं।

आजादी के बाद भारत के प्रतिनिधियों ने संविधान बनाया तो यहाँ की सह-अस्तित्व की संस्कृति के अनुरूप भारत को "धर्मनिरपेक्ष" राष्ट्र घोषित किया गया। पंडित नेहरू ने कहा कि "धर्म-निरपेक्षता" का अर्थ धर्महीनता नहीं परन्तु सब धर्मों के प्रति आदर से है। जिस राष्ट्र का परिवेश बहुधर्मी हो वह एक-धर्मी तो हो नहीं सकता उसे सब सम्प्रदायों के निरपेक्ष रखना स्वाभाविक था। हर धर्म या पंथ के लोग अपनी-अपनी उपासना, पूजा-पाठ, साधना स्वतन्त्रतापूर्वक करें। अपने विचारों व विश्वासों का मुक्ततापूर्वक विचार करें। दूसरे धर्मों की निन्दा न करें। धर्मों के प्रति

आदर-भाव रखें। इससे सह-अस्तित्व की भारतीय संस्कृति का निर्वाह होगा और सर्वधर्म समभाव का सहज विकास होगा।

सर्वधर्म-समन्वय की दिशा में अनेकों ने प्रयास किये, परन्तु श्री रामकृष्ण परमहंस ने हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों के मार्ग से उपासना की, समाधि प्राप्त की और सब धर्मों के परमसत्य का साक्षात्कार कर सिद्ध कर दिया कि धर्म भिन्न हैं, उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सबकी मंजिल एक है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी सर्वधर्म-समभाव को आगे बढ़ाया। उन्होंने सत्य-शोधक की नम्रता से आश्रमीय प्रार्थना में सब धर्मों के चुने हुए अंश लेकर सर्वधर्मी प्रार्थना सर्वत्र चलायी। इसमें हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, सिक्ख, जैन, बौद्ध, यहूदीं सब धर्मों के लोग श्रद्धा से सरीक होते थे और प्रेम से गाते थे-"ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्" इससे देश में एकात्मता और सर्वधर्मों के प्रति आदर-भाव बढ़ा। सन्त विनोवा ने मानवों के हृदय जोड़ने के लिए प्रमुख धर्म-ग्रन्थों का, उनकी भाषाओं के गहन अध्ययन का स्वाध्याय किया और विवेक दृष्टि से उनके सार निकाले जैसे-ऋग्वेदसार, गुरुबोधसार, अष्टादशी, जपुजी, कुरानसार, क्रिस्तधर्मसार आदि। इन्हें लोकभाषा में भी प्रकाशित कर सब धर्मों के साथ सबके लिए उपलब्ध कर दिये। धर्म की फुलवारी सजाकर सबकी खूबियाँ प्रकट कर दी।

सब धर्म-गुरुओं व महापुरुषों के नामों का समावेश कर "नाममाला" की भी रचना की- "ऊँतत् सत् श्री नारायण" जो सब धर्म के लोग श्रद्धा से गाते हैं।

सब धर्मों का सार "सत्य, प्रेम, करुणा का विनोवा ने सतत प्रचार किया और हमारा मन्त्र-जय जगत् का करोड़ों से उद्घोष कराया। सर्वधर्म-समन्वय और वैश्विक वृत्ति के विकास का यह क्रम भारत में औरों के द्वारा भी चलता रहा है।

धर्म-निरपेक्षता के पीछे यही विधायक दृष्टि रही थी और अपेक्षा थी कि देश के नागरिक साम्प्रदायिक संकीर्णताओं, निष्प्राण कर्मकाण्डों, दार्शनिक मान्यताओं की जकड़नों, धर्मपरिवर्तनों आदि में नहीं उलझेगें। धर्मों की गलतफहमियां मिटायेंगे तथा परस्पर सहिष्णुता व सद्भाव बढ़ायेंगे।

सर्वधर्म-समन्वय और सर्वधर्म-समभाव के प्रयत्नों के बावजूद आज धर्म विकृत हो रहे हैं। वें लोगों को जोड़ने के बजाय तोड़ने लगे हैं। धर्मों के नाम पर होने वाले युद्धों में मानव का अधिक संहार हुआ है। आज भी हिन्दू-सिक्ख, हिन्दू-मुस्लिम, मुस्लिम-यहूदी, मुस्लिम-इसाई, सिया-सुन्नी, बौद्ध-तमिल, आपस में लड़ रहे हैं।

धर्मान्धता किस प्रकार बचपन से ही बच्चों के मस्तिष्क के कोमल मन में धार्मिक कट्टरता, आपसी कलह व साम्प्रदायिक मतभेदों का जहर घोल रहा है, जो मौका मिलते ही आतंक पैदा करता है और उग्रवाद की विस्फोटक स्थिति को जन्म दे देता है। राँची विश्वविद्यालय बिहार के मनोवैज्ञानिकों ने इस बारे में एक दिलचस्प अध्ययन किया, जिसका विवरण सरिता के दिसम्बर (द्वितीय) 1985 के अंक में श्री अभय कुमार दूबे ने "क्या आप भी एक उग्रवादी तैयार कर रहे हैं" शीर्षक से दिया है।

दरअसल धर्म ने हमारे जीवन को ऐसा जकड़ रखा है कि नई पीढ़ी को अपनी घुट्ठी में ही धार्मिक कट्टरता, और असहिष्णुता मिलती है। आगे चलकर यही कट्टरता, पूर्वाग्रह और परस्पर घृणा, आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों की हवा पाकर हिंसक उग्रवाद के रूप में विकसित हो जाती है। राजनीति के संकीर्ण स्वार्थ उसे सह देते हैं और मानवीय तथा राष्ट्रीय एकता का हनन होने लगता है। इस संकट से बचने के लिए रूस, चीन आदि राष्ट्रों ने धर्म को छोड़कर विज्ञान का रास्ता पकड़ा। अर्वाचीन दशकों में वैज्ञानिक ज्ञान में अद्भुत उन्नति और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं, जो मानव समाज के लिए अतिशय लाभदायी सिद्ध हुई हैं- जैसे शीघ्रगामी यातायात के साधन, अच्छा स्वास्थ्य, भौतिक जरूरतों की आसानी से पूर्ति, जीवन के उच्च धेयों की प्राप्ति के लिए अधिक अवकाश आदि। विज्ञान ने मानव को जोड़ा और विश्व के निकट लाया है और धरती को स्वर्ग बनाने की सम्भावना भी प्रकट की है। विज्ञान ने मानव को मन की भूमिका से भू पर उठाकर वैज्ञानिक वृत्ति अपनाने की प्रेरणा भी दी है। मानव मन की भूमिका से विज्ञान-भूमिका पर आयेगा तो काम, क्रोध, मोह, घृणा, द्वेष, आसक्ति, मानापमान, पूर्वाग्रह आदि मनोवृत्तियाँ शिथिल व क्षीण हो जायेंगी और वह अध्यात्म की ओर अग्रसर होगा। विज्ञान में दोहरी शक्ति होती है- एक विकास-शक्ति दूसरी विनाश-शक्ति। यह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। इतिहास में पहली बार मानवता के समक्ष परमाणु युद्धों द्वारा उसके पूर्ण विनाश की सम्भावना सामने आयी है। मनुष्य की इस अवस्था का कारण उसके आन्तरिक विकास की कमी है। इसकी पूर्ति आत्मज्ञान या स्वाध्याय से ही हो सकती है। अध्यात्म स्वयं विज्ञान है। अध्यात्म और विज्ञान को बाँटा नहीं जा सकता-दोनों का लक्ष्य सुप्रीम डिविनिटी है। अंतर इतना ही है कि अध्यात्म उसे जानता है, जब कि विज्ञान उसे अभी नहीं जानता। गहरे में उतर कर देखें तो दोनों में अंतर नहीं लगता। दोनों की प्रकृति एक है। दोनों नियमों के आधार पर चलते

हैं। अध्यात्म ने चेतना के नियम खोजे और विज्ञान पदार्थ के नियमों की खोज कर रहा है। दोनों ने नियमों की खोज की है। जहाँ नियम की खोज नहीं होती वहाँ सच्चाई का पता नहीं चलता। अतः आत्मज्ञान और विज्ञान दोनों सत्य के शोधक हैं।

आज धर्म असहिष्णुता, कट्टरता और धर्मान्धता के कारण काव्य शास्त्र हो गये है। उसकी जगह वैज्ञानिकता ले रही है। भारत ने बहुधर्मी परिवेश में धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार कर देशवासियों को संकीर्ण असांप्रदायिकता के ऊपर उठा कर सब धर्मों के सार -आध्यात्म की ओर अग्रसर होने की अपेक्षा रखी है। यदि देश सर्वधर्मसमभाव अपनायेगा तो वैज्ञानिक वृत्ति के साथ-साथ आत्मज्ञान की ओर भी बढ़ेगा। जब आत्मज्ञान और विज्ञान का समन्वय होगा तो मानव महामानव बनेगा और विश्व में शान्ति, समृद्धि और सुख का साम्राज्य स्थापित हो सकेगा। क्या हमारी कथनी और करनी का पुरुषार्थ इस दिशा में होगा। यदि ऐसा हुआ तो यह परिसंवाद सार्थक और सफल सिद्ध होगा।

●

भारत और धर्म-निरपेक्षता : एक परम्परा : एक विश्लेषण

श्री सी० मणि

धर्म और समाज

धर्म परमार्थतः शून्य है, परन्तु व्यवहार में उतना ही सांदृष्टिक। वह ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे हम जगत् का प्रयत्न मानकर उससे दूर हट जाने का प्रयास करें। धर्म का एक व्यामोहात्मक रूप भी है, परन्तु अपने व्यापक अर्थ में धर्म मनुष्य के और उसके अनुरूप व्यवहार करने का माध्यम है। समाज में रहने वाले हर प्राणी की अपनी एक पहचान है। वह किसी समुदाय या वर्ग की मान्यताओं को लेकर चलने वाला होता है जिससे उसके अधिकांश सामाजिक व्यवहार बनते हैं। अगर हम जगत् का मंगल चाहते हैं तो हमारा धर्म भी लोक-संग्रह-कारक होगा। अगर हमारा अभिप्राय ब्रह्माण्ड के एकांश से है और हम समग्र संसार को उन्नत और सुखी नही देख सकते तो हमारा धर्म एकांश तक ही सीमित होगा।

समाज में प्रवृत्तियाँ हर जगह पाई जाती हैं। इनके विवर्तन से कभी-कभी एक ही देश में राष्ट्रीयता उच्च आदर्शों से प्रेरित होती है और कभी अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से मोर्चा लेना पड़ता है। विश्व इतिहास के विकास को समझने के लिए इन प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है।

इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है कि सभ्यता के दस हजार वर्ष लम्बे इतिहास में मानव सम्बन्धों में उतना परिष्कार नहीं हो सका जितना मानववादी विचारकों ने कल्पना की थी। बात यह हुई कि मनुष्य की सीमित शक्ति नित्य नए रूपों के संयोजन में उलझ कर रह गई और वह अपने लिए कोई सीधा रास्ता न निकाल पाया जिसका रहस्य धर्म के तत्त्व में था। सापेक्षतावादी विचारकों ने किसी समाधान तक पहुँचने का प्रयास भी किया, परन्तु धर्म एक समुदाय (Community of faith) बनकर रह गया। समय-समय पर इन समुदायों के बीच खिचाव और टकराहट का होना स्वाभाविक हो गया। इस स्थिति में जो सामञ्जस्यवादी विधेयात्मक प्रक्रिया संभव थी वह "धर्म-निरपेक्षता" (Secularism) थी, अर्थात् धर्म के विषय में व्यक्ति को पूरा

अधिकार, किन्तु इस शर्त के साथ कि वह दूसरे धर्मों या विषयों का अतिक्रमण न कर सके।

भारतीय संविधान में धर्म

यह कहना उचित नहीं है कि भारत के संविधान में धार्मिक भावना उपेक्षित है। संविधान द्वारा प्रदत्त मानव के मौलिक अधिकारों में न्याय, विचार, अभिव्यक्ति एवं विश्वास के साथ धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता का निर्देश है। संविधान के 5 वें अनुच्छेद के अनुसार हर धार्मिक समुदाय के अपने कार्य-परिषद् के लिए अपने ही समुदाय के व्यक्ति के चयन का अधिकार है। यहाँ तक कि सम्प्रदायों के विभेदों का भी उसमें ध्यान रखा गया है, जैसे सुन्नी वक्फ के कानून में अगर नियम मुतवली के सुन्नी मुसलमान होने के पक्ष में है तो उसका आदर करना होगा[1]।

संविधान में भारत एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र कहा गया है, यद्यपि यह एक धर्मप्राण देश है जहाँ अनेक धर्मों के लोग एक कानून के भीतर रहते हैं। यहाँ प्रचलित आठ प्रमुख धर्मों में चार की उत्पत्ति भारत में हुई है। अन्य चार धर्मों के मानने वाले भी भारत के ही नागरिक हैं। ब्रिटिश शासन में ईसाईयों और मुस्लिमों को सरकारी सेवाओं में विशेष मान्यता दी जाती थी। परन्तु आज के युग में धर्म के आधार पर सरकारी नौकरियाँ नहीं दी जातीं। यह इस युग की एक उपलब्धि है जिसे कुछ देशों को छोड़कर संसार के प्रायः सभी देशों में सिद्धान्त के रूप में व्यवहार में ले आया जाता है।

यह एक विचारणीय प्रश्न हमारे संविधान निर्माताओं के सामने उठा था कि हम भारत को किस तरह एक "धर्म-निरपेक्ष" राष्ट्र की संज्ञा दें। नेहरू जी को प्रारम्भ में यह शब्द खटका था, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसका समाधान शब्द की अभिधा से निकाल लिया और धर्म-निरपेक्षता की एक "एपिस्टेमॉलाजिकल" व्याख्या प्रस्तुत की जिसमें उसे धार्मिक एवं निजी विश्वासों की स्वतंत्रता का पर्याय बतलाते हुए उसके अन्तर्गत ऐसे व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया जिनका कोई धर्म ही नहीं है।

संविधान के 25 वें अनुच्छेद में व्यक्ति को किसी भी धर्म के मानने, उसका व्यवहार करने और प्रचारित करने का पूरा अधिकार दिया गया है। यह बात अवश्य है कि धर्म के नाम पर आपसी मतभेद और सम्प्रदायिकता का जहर फैलाने वाले के लिए संविधान में कठोर दण्ड का प्राविधान है।

---

१. के टी. टोपे, दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन (१९७१)

परम्परा और संस्कृति

भारत में धर्म-निरपेक्षता की परम्परा यहाँ की संस्कृति से इतने अभिन्न रूप से जुड़ी है कि उसका केवल समवायात्मक समीकरण संभव है। संसार में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ की सभ्यता पिछले चार हजार बरस के बराबर चली आ रही है। पश्चिमी एशिया के सुमेरी और अफ्रीका की मिस्री सभ्यताओं के समकक्ष सिन्धुघाटी की काँस्य सभ्यता के तत्त्व उनकी अपेक्षा कहीं व्यापक रूप में भारत की संस्कृति में प्रवाहमान हैं। इस सातत्य का एक रहस्य यह है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी अपने धार्मिक अथवा लौकिक विश्वासों में उस प्रकार अनुदार तथा पिछड़े न थे जैसा कि उर (सुमेर) से प्राप्त लेखों से सुमेरियों के सम्बन्ध में ज्ञात होता है। सुमेर के पुरोहितों ने "अनु" नामक "आकाश देवता" की कल्पना अपने समाज में दैवी राज्यसंस्था की स्थापना के लिए की थी। वह देवता राज्य-शक्ति का अधिष्ठाता था और जब कोई सुमेरी शासक मरता तो वह अपनी पत्नियों, सलाहकारों, भृत्यों और पशुओं के साथ उनकी, जीवितावस्था में ही दफना दिया जाता था। क्योंकि राजा "अनु" का प्रतीक था।[1] सुमेर मिस्र और इस्लाम के कठोर राज्य संस्था के सिद्धान्तों की जकड़ में अफ्रीका और यूरोप की सभी साम्राज्यवादी ताकतें 16वीं शती के जधार्यिकेल सुधार संगठनों और 18वीं 19वीं शती के जनान्दोलनों के समय तक जकड़ी रहीं।

इसके विपरीत भारत की एक अपनी ही परम्परा अतीत में सम्प्राप्त जीवन दर्शन के आधार पर कायम हुई। ऋग्वेद के "संज्ञान-सूक्त" में समान मन, समान हृदय और समान अध्यवसाय के बीज मंत्र दिए हुए हैं[2], जिनसे हम सहिष्णु बनने का संकल्प लेते हैं। इससे जो भावना आई वह सह अस्तित्व की थी। वैदिक युग में उस परम्परा की संस्कृति में घुलमिल जाने के बाद तक एक ही समय में यज्ञ संस्थानक धर्मकृतियों, मीमांसकों और कर्मकाण्ड को हेय बतलाने वाले ब्रह्मविचारक, औपनिषदकों को हम पुरुषार्थ साधन में लगे हुए देखते हैं। हमारे धर्मनिरपेक्षता की परम्परा के स्रोत उन्हीं वैदिक प्रस्थानों में हैं जिनकी सही विवृत्ति और उनके काल निर्धारण के सूत्र इतिहास के हाथ अभी नहीं लगे हैं।

---

१. सी. एल. खूली, दि सुमेरियन्स (आक्सफोर्ड, १९२८)
२. ऋग्वेद, संज्ञान-सूक्ता (१/४) १ इन मंत्रों की आवृत्ति अथर्ववेदीय' संज्ञान-सूक्त (पैप्पलाद संहिता ५/१६) में हैं।

कर्मकाण्ड की जटिलता और मानव सम्बन्धों में उत्पन्न विषमताओं से समाज में असन्तोष के साथ परिवर्तन के प्रति चाह जमी। संयोग से या परिस्थितियों के कारण ही बुद्ध और महावीर जैसे क्रान्तिकारी विचारकों का पृथ्वी पर आवि हुआ। उनसे समाज संदेशित हुआ और उनके विचारों का व्यापक रूप से देश भर में प्रचार हुआ। संघ की स्थापना समाज के ढाँचे को सुदृढ़ बनाने का प्रयोग था जो सबसे पहले भारत में बुद्ध द्वारा प्रवर्तित हुआ। जैन-धर्म विराटता की परिधि में पीछे छूट गया, बौद्ध-धर्म का प्रचार वेदान्त के साथ देश के बाहर भी हुआ अथवा यों कहें कि बाहर ही अधिक हुआ। बौद्ध धर्म अपनी थेरवादी परम्परा में लंका, वर्मा, स्याम (थाईलैण्ड), मलेसिया, इण्डोनेसिया, कम्बोडिया और वियतनाम आदि देशों में स्थापित हुआ तथा महादान अपने संदेशवाहकों द्वारा गान्धार (अफगानिस्तान), कश्मीर, नेपाल, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान और पामीर तथा आक्सस की विस्तृत उपत्यकाओं में फैला। इन देशों में बौद्धधर्म के विस्तार का एक प्रमुख कारण भगवान् बुद्ध का सर्वतोभद्र दयामय व्यक्तित्व और ज्ञान संसार था जिनकी जीवनी जातकों और अवदानों में निबद्ध कर कृतियों में तथा अनेक अभिराम चित्रों और मूर्तियों में व्यंजित कर भारतीय और विदेशी शिल्पियों ने अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी।

बौद्ध दर्शन में कुछ ऐसे आनुषंगिक तत्त्व हैं जिनका मनुष्य के ऊपर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस दर्शन में व्यक्ति की सापेक्ष्य सत्ता मानकर उसे परार्थ के लिए संप्रेरित किया गया है। "संसार" और "निर्वाण" के बीच भेद या विषमता की दूरी समाप्त कर नागार्जुन ने उसे एक ऐसे अनुभव के आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया है जहाँ हमें बुद्धि से जाने गये कार्य-कारण भाव (Duality) एवं जगत् के खोखले व्यवहारों (नानात्व= Pluralty of Phanomene) के ऊपर उठकर सोचने का अवसर है। यह "शून्यता" के रूप में व्याख्यायित प्रज्ञा का दर्शन है। इसी से महायान में बोधिसत्त्व का आदर्श निकला है।

बौद्ध विचारों को अशोक ने अपने अभिलेखों में इस तरह अंकित कराया जिससे धार्मिक और "सेक्युलर" दोनों अभिप्राय निकलते हैं उसने यह आज्ञा प्रसारित की कि जो कोई अपने सम्प्रदाय के प्रति विशेष मोह के कारण, अपने सम्प्रदाय की अभिवृद्धि के विचार से दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है वह उस तरह के अपने आचरण से अपने ही सम्प्रदाय को क्षति पहुँचाता है। अशोक के प्रचारक भारत की सीमा से बाहर हिमालय के परवर्ती एवं लंका, मिस्र और युनानियों द्वारा शासित प्रदेशों में गए

और उन्होंने अपनी जिस उदार तथा संवेदनशील नीति से लोक-संग्रह के कार्य किए उसका विश्वव्यापी प्रभाव हुआ।

बौद्ध-धर्म के इतिहास में अशोक के बाद मिलिन्द (मिनैण्डर), कनिष्क, हर्ष और पाल नरेशों द्वारा किए गए धर्म-प्रचार और समाज के लिए किए गए अथक प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है। जिन देशों में भारत का धर्म और उसका वाङ्मय गया वहाँ उनके आधार पर विशिष्ट संस्कृतियाँ बनीं जिनमें भारत की स्पष्ट छाप है।

मध्य-युग में बौद्धों का अन्य भारतीय विचारकों के साथ कुछ मत-वैषम्य था, फिर भी सामंजस्य की प्रवृत्ति पूर्ववत् रही। गुरु के प्रति श्रद्धा, अवलोकितेश्वर को विष्णु के समान लोकनाथ के रूप में देखने की दृष्टि एवं आर्यातारा जैसी भारत, नेपाल और तिब्बत में समान रूप से संपूजित देवी की आराधना, इस बात के प्रमाण हैं कि भारत के भीतर, अन्य धार्मिक परम्पराओं के साथ कोई द्रोह नहीं था। इसलिए मुझे एलौरा की गुफाओं में बुद्ध के साथ गणपति और सरस्वती की प्रतिमाओं को देखकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। 8वीं शती के उत्तरार्द्ध से 12वीं शती तक पाल-नरेशों के समय में महायान का व्यापक प्रचार भारत के पूर्वी भाग में बिहार से लेकर उड़ीसा, बंगाल और असम तक हुआ था। महायान की प्रेरणा मध्य देश के सारे भूखण्ड में तथा हिमालय के सीमान्त में साहित्य, कला, दर्शन और पूजा संस्कारों के द्वारा लोक- जीवन में समाहित है। इस काल की विशेषतायें उस समय प्रकट होंगी जब हमारे सामने तंत्र का विशाल वाङ्मय उसकी बिखरे वेष्टविदों से निकल कर सिद्धों की उस परम्परा का बोध कराएगा जिसने जीवन मूल्यों में परिवर्तन के लिए अनेक सन्तों को तैयार किया था।

तुर्की आक्रमण के पश्चात् बौद्धधर्म के नेपाल और तिब्बत में सिमट जाने पर वैष्णवों का प्रभाव पूर्व में स्थायी रूप से बढ़ा। एक बात यह अवश्य हुई कि तंत्र के विकसित रूप का प्रभाव महायान की वज्रयानी धारा पर उसी तरह पड़ा जैसा कि वैष्णवों की शक्तिधारा पर।

नालन्दा, ओदन्तपुरी और विक्रमसिला आदि के विहारों के ध्वंस के बाद बौद्ध पण्डित हिमालय में चले गए, परन्तु दक्षिण में शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के मायावाद के प्रतिपक्ष में उठ खड़े हुए दो मतों का प्रचार उस समय उत्तर-भारत में बढ़ा। इनमें से एक मत था तेलगु निम्बार्क का वैष्णव सनक सम्प्रदाय, जो भक्ति-प्रधान था और जिसके अनुसार ब्रह्म, जीव और जड़ जगत् भिन्न होते हुए भी

एकरूप हैं, एकरूप इसलिए हैं क्योंकि जीव और जड़ दोनों ब्रह्म पर आधारित हैं। उनकी अलग कोई सत्ता नहीं है। निम्बार्क का मत इस तरह एक साथ ही अद्वैत और द्वैत का समर्थक है। निम्बार्क के बाद दूसरा मत मध्वाचार्य द्वारा स्थापित माध्वमत था। इस सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत बढ़ा।

कुछ समय पश्चात् दक्षिण भारत के अलवार और रामानुज के आस्तिक आन्दोलनों तथा रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम जैसे सन्तों द्वारा की गई जातिवाद की आलोचनाओं के बाद भक्ति आन्दोलन की एक ऐसी लहर उठी जिससे समाज की विशृंखलता थम गई और मनुष्य के सामने एक नए समाज का ऐसा रूप खड़ा हुआ जो व्यवहार के जगत् में क्रान्ति ले आने वाला था। भक्ति आन्दोलन ने जहाँ हिन्दुओं को अधिक सहिष्णु बनाया वहीं उनकी उदार नीतियों से इस्लाम के भारतीय रूप में भी परिवर्तन उत्पन्न किया।

यह हमें शिया मत के हिन्दू व्यवहारों के निकट और खोजा मतानुयायियों के अली को विष्णु के दसवें अवतार का दर्जा देने तथा इसी तरह तसब्बुफ (सूफी मत) के वेदान्त के विचारों से मिलते-जुलते होने से अनुभव होता है।

भारत के इस्लामी इतिहास में कई ऐसे शासक हो गए हैं जो एक धर्म विशेष से जुड़े होते हुए प्रायः सभी दूसरे धर्मों के प्रति अत्यन्त उदार थे। उनमें रजिया, अकबर और हैदर के नाम विख्यात हैं। अकबर तो अपने फतेहपुर सीकरी के इबादतखानों में हर धर्म और सम्प्रदाय के आचार्यों की तकरीरें सुनता था और इस तरह वह शुद्ध ज्ञान की तलाश में रहा करता था। व्यवहार में भी अकबर उतना ही उदार था जितना मानव ज्ञान के प्रति।

आस्थावान् उम्मः (समुदाय) के समर्थक फिरकापरस्ती के लिए विख्यात मुस्लिमों में अली की नृशंस हत्या के बाद दमिश्क में उम्मैया राजवंश की स्थापना के समय से लेकर पश्चिमी एशिया, अफ्रीका के पूर्वी तट एवं एशिया के अन्य देशों में शिया, सुन्नी, इसमायली, सूफी आदि के बीच अनवरत बखेड़े छिड़ते रहे हैं और उन्होंने ईसाईयों और यहूदियों के साथ 13वीं शती में सारी शती "जिहाद" (धर्म युद्ध) को अर्पित कर दी। परन्तु यह शायद भारत की धार्मिक सहिष्णुता का परिणाम था जो अकबर धर्मान्धता से बच गया।

अकबर की धर्मनीति और फारस के सूफी सन्तों के सद्विचारों को पश्चिमी विज्ञान से मिलाकर 20वीं शदी में मुस्तफा कमाल अतातुर्क ने एक धर्म-निरपेक्ष तुर्की राष्ट्र की स्थापना की (1923 ईसवी)। इसलाम में आने वाली इस चेतना का स्वागत करना चाहिए। कुछ समय पूर्व इण्डोनेशिया में तत्कालीन राष्ट्रपति सुकर्णो ने समाजवादी राष्ट्रीय और आर्थिक आन्दोलन चलाए थे। वे भी भविष्य के लिए कुछ संकेत देते हैं।

जब हम कुछ पश्चिमी जगत् की परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो वहाँ पाते हैं कि यूनानी समाज में प्लातोन (Pleto) और अरस्तू (Arostotle) के दर्शन मे जहाँ राजशक्ति को सब कुछ माना गया है, वहाँ समाज के साधारण वर्ग के लिए कोई सन्देश नहीं है। इसका कारण यह है कि वे राजा की अधिसत्ता और उपनिवेशवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार सिकन्दर महान् था क्योंकि उसने भूमध्यसागरीय और पश्चिमी एशिया के देशों में राजसत्ता स्थापित की थी और अपने पीछे उपनिवेशियों की एक लम्बी कतार लगा दी थी जिनके द्वारा यूनानी आकांक्षाओं की सम्पूर्ति होती थी।

यूनानियों की तरह रोमन भी "दासप्रथा" के कायल थे। निरीह दासों के श्रम के बल पर बुला और कानून के वे संरक्षक बने हुए थे। संसार में उन्होंने कई देशों की विजय की, उपनिवेश बनाए और यूरोप में अनेक भवनों के निर्माण के साथ सत्तर हजार किलोमीटर के आयाम में सड़कें बनाई। इस सब में दासों का बहुत बड़ा हाथ था।

यूरोप में जब ईसाईयों का महत्त्व बढ़ा तो बहुत दिनों तक तो वे केवल अपने साम्प्रदायिक झगड़ों में उलझे रहे या "आत्मा", द्रव्य (सत् एवं असत्), बपतिस्मा, पुराने और नए वसीयतनामें (टेस्टामेण्ट) तथा सुसमाचारों (गॉस्पेल) को लेकर विवाद करते रहे। समाज की आवश्यकता पर उनका ध्यान उस समय नहीं जाता था। इससे आगे चलकर "चर्च" (मंठ) और "स्टेट" (राज्य) के झगड़े प्रारम्भ हुए। जब पोप के संरक्षण में चर्च की मठ-सम्बन्धी नई नीति (Episcopal polity) निर्धारित की गई तो प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बियों ने उसका विरोध "प्रेसबाइटेरियन" एवं "कांग्रिगेशनल" संघ-संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ किया। उसके बाद ही वहाँ धर्म सुधार आन्दोलन चला, जिसमें कई धर्माचार्यों ने सक्रिय भाग लिया। उन सुधारवादियों में जॉन बाइक्लिफ, जॉन हस, मार्टिन लूथर, उलरिख ज्विंग्ली और जॉन काल्वन सभी भिन्न ढंग से कैथेलिक नीतियों का विरोध करते थे।

धर्म के नाम पर आपसी मतभेदों के कारण अनेक संघर्ष हुए और इस्लाम के साथ 13वीं शदी में उन्होंने "क्रूसेड" (धर्मयुद्ध) किए। अगर हम उनका पिछला इतिहास देखें तो वहाँ रक्त की धारायें ही दिखाई देंगी। उस वातावरण की कार्ल मार्क्स ने यदि आलोचना की है तो ऐसा करने से उसने इतिहास को एकपक्षीय होने से अवश्य बचाया है।

ईसाई समुदाय बीसवीं शदी तक काफी कुछ सुधर चुका है। परन्तु अभी भी उसके कुछ विचार उलझे हुए हैं। विरोधाभास से रंजित हैं। "दासप्रथा" के सम्बन्ध में ईसाई प्रारम्भ से दो मतों में विभक्त रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बहुत से ईसाई इस बात के समर्थक हैं कि दास-प्रथा बाइबिल में वैध है। इस धारणा का अनुचित लाभ लेकर "रंगभेद" की नीति को भी वहाँ प्रश्रय मिला हुआ है।

इसी प्रकार के विचारों से आन्दोलित होकर बहुत से अमेरिकावासी "परमाणविक निःशस्त्रीकरण" की भावना को समझने में असमर्थता व्यक्त करते हैं। फिर भी आज वे विचारों को देखकर वे अपनी नीतियों में सुधार ले आ रहे हैं। नेबर (Rein hold Nebhar), बार्थ (Karl barth) और बॉनहाफर (Bohhoeffer) ने जिनमें नेबर अमेरिका के हैं और दो स्विस और जर्मन "नात्सीवाद" के प्रबल विरोध के लिए प्रसिद्ध हैं। इसी तरह अमेरिका में "नारी अधिकार", "यौन सम्बन्धों पर विचार" और दूसरे सामाजिक दोषों से छुटकारा दिलाने के लिए सामाजिक गॉस्पेल आन्दोलन चलाए जा रहे हैं। इससे धर्म-निरपेक्षता की राह अवश्य सुगम हो सकेगी।

धर्म का उद्देश्य किसी तरह की सामाजिक अव्यवस्था या अराजकता उत्पन्न करना नहीं है। इसलिए सभी धर्मों को मानवता की एक भूमि पर आकर मानव जाति के कल्याण के लिए प्रयत्न करना है। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में "धर्म एक विकासशील आन्दोलन है, इसलिए इसकी कोई भी अवस्था या रूप पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। कोई भी ऐतिहासिक धर्म निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय सत्य नहीं माना जा सकता। आखिर, पृथ्वी पर जो प्राचीनतम चट्टानें हैं, उनकी आयु को देखा जाय, तो उसकी तुलना में मनुष्य का इतिहास कितना नगण्य है, और यदि किसी धर्म की आयु का विचार करें, तो उसको देखते हुए मनुष्य का जीवन और भी कम महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है, फिर यह मानना तो एक दुःसाहस ही है कि इतनी थोड़ी-सी अवधि में हमने निरपेक्ष, पूर्ण एवं अन्तिम सत्य को जान लिया है।"[1]

---

१. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, दूसरा संस्करण, १९७०, पृ० ३७३.

धर्म के मर्म को केवल एक उदार दृष्टि रखने वाला प्रज्ञावान् ही जान सकता है। भौतिक विज्ञान ने आज जितनी भी उपलब्धि की है वह उस प्रज्ञा का एक अंश भी नहीं है। परन्तु मुझे यह स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं है कि प्रज्ञा के प्रयोग के लिए हमें भौतिक विज्ञान का सहारा लेना होगा और इस कारण एक नई दृष्टि से समाज की व्याख्या करनी होगी।

धर्म-निरपेक्ष मानववाद

ऊपर के विश्लेषण से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि हम अपने पुराने ज्ञान में जो हमें परम्परा से प्राप्त हुए हैं तथा नए अनुभव के आधार पर एक धर्मनिरपेक्ष, अपृथकतावादी, गतिशील समाज का निर्माण कर सकते हैं। जिनकी संरचना मानववादी आधार पर हुई हो। बुद्ध के मानववादी विचारों में वह समस्त ऊर्जा वर्तमान है जिसका उपयोग गाँधी जी के रचनात्मक दर्शन के आधार पर करना संभव है।

भारत अभी कई लोकतांत्रिक विधाओं के बीच से निकल कर "समाजवाद"[1] की दिशा तक आया है वह अभी अपने लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास कर रहा है। लक्ष्य तक जाने के लिए हमें "अधिकार" के साथ-साथ "कर्त्तव्य की चुनौती को स्वीकार करना आवश्यक है। हमारे धर्मशास्त्र और समस्त व्यवहार की परम्परा धर्म और कर्म की रही है। कर्म की विस्तृत व्याख्या संविधान में न होने से ही वह अपूर्ण है।"

इस सम्बन्ध में स्वयं नेहरू के विचार इस तरह के रहे हैं-

"All of us now talk of demand rights and privileges but the teaching of the old dharma was about duties and obligations. Rights follow duties discharged.[2] "

ये मानववादी विचार किसी वर्ग, संस्था या धर्म का प्रतिनिधित्व न कर सारी मानवता के स्वर में अभिव्यक्त हुए हैं। अगर हम जगत् के प्रति संवेदनशील होकर

---

१. संविधान के ३८वें अनुच्छेद में समाजवाद के विषय में केवल यह कहा गया है-
"The State shall strive to promote the welfare of the people by securing and protecting as effectively as it may a social order in which justice, social, economic, political, shall inform all the institutions of the national."

२. जवाहरलाल नेहरू, आजाद मेमोरियल लेकचर्स (इण्डिया टूडे ऐण्ड टूमारो, १९५९) पृ० ४५

उसके क्लेश को समझ सकते तो हमें कर्त्तव्य का बोध ही अधिक होता, अधिकार की लिप्सा हमारे जीवन में शायद गौण रह जाती।[1]

मानव विचार की सम्पत्ति को ध्यान में रखकर जब हम अपनी राज्य संस्थाओं और सामाजिक संगठनों का उनकी सारता एवं खोखलेपन में विचार करते हुए विश्लेषण का प्रयत्न करेंगे तो ऐसे कुछ सूत्र अवश्य प्राप्त होंगे जिनसे हम देश के संविधान को अधिक प्रामाणिक और विचारग्राह्य बना सकेंगे।

जहाँ तक भौतिक विज्ञान के विश्वव्यापी प्रयोग की बात है हम भौतिकशास्त्रियों के इस तर्क से भी सहमत है कि-

"We believe it approriate to express the view that machines do not think and will hardly ever think-just as man does, as a rational being does living in society, endowed with intellectual needs and using natural language for exchanging ideas with other rational beings. But the man working in co-operation with. Computers, undoubtedly, thinks better and in a different way from the man who is compelled to restrict himself to primitive instrumentsin mechnising, his intellectual labour.[2]"

●

---

१. तुलना कीजिए-डॉक्टर श्वीज़ुर के इस विचार से कि "यदि संसार की सत्यता से हमारा विरोध हो तो आचार-नीति का कोई महत्व नहीं है।" मनुष्य के लिए फिर एक ही काम बचा रहेगा कि वह भौतिक संसार में विश्वास करने के मिथ्यात्व को समझ ले। (इण्डियनन थॉट ऐण्ड इट्स डेवलपमेण्ट)

२. एन. ई. ओमेल्यानोव्स्की, लेनिन ऐण्ड मॉडर्न नैचुरल सायंस (रूप की अनुवाद) मास्को, १९७८. पृ० ४२२.

भारत में धर्मनिरपेक्षता : एक राजनीतिक विवेचन

डॉ. शम्भुनाथ मिश्र

धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा आधुनिक युग की देन मानी जाती है। मध्यकाल के अन्त तक धर्मनिरपेक्षता की चर्चा एक असंगत विषय था। पूरे मध्यकाल में यूरोप में धर्मसत्ता और राज्यसत्ता के बीच होने वाले निरन्तर संघर्षों के परिणामस्वरूप राज्य तथा चर्च के पृथक्करण की आधार भूमि पर ही आधुनिक युग का प्रादुर्भाव हुआ था। राज्यसत्ता को प्रधान माना गया। चर्च का स्थान गौण हो गया। वह राज्य का एक समुदाय मात्र बनकर रह गया।

यह क्रान्तिकारी परिवर्तन बहुत दिनों तक केवल सैद्धान्तिक आवरण में ही आबद्ध रहा। इसे व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका। व्यक्तिगत वस्तु मानते हुए भी धर्म को राज्य का प्रश्रय मिलता रहा। ग्रेट ब्रिटेन में राज्याभिषेक के समय 1910 तक "मुकुट" (क्राउन) पद के उत्तराधिकारियों को यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह आजीवन प्रोटेस्टेण्ट धर्म का अनुयायी बना रहेगा। रोमन कैथोलिक धर्मावलम्बियों के लिए इंगलैण्ड का यह शीर्षस्थ पद आज भी दुर्लभ है। आज भी इंग्लैण्ड की रानी को "एंग्लिकन चर्च का संरक्षक" माना जाता है। यूरोप के अन्य देशों में भी कुछ समय पूर्व तक यही स्थिति थी। वहाँ प्रायः सभी देशों में एक न एक राजकीय धर्म हुआ करता था। साम्प्रदायिक विद्वेष तथा "दो राष्ट्रों" के सिद्धान्त पर संस्थापित पाकिस्तान ने अपने जन्म के 4 दशक बाद भी धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। वहाँ "इस्लाम के आदर्शों के अनुरूप लोकतन्त्र" की स्थापना की गयी थी। सैनिक शासन के अन्तर्गत भी पाकिस्तान में इस्लाम के सिद्धान्तों की मूर्खतापूर्ण व्याख्या द्वारा महिलाओं को साड़ी पहनने, चलचित्रों के देखने तथा हाकी खेलने तक से वंचित कर दिया गया। हाकी को परदे पर भी खेलने में प्रतिबन्ध है। पाकिस्तान के अतिरिक्त मध्य पूर्व के प्रायः सभी अरब देशों में इस्लाम को एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। अयातुल्ला खोमैनी के नेतृत्व में ईरान की इस्लामिक क्रान्ति तथा इस्लामिक गणतन्त्र की स्थापना धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध एक सशक्त कदम है। 1948 में अरबों की भूमि पर संस्थापित इसराइल के निर्माण में भी यहूदी धर्म की शक्तिशाली भूमिका रही है

और उस छोटे से देश की महान् उपलब्धियों में वहाँ के नागरिकों की यहूदी धर्म के प्रति प्रबल आस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

साम्यवादी गुट के देशों में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का कार्यान्वयन असम्भव है। वहाँ धर्म का विरोध है। वे धर्म के प्रति उदासीन ही नहीं बल्कि उसके कट्टर विरोधी हैं। वे धर्म को "झूठ का भण्डार" तथा "जनता की अफीम" मानकर उसके विरुद्ध एक मोर्चा बनाये हुए हैं।

इंग्लैण्ड में भी सामान्य जनता अब धर्म के प्रति उदासीन होती जा रही है। चर्च जाने वालों की संख्या बहुत कम होने लगी है। इसके फलस्वरूप वहाँ के चर्चों के भव्य भवनों को बेचा जा रहा है। लन्दन में कुछ ऐसे चर्च-भवनों को मन्दिरों में परिवर्तित किया गया है। अमेरिका में जहाँ धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पूर्ण समादर है, हाल के वर्षों मे जनता विशेषतया नवयुवक अपने पारिवारिक धर्म के प्रति विद्रोह कर हिन्दू धर्म को अपना रहे हैं। वहाँ भी कई हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हो चुका है। आयरलैण्ड में रोमन कैथोलिक धर्म की विशेष मान्यता तथा बर्मा एवं दक्षिणपूर्व एशिया के कुछ अन्य देशों में बौद्धधर्म की विशेष स्थिति को धर्मनिरपेक्षता के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की घोषणा एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। प्राचीन, मध्यकालीन अथवा आधुनिक भारत, धर्मनिरपेक्षता के आदर्श से काफी दूर रहा है। प्राचीन भारत में धर्म को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह जीवन का एक प्रधान अंग था। राज्य और राज्य की उत्पत्ति के पूर्व धर्म ही पूजा का रक्षक था। महाभारत में लिखा है-

न राज्यं न च राजासीद् न दण्डो न च दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

प्राचीन भारत में धर्म से च्युत हो जाने पर रक्षक एवं राज्य की व्यवस्था हुई थी। बाद में भी प्राचीन भारत में धर्म को सर्वोच्च स्थान अन्त. तक प्राप्त रहा। मुसलमानों ने हिन्दू धर्म पर प्रहार भी किया। मन्दिरों पर आक्रमण हुए। उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। हिन्दुओं से बलात् चौथ और रजिया वसूल किये गये अकबर ने सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों का समन्वय कर "दीन इलाही" नामक एक राज्य धर्म भी चला दिया। अंग्रेजों के दो सौ वर्षों के शासनकाल में धार्मिक विशेष चरम सीमा पर पहुँच गया था। धर्म तथा अन्य आधारों पर फूट डालकर वे शासन

करते रहे। प्रायः साम्प्रदायिक दंगे हो जाया करते थे जिनसे धन तथा जन की यथेष्ट क्षति होती थी।

इस प्रकार भारत एक लम्बे समय से धर्म के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक विद्वेष से त्रस्त रहा है। इसी द्वेष के कारण धार्मिक विद्वेष को सर्वदा के लिए निर्मूल करने के उद्देश्य से हमारे संविधान निर्माताओं ने मूल अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद २५,२६,२७ और २८ के द्वारा सभी धर्मों को स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार देकर, राज्य धर्म के विचार को समाप्त कर तथा राज्य द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाकर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाया।

भारत में कई धर्मों के अनुयायी बड़ी संख्या में रहते हैं। सभी धर्मावलम्वी धर्म को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में बहुत महत्त्व देते हैं। ऐसी परिस्थिति में धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श को अपनाकर भारत ने अपनी आधुनिकता और प्रगतिशीलता का परिचय दिया। राज्य का अपना कोई विशेष धर्म नहीं है। वह सभी धर्मों के प्रति तटस्थ है। प्रत्येक नागरिक को स्वेच्छा से किसी धर्म का पालन करने का अधिकार है। धर्म या विश्वास के आधार पर राज्य द्वारा कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा। प्रत्येक नागरिक को सरकारी पद अथवा नौकरी पाने का अधिकार है। भारत के अब तक हुए 7 राष्ट्रपतियों में 2 मुसलमान हो चुके हैं। अन्य वरिष्ठ पदों पर भी सभी धर्मावलम्बियों का चयन हो रहा है। इसके प्रतिकूल पाकिस्तान में आज तक किसी हिन्दू को किसी उच्च पद पर आसीन नहीं किया गया है।

धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ नहीं है कि सरकार जनता को नास्तिक या धर्मविरोधी बनाना चाहती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक है और न अधार्मिक, वह धर्मविरोधी भी नहीं है। वह धार्मिक मामलों में तटस्थ है। कामथ के शब्दों में "एक धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो नास्तिक होता है, न धर्मविरोधी और न अधार्मिक।" चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के मतानुसार-"धर्मनिरपेक्ष भारत धर्म को न तो हतोत्साहित करेगा और न उसका विरोध। वह सभी धर्मों तथा उनकी संस्थाओं के प्रति निष्पक्ष रहेगा।"

धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के प्रति उदासीन भी नहीं रहता। धार्मिक मामलों में वह तटस्थता की नीति अपनाता है। तटस्थता की वह नीति नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक होगी। राष्ट्रीय उत्थान, सामाजिक हित तथा नागरिकों के कल्याण के लिए

और उस छोटे से देश की महान् उपलब्धियों में वहाँ के नागरिकों की यहूदी धर्म के प्रति प्रबल आस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

साम्यवादी गुट के देशों में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का कार्यान्वयन असम्भव है। वहाँ धर्म का विरोध है। वे धर्म के प्रति उदासीन ही नहीं बल्कि उसके कट्टर विरोधी हैं। वे धर्म को "झूठ का भण्डार" तथा "जनता की अफीम" मानकर उसके विरुद्ध एक मोर्चा बनाये हुए हैं।

इंग्लैण्ड में भी सामान्य जनता अब धर्म के प्रति उदासीन होती जा रही है। चर्च जाने वालों की संख्या बहुत कम होने लगी है। इसके फलस्वरूप वहाँ के चर्चों के भव्य भवनों को बेचा जा रहा है। लन्दन में कुछ ऐसे चर्च-भवनों को मन्दिरों में परिवर्तित किया गया है। अमेरिका में जहाँ धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पूर्ण समादर है, हाल के वर्षों मे जनता विशेषतया नवयुवक अपने पारिवारिक धर्म के प्रति विद्रोह कर हिन्दू धर्म को अपना रहे हैं। वहाँ भी कई हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हो चुका है। आयरलैण्ड में रोमन कैथोलिक धर्म की विशेष मान्यता तथा बर्मा एवं दक्षिणपूर्व एशिया के कुछ अन्य देशों में बौद्धधर्म की विशेष स्थिति को धर्मनिरपेक्षता के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की घोषणा एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। प्राचीन, मध्यकालीन अथवा आधुनिक भारत, धर्मनिरपेक्षता के आदर्श से काफी दूर रहा है। प्राचीन भारत में धर्म को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह जीवन का एक प्रधान अंग था। राज्य और राज्य की उत्पत्ति के पूर्व धर्म ही पूजा का रक्षक था। महाभारत में लिखा है-

न राज्यं न च राजासीद् न दण्डो न च दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

प्राचीन भारत में धर्म से च्युत हो जाने पर रक्षक एवं राज्य की व्यवस्था हुई थी। बाद में भी प्राचीन भारत में धर्म को सर्वोच्च स्थान अन्त तक प्राप्त रहा। मुसलमानों ने हिन्दू धर्म पर प्रहार भी किया। मन्दिरों पर आक्रमण हुए। उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। हिन्दुओं से बलात् चौथ और रजिया वसूल किये गये अकबर ने सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों का समन्वय कर "दीन इलाही" नामक एक राज्य धर्म भी चला दिया। अंग्रेजों के दो सौ वर्षों के शासनकाल में धार्मिक विशेष चरम सीमा पर पहुँच गया था। धर्म तथा अन्य आधारों पर फूट डालकर वे शासन

करते रहे। प्रायः साम्प्रदायिक दंगे हो जाया करते थे जिनसे धन तथा जन की यथेष्ट क्षति होती थी।

इस प्रकार भारत एक लम्बे समय से धर्म के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक विद्वेष से त्रस्त रहा है। इसी द्वेष के कारण धार्मिक विद्वेष को सर्वदा के लिए निर्मूल करने के उद्देश्य से हमारे संविधान निर्माताओं ने मूल अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद २५,२६,२७ और २८ के द्वारा सभी धर्मों को स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार देकर, राज्य धर्म के विचार को समाप्त कर तथा राज्य द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाकर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाया।

भारत में कई धर्मों के अनुयायी बड़ी संख्या में रहते हैं। सभी धर्मावलम्वी धर्म को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में बहुत महत्त्व देते हैं। ऐसी परिस्थिति में धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श को अपनाकर भारत ने अपनी आधुनिकता और प्रगतिशीलता का परिचय दिया। राज्य का अपना कोई विशेष धर्म नहीं है। वह सभी धर्मों के प्रति तटस्थ है। प्रत्येक नागरिक को स्वेच्छा से किसी धर्म का पालन करने का अधिकार है। धर्म या विश्वास के आधार पर राज्य द्वारा कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा। प्रत्येक नागरिक को सरकारी पद अथवा नौकरी पाने का अधिकार है। भारत के अब तक हुए 7 राष्ट्रपतियों में 2 मुसलमान हो चुके हैं। अन्य वरिष्ठ पदों पर भी सभी धर्मावलम्बियों का चयन हो रहा है। इसके प्रतिकूल पाकिस्तान में आज तक किसी हिन्दू को किसी उच्च पद पर आसीन नहीं किया गया है।

धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ नहीं है कि सरकार जनता को नास्तिक या धर्मविरोधी बनाना चाहती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक है और न अधार्मिक, वह धर्मविरोधी भी नहीं है। वह धार्मिक मामलों में तटस्थ है। कामथ के शब्दों में "एक धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो नास्तिक होता है, न धर्मविरोधी और न अधार्मिक।" चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के मतानुसार-"धर्मनिरपेक्ष भारत धर्म को न तो हतोत्साहित करेगा और न उसका विरोध। वह सभी धर्मों तथा उनकी संस्थाओं के प्रति निष्पक्ष रहेगा।"

धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के प्रति उदासीन भी नहीं रहता। धार्मिक मामलों में वह तटस्थता की नीति अपनाता है। तटस्थता की वह नीति नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक होगी। राष्ट्रीय उत्थान, सामाजिक हित तथा नागरिकों के कल्याण के लिए

धार्मिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये बिना वह धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

कट्टर धर्मानुयायी हिन्दू संविधान की धमनिरपेक्षता के कठोर आलोचक हैं। उनकी यह आशंका है कि समाज सुधार के नाम पर राज्य हिन्दू संस्कृति का विनाश कर देगा। हिन्दू कोड बिल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। ये लोग पूरे देश को एक संस्कृति, एक भाषा और एक साहित्य के अन्तर्गत लाकर राष्ट्रीय एकता तथा हिन्दू राष्ट्र का स्वप्न देखते हैं।

राज्य की सहायता से इस प्रकार की राष्ट्रीय एकता स्थापित करने से अल्पसंख्यकों में असन्तोष और विरोध होगा। दूसरी उल्लेखनीय बात इस सन्दर्भ में यह है कि सती प्रथा पर रोक, दहेज विरोधी कानून, विधवा विवाह, बाल विवाह पर रोक आदि प्रगतिशीलता के परिचायक हैं। इन कार्यों से हिन्दू संस्कृति के विनाश की कल्पना भयावह होगी। भारतीय संस्कृति पूर्णतया हिन्दू संस्कृति नहीं है। इसमें मुस्लिम तथा पाश्चात्य संस्कृति के तत्त्वों का समावेश हुआ है। इसे अब हिन्दू संस्कृति न कहकर भारतीय संस्कृति कहना अधिक उपयुक्त होगा। विदेशी संस्कृतियों के संसर्ग से अपनी संस्कृति को अलग रखना संकीर्णता का द्योतक होगा।

धर्मनिरपेक्षता से ही अल्पसंख्यकों की रक्षा सम्भव है। धर्म-सापेक्षता से भारत में अनेक धर्मों की एकता आकाश-कुसुम बन जायेगी और मुस्लिम तथा ईसाई आबादी वाले राष्ट्रों से मिलने वाली सहायता और सहानुभूति से भी उसे वंचित होना पड़ेगा। अपने देश में धर्मनिरपेक्षता के बावजूद कुछ मुसलमानों में पृथक्त्व की भावना उभर चुकी है। स्वतंत्र भारत में भी वर्षों पूर्व मुस्लिम लीग की पुनः स्थापना हो चुकी है। वह निर्वाचनों में भी भाग ले रही है। संसद तथा विधानसभाओं में उसे सफलता भी मिलती रही है।

धर्मनिरपेक्षता सहिष्णुता का परिणाम है। प्रत्येक धर्मानुयायी को समान अधिकार और समान अवसर प्राप्त होने चाहिए, चाहे उसका धर्म कुछ भी क्यों न हो। मनुष्य का धर्म उसकी व्यक्तिगत उपासना पद्धति से सम्बन्धित है। राज्य का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। एक धर्म के अनुयायी को दूसरे धर्मों के अनुयायियों की उपासना में बाधक नहीं बनना चाहिए। धार्मिक सहिष्णुता वर्तमान सभ्यता की एक प्रमुख अंग बन चुकी है। हिन्दू धर्म में अनादिकाल से धार्मिक सहिष्णुता की उदारता का दर्शन होता रहा है। इस धर्म के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदाय अपनी-अपनी पद्धति

से अपने प्रभु की आराधना निर्बाध रूप से करते रहे हैं। अनीश्वरवादी धर्म और ईश्वरवादी धर्मों में भी विरोध नहीं रहा। महात्मा गाँधी ने भी इस विचार को अपना कर "भारत सबके लिए" पुनीत सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप दिया। अपने भजन में उन्होंने ईश्वर और अल्ला दोनों को एक साथ स्मरण कर धार्मिक सहिष्णुता के आदर्श को और अधिक व्यापक बनाया था और हिन्दू-मुस्लिम एकता की वेदी पर अपने प्राण भी न्यौछावर किया था।

धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को व्यावहारिक और यथार्थवादी रूप देने के लिए भारत में देशी-विदेशी धर्म-प्रचारकों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना होगा। अपने देश में ऐसी संस्थाएँ काफी अधिक संख्या में सक्रिय हैं। इस कार्य के लिए उन्हें विदेशों से पर्याप्त धन मिलता है। ये संस्थाएँ काफी संख्या में अपने देश के गरीब और अशिक्षित लोगों को विभिन्न प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन करती रही हैं। हाल ही में एक बड़ी संख्या में हरिजनों का धर्म परिवर्तन कर उन्हें मुसलमान बनाया गया। धर्म-प्रचारकों का यह कार्य धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध है-

अपने धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की चकाचौंध में हमें अपनी जातीय प्रतिमा आध्यात्मिकता की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। प्राचीन यूनान में बौद्धिक महत्ता के द्वारा मनुष्य जाति को अमूल्य निधियों की भेंट दी गयी। प्राचीन रोम ने नागरिक महत्ता के आदर्श पर विश्व को विधि और प्रशासन के मूल्यवान् सिद्धान्त दिये। प्राचीन भारत ने भी इसी प्रकार आध्यात्मिक महत्ता के आधार पर कुछ अक्षय आध्यात्मिक तत्त्व प्रदान किये जिनकी अभिव्यक्ति उपनिषदों, पुराणों और रामायण में हुई है। इन आध्यात्मिक तत्त्वों का किसी धर्म से विरोध नहीं है। धर्मनिरपेक्षता के आदर्श में इनकी अपेक्षा घातक होगी।

यह बात विशेष रूप से विचारणीय है कि अंग्रेजों के शासनकाल अथवा स्वतन्त्र भारत में जो साम्प्रदायिक उपद्रव हुए हैं वे हिन्दू और मुसलमानों के बीच ही हुए हैं। यहाँ हिन्दू मुसलमानों के अतिरिक्त ईसाई, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी आदि धर्माबलम्बी भी रहते हैं। स्वतन्त्र-भारत में जहाँ कहीं भी साम्प्रदायिक उपद्रव हुए, चाहे वह सम्भल हो, मुरादाबाद हो, अलीगढ़ हो, जमशेदपुर हो, अहमदाबाद हो, संघर्ष हिन्दू धर्मावलम्बी और इस्लाम के अनुयायियों के बीच ही हुए। यह सत्य है कि संख्या की दृष्टि से मुस्लिम समाज सबसे बड़ा अल्पसंख्यक वर्ग है जिसके सन्तोष के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा कई कदम उठाये गये हैं, फिर भी इन दोनों के बीच साम्प्रदायिक द्वेष की भावना कम नहीं हुई है। कुछ राज्य सरकारों ने उर्दू को

द्वितीय राजभाषा का सम्मान दिया तो कहीं छात्रों को संस्कृत के स्थान पर उर्दू पढ़ने को बाध्य कर हजारों उर्दू शिक्षकों की नियुक्ति की गयी। इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रति जब कभी भी कुछ हल्का-सा भी प्रतिवाद होता है अथवा इस धर्म के सिद्धान्तों का किसी कार्य, प्रकाशन या फिल्मों द्वारा अपमान होता है तो सरकार के नीचे से लेकर शीर्षस्थ व्यक्तियों के कान खड़े हो जाते हैं। कई वर्ष पूर्व हजरत मोहम्मद साहब के बाल की घटना से पूरा प्रशासन उद्वेलित हो उठा था। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में इस राज्यस्तरीय शासकीय सतर्कता का पूर्णतया अभाव है तभी तो हमारे धार्मिक चलचित्रों में रावण बीड़ी पीता है, लक्ष्मण हकलाकर बोलते हैं, और सीता अर्द्धनग्न वस्त्रों में आधुनिक नृत्य करती हैं। बहुसंख्यकों के धर्म के प्रति ऐसी शासकीय उपेक्षा धर्मनिरपेक्षता की आधारशिला को दुर्बल बनाती है।

●

धर्म-निरपेक्षता और बौद्धधर्म

डॉ० सागरमल जैन

वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप आज हमारा विश्व सिमट गया है। विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न धर्मों के लोग आज एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में हैं, साथ ही औद्योगिक प्रगति और विशिष्टीकरण से परस्पराश्रित हो गये हैं। आज किसी भी धर्म और संस्कृति के लोग दूसरे धर्मों और संस्कृतियों से निरपेक्ष होकर जीवन नहीं जी सकते हैं। हमारा दुर्भाग्य यह है कि इस परिवेशजन्य निकटता और पारस्परिक निर्भरता के बावजूद आज मनुष्य के बीच हृदय की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। वैयक्तिक स्वार्थलिप्सा के कारण हम एक-दूसरे से कटते चले जा रहे हैं। धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों के संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं और मनुष्य आज भी धर्मों के नाम पर दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्तप्लावन का शिकार हो रहा है। एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय को मटियामेट करने पर तुले हुए हैं। इन सब परिस्थितियों में आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर धर्मनिरपेक्षता की चर्चा हमारे सामने आई है ताकि धर्मों के नाम पर होनेवाली इन सब दुर्घटनाओं से मानवता को बचाया जा सके।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम हमें यह विचार करना होगा कि धर्मनिरपेक्षता से हमारा क्या तात्पर्य है ? वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता को अंग्रेजी शब्द "सेक्युलरिज्म" का हिन्दी पर्यायवाची मान लिया गया है। हम अक्सर "सेक्युलर स्टेट" की बात करते हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य ऐसे राज्य/राष्ट्र से होता है जो किसी धर्म विशेष को राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करके अपने राष्ट्र में प्रचलित सभी धर्मों को अपनी साधना पद्धति को अपनाने की स्वतन्त्रता, अपने विकास के समान अवसर और सभी के प्रति समान आदर भाव प्रदान करता है। अतः राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में "सेक्युलरिज्म" का अर्थ धर्मविहीनता नहीं मानकर सर्वधर्म-समभाव ही माना जाना चाहिए। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य धर्मविहीनता नहीं अपितु किसी धर्म विशेष को प्रमुखता न देकर सभी धर्मों के प्रति समव्यवहार है। जो लोग धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म अथवा नीतिविहीनता करते हैं वे भी एक भ्रान्त धारणा को प्रस्तुत करते हैं। कोई

भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र धर्मविहीन नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म एक जीवन शैली है। सेक्युलरिज्म या धर्मनिरपेक्षता के लिए महात्मा गाँधी ने हमें "धर्म समभाव" शब्द दिया था जो अधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। सभी धर्मों की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए उनके विकास के समान अवसर प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है। इसी प्रकार धर्म शब्द भी अनेक अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह एक ओर वस्तु स्वरूप का सूचक है तो दूसरी ओर कर्तव्य और किसी साधना या उपासना की पद्धति विशेष का भी सूचक है। अतः जब हम धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के सन्दर्भ में धर्म शब्द का प्रयोग करें तो हमें उसके अर्थ के सम्बन्ध में स्पष्टता रखनी होगी। धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में धर्म शब्द आध्यात्मिक साधना और उपासना की पद्धति विशेष का परिचायक है, जो किसी सीमा तक नीति और आचार के विशेष नियमों से भी जुड़ा है। अतः धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य उपासना या साधना की विभिन्न पद्धतियों की सापेक्षिक सत्यता और मूल्यवत्ता को स्वीकार करना है। संक्षेप में साधना और उपासना की सभी पद्धतियों को विकसित होने एवं जीवित रहने का समान अधिकार प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है।

जब हम बौद्धधर्म के सन्दर्भ में इस धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पर विचार करें तो हमें इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि बौद्धधर्म भी एक धर्म-विशेष ही है अतः उसमें धर्मनिरपेक्षता का वह अर्थ नहीं है जिसे सामान्यतया हम स्वीकार करते हैं। उसमें धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य दूसरे धर्मों के प्रति समादर भाव से अधिक नहीं है। यह भी सत्य है कि बौद्धधर्म में अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की उसी प्रकार समीक्षा की गई है जिस प्रकार अन्य धर्मों एवं दर्शनों में बौद्धधर्म की। फिर भी बौद्धधर्म में सर्वधर्म-समभाव एवं धार्मिक सहिष्णुता के पर्याप्त आधार हैं।

भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन प्रारम्भ से ही उदारवादी और समन्वयवादी रहे हैं। भारतीय चिन्तन की इसी उदारता एवं समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप हिन्दूधर्म विभिन्न साधना और उपासना की पद्धतियों का एक ऐसा संग्रहालय बन गया कि आज कोई भी विद्वान् हिन्दू धर्म की सुनिश्चित परिभाषा देने में असफल हो जाता है। उपासना एवं कर्मकाण्ड की आदिम प्रवृत्तियों से लेकर अद्वैत वेदान्त का श्रेष्ठतम दार्शनिक सिद्धान्त उसमें समाहित है। प्रकृति-पूजा के विविध रूपों से लेकर निर्गुण-साधना का विकसित रूप इसमें परिलक्षित होता है। उसकी धार्मिक समन्वयशीलता हमारे सामने एक अद्वितीय आदर्श उपस्थित करती है।

भारतीय चिन्तन धारा का अंग होने के कारण बौद्धधर्म भी अपने प्रारंभिक काल से लेकर आज तक धार्मिक समन्वयशीलता और सर्वधर्म-समभाव का आदर्श प्रस्तुत करता रहा है। एक ओर उसकी इस समन्वयवादिता का परिणाम यह हुआ कि वह व्यापक हिन्दू-धर्म में आत्मसात् होकर भारत में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रख सका किन्तु दूसरी ओर उसने अपनी इस समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप विश्व के धर्मों में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर लिया और भारत के बाहर भूटान, तिब्बत, चीन, वियतनाम, जापान, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, वर्मा, लंका आदि देशों में उनकी संस्कृतियों से समन्वय साधते हुए अपने अस्तित्व का विस्तार किया है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि बौद्धधर्म ने अपना विस्तार सत्ता और शक्ति के बल पर नहीं किया है। बौद्धधर्म की उदार और समन्वयशील दृष्टि का ही यह परिणाम था कि वह जिस देश में गया वहाँ के आचार-विचार और नीति व्यवहार को, वहाँ के देवी-देवताओं को इस प्रकार से समन्वित कर लिया कि उन देशों के लिए वह एक बाहरी तत्त्व न रहकर उनका अपना ही अंग बन गया और इस प्रकार विदेशी भूमि में भी वह विदेशी नहीं रहा। यह उसकी समन्वयवादिता ही थी जिसके कारण वह विदेशी भूमि में अपने को खड़ा रख सका।

बौद्धधर्म में धर्मनिरपेक्षता का आधार-दृष्टिराग का प्रहाण

धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्म-समभाव की अवधारणा तभी बलवती होती है जब व्यक्ति अपने को आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठा सके। आग्रह और मतान्धता के ऊपर उठने के लिए बौद्धधर्म में दृष्टिराग का स्पष्टरूप से निषेध किया गया है। बौद्धधर्म और साधना पद्धति की अनिवार्य शर्त यह है कि व्यक्ति अपने को दृष्टिराग से ऊपर उठाये, क्योंकि बौद्ध परम्परा में दृष्टिराग को ही मिथ्यादृष्टि और दृष्टिराग के प्रहाण को सम्यक्दृष्टि कहा गया है। यद्यपि कुछ विचारक यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म या दर्शन स्वयं में भी तो एक दृष्टि है। लेकिन यदि हम बौद्धधर्म का गम्भीरता से अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध का सन्देश किसी दृष्टि को अपनाना नहीं था क्योंकि सभी दृष्टियाँ तृष्णा के ही रूप हैं और सत्य के एकांश का ग्रहण करती हैं। इन दृष्टियों से ऊपर उठना ही बुद्ध की धर्मदेशना का सार है। दृष्टिराग के ऊपर उठना ही दृष्टिनिरपेक्षता है और इसे ही हम धर्मनिरपेक्षता कह सकते हैं। यद्यपि बौद्धधर्म में सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि से चर्चा हुई है किन्तु वह सम्यक्दृष्टि निरपेक्षता या दृष्टिशून्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बौद्धधर्म की दृष्टि में सभी दृष्टियाँ एकांतिक होती हैं। वह यह मानता है कि आग्रह,

अथवा एकांगी दृष्टि राग के ही रूप हैं और जो इस प्रकार के दृष्टिराग के कारण बन्धन में पड़ा रहता है वहाँ दूसरी ओर इसी दृष्टिराग के परिणामस्वरूप कलह और विवाद का कारण बनता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टिपक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है न बन्धन में। इस प्रकार वह विश्वशान्ति का साधक होता है। सुत्तनिपात में बुद्ध बहुत ही मार्मिक शब्दों में कहते हैं कि जो अपनी दृष्टि का दृढ़ाग्रही हो दूसरों को मूर्ख मानता है, वह दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतलानेवाला स्वयं ही कलह का आह्वान करता है। वह किसी कारण या दृष्टि पर अवस्थित हो, उसके द्वारा संसार में विवाद या कलह उत्पन्न करता है, किन्तु जो सभी धाराओं को स्थान देता है वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता है। आगे बुद्ध पुनः स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं पण्डित उन सब में नहीं पड़ता है। दृष्टि और शुद्धि को न ग्रहण करनेवाला आसक्तिरहित पण्डित क्या ग्रहण करेगा ? बुद्ध के शब्दों में जो लोग अपने धर्म को परिपूर्ण और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं वे दूसरों की अवज्ञा (निन्दा) से हीन होकर धर्म में श्रेष्ठ नहीं हो सकते। जो किसी दृष्टि विशेष को मानता है, जो किसी वादविशेष में आसक्त है वह मनुष्य शुद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि बुद्ध के शब्दों में विवेकी ब्राह्मण दृष्टि की तृष्णा में नहीं पड़ता है। वह जो कुछ दृष्टि, श्रुति या विचार है उन सब पर विजयी होता है और दृष्टियों से पूर्णरूप से मुक्त हो वह अनासक्त व्यक्ति संसार में लिप्त नहीं होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धधर्म दृष्टिराग का निषेध करके इस बात का संदेश देता है कि व्यक्ति को साधना और अध्यात्म के क्षेत्र में किसी प्रकार के दुराग्रह से युक्त नहीं होना चाहिए। बौद्धधर्म की यह स्पष्ट धारणा है कि बिना दृष्टिराग को छोड़े कोई भी व्यक्ति न तो सम्यक्दृष्टि को प्राप्त हो सकता है और न निर्वाण के पथ का अनुगामी हो सकता है। इसीलिए बौद्धधर्म के सशक्त व्याख्याता विद्वान् दार्शनिक नागार्जुन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं-तत्त्व का साक्षात्कार दृष्टियों के घेरे से ऊपर उठकर ही किया जा सकता है क्योंकि समग्र दृष्टियाँ (दर्शन) उसे दूषित ही करती हैं।

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन का दृष्टिराग के प्रहाण का सिद्धान्त धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। बुद्ध का सन्देश सदैव ही आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठने का रहा है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि सत्य का दर्शन आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठकर ही हो सकता है। बौद्ध-दर्शन का वैभिन्न्य का सिद्धान्त भी हमारे सामने हमें यही संदेश देता है कि सत्य का समग्ररूप

से दर्शन करने के इच्छुक व्यक्ति को सत्य को एकान्तिक दृष्टि से नहीं अपितु अनैकान्तिक दृष्टि से देखना होगा। बौद्ध परम्परा में सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वत्ता है। थेरगाथा में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो सत्य का एक ही पहलू देखता है वह मूर्ख है। पंडित तो सत्य को अनेक पहलुओं से देखता है। विवाद का जन्म एकांगी दृष्टि से होता है क्योंकि एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं। जब हम सत्य को अनेक पहलुओं से देखते हैं तो निश्चय ही हमारे सामने विभिन्न पहलुओं के आधार पर विभिन्न रूप होते हैं और ऐसी स्थिति में हम किसी एक विचारसरणी में आबद्ध न होकर सत्य का व्यापक रूप में दर्शन करते हैं। इसीलिए सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि वे विवाद (आग्रह) के दो फल बताता हूँ- एक तो वह अपूर्ण और एकांगी होता है और दूसरे वह विग्रह और अशान्ति का कारण होता है। निर्वाण जो कि हमारे जीवन का परम साध्य है वह तो निर्विवादता की भूमि है। इसलिए बुद्ध कहते हैं कि निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाला साधक विवाद में न पड़े। भगवान् बुद्ध की दृष्टि में पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाणमार्ग के पथिक के कार्य नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह तो महलविधा है। राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह अपने प्रतिवादी को ललकारनेवाले वादी को उस जैसे प्रतिवादी के पास भेजना चाहिए क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध का कोई कारण ही शेष नहीं रहा है। पुनः सुत्तनिपात में कहा गया है कि जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत या दृष्टि को सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहां कोई नहीं है। इस प्रकार बौद्धदर्शन इस बात को भी अनुचित मानता है कि हम केवल अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करते रहें। बुद्ध स्वयं कहते हैं कि शुद्धि यहीं है दूसरे धर्मों में नहीं है ऐसा अपनी दृष्टि में अतिदृढ़ाग्रही व्यक्ति तैर्थिक (मिथ्यादृष्टि) है। इस प्रकार दृष्टिराग ही मिथ्यादृष्टि है और दृष्टिराग का प्रहाण हीं सम्यगृदृष्टि है।

धार्मिक संघर्ष की नियन्त्रक तत्त्व प्रज्ञा

समग्र धार्मिक मतान्धता और संघर्ष इसलिए होते हैं कि व्यक्ति धार्मिक सन्दर्भों में विचार और तर्क की अपेक्षा श्रद्धा को अधिक महत्त्व देते हैं। तर्क और चिन्तन से रहित श्रद्धा अंध श्रद्धा होती है और अंध श्रद्धा से युक्त व्यक्तियों का उपयोग तथाकथित धार्मिक नेता अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सहज ही कर लेते हैं। अतः धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा का स्थान स्वीकृत करते हुए भी उसे विवेक या चिन्तन से रहित कर देना नहीं है। बौद्धधर्म ने सदैव ही श्रद्धा की अपेक्षा तर्क और प्रज्ञा को

अधिक महत्त्व दिया है। आडारकलामसुत्त में बुद्ध स्पष्टरूप में कहते हैं कि हे कलाम! तुम मेरी बात को केवल इसलिए सत्य स्वीकार मत करो कि इनको कहने वाला व्यक्ति तुम्हारी आस्था या श्रद्धा का केन्द्र है।

अध्यात्म और साधना के क्षेत्र में प्रत्येक बात को तर्क की तराजू पर तौल कर और अनुभव की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करना चाहिए। बुद्ध अपने विचारकों की वैचारिक स्वतंत्रता का कभी हनन करना नहीं चाहते हैं। इसके विपरीत वे हमेशा कहते हैं कि जो कुछ हमने कहा है उसे अनुभव की कसौटी पर कसो और सत्य के तराजू पर तौलो और यदि वह सत्य लगता है तो उसे स्वीकार करो।

बुद्ध के शब्दों में हे कलाम! जब तुम आत्म अनुभव से जान लो ये बातें कुशल हैं निर्दोष हैं, इनके आधार पर चलने से सुख होता है तभी इन्हें स्वीकार करो अन्यथा नहीं। बुद्ध आस्था-प्रधान धर्म के स्थान पर तर्क प्रधान धर्म का व्याख्यान करते हैं और इस प्रकार की धार्मिक मतान्धता और वैचारिक दुराग्रहों से व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं। एक अन्य बौद्धग्रन्थ "तत्त्वसंग्रह" में कहा गया है कि जिस प्रकार स्वर्ण को तपाकर काटकर छेदकर और कसकर परीक्षा की जाती है, हे भिक्षुओं! उसी प्रकार धर्म की भी परीक्षा की जानी चाहिए। उसे केवल शास्ता के प्रति आदर के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए। वस्तुतः धार्मिक जीवन में जब तक विवेक या प्रज्ञा का विश्वास या आस्था का नियन्त्रक नहीं माना जाएगा तब तक हम धार्मिक संघर्षों और धर्म के नाम पर खेली जाने वाली होलियों से मानव जाति को नहीं बचा सकेंगे। धर्म के लिए श्रद्धा आवश्यक है किन्तु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। यह आवश्यक है कि शास्त्र की सारी बातों और व्याख्याओं को विवेक के तराजू पर तौला जाये और युगीन संदर्भ में उनका मूल्यांकन किया जाये। जब तक यह नहीं होता है तब तक धार्मिक जीवन में आई संकीर्णता को मिटा पाना संभव नहीं। विवेक ही ऐसा तत्त्व है जो हमारी दृष्टि को उदार और व्यापक बना सकता है। श्रद्धा आवश्यक है। किन्तु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। आज आवश्यकता बौद्धिक धर्म की है और बुद्ध ने बौद्धिक-धर्म का सन्देश देकर हमें धार्मिक मतान्धताओं और धार्मिक आग्रहों से ऊपर उठने का सन्देश दिया है।

बुद्ध का मध्यम मार्ग और धर्मनिरपेक्षता का आधार

बुद्ध ने अपने दर्शन को मध्यममार्ग की संज्ञा दी है। जिस प्रकार नदी की धारा कूलों में न उलझकर उनके मध्य से बह लेती है उसी प्रकार बौद्धधर्म भी ऐकान्तिक

दृष्टियों से हटकर अपनी यात्रा करता है। मध्यममार्ग का एक आशय यह भी है कि वह किसी भी दृष्टि को स्वीकार नहीं करता है। सांसारिक सुभाग और देहदण्डन की प्रक्रिया दोनों ही उसके लिए ऐकान्तिक है। एकान्तों के त्याग में ही मध्यममार्ग की विशिष्टता है। मध्यममार्ग का अर्थ है-परस्पर विरोधी मतवादों में किसी एक ही पंथ को स्वीकार न करना। बुद्ध का मध्यममार्ग अनेकान्तिक दृष्टि का उदाहरण है। यद्यपि वे केवल निषेधमुख से इतना ही कहते हैं कि हमें ऐकान्तिक दृष्टियों में नहीं उलझना चाहिए। धार्मिक निरपेक्षता का भी किसी सीमा तक यही आदर्श है कि हमें किसी एक धर्मविशेष या मतवाद विशेष में न उलझकर एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। बुद्ध के शब्दों में एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते और उलझते हैं। मध्यममार्ग का तात्पर्य है- विवादों से ऊपर उठना और इस अर्थ में वह किसी सीमा तक धर्मनिरपेक्षता का हामी है। बौद्धधर्म यह मानता है कि जीवन का मुख्य लक्ष्य तृष्णा की समाप्ति है। आसक्ति और अहं से ऊपर उठना ही सर्वोच्च आदर्श है। दृष्टिराग वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही एक रूप है और जब तक वह उपस्थित है तब तक मध्यममार्ग की साधना सम्भव नहीं है। अतः मध्यममार्ग का साधक इन दृष्टिरागों के ऊपर उठकर कार्य करता है। सामाधिराजसूत्र में कहा गया है कि पण्डित वही है जो उभय अन्तों का विवर्जन कर मध्य में स्थित रहता है। वस्तुतः माध्यस्थ दृष्टि ही धर्मनिरपेक्षता है।

बुद्ध का जीवन और धार्मिक सहिष्णुता

यदि हम बुद्ध के जीवन को ही देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे स्वयं किसी धर्म या साधनापद्धति विशेष के आग्रही नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी साधना के प्रारम्भ में अनेक धर्मनायकों, विचारकों और साधकों से जीवन्त सम्पर्क स्थापित किया था और उनकी साधना पद्धतियों को अपनाया। उदकरामपुत्त आदि अनेक साधकों के सम्पर्क में आये और उनकी साधना-पद्धतियों को सीखा यह समस्त पालि-त्रिपिटक में आज भी उपलब्ध है। चाहे आत्मतोष न होने पर उनका बाद में त्याग किया हो फिर भी उनके मन में उन सभी साधकों के प्रति सदा आदरभाव रहा और ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् उनके मन में यह अभिलाषा रही कि अपने द्वारा उद्घाटित सत्य का बोध उन्हें करायें। यह दुर्भाग्य ही था कि पंचवर्गी भिक्षुओं को छोड़कर शेष सभी आचार्य उस युग तक कालकवलित हो चुके थे, फिर भी बुद्ध के द्वारा उनके प्रति प्रदर्शित आरदभाव उनकी उदार और व्यापक दृष्टि का परिचायक है। यद्यपि बौद्धधर्म में अन्यतीर्थिकों के रूप में पूर्णकश्यप, निगंठनाथपुत्त, अजितकेशकंबल, मख्खलिगोशाल

आदि की समालोचना हमें उपलब्ध होती है किन्तु ऐसा लगता है कि यह सब परवर्ती साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही परिणाम है। बुद्ध जैसा महामनस्वी इन वैचारिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से युक्त रहा हो, ऐसा सोचना सम्भव नहीं है।

पुनः बौद्धधर्म मूलतः एक कर्मकाण्डी धर्म नहीं है अपितु एक नैतिक आचार-पद्धति है। एक नैतिक आचारपद्धति के रूप में वह धार्मिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से मुक्त रह सकता है। उसके अनुसार तृष्णा की समाप्ति ही जीवन का परम श्रेय है और तृष्णा की परिसमाप्ति के समग्र प्रयत्न किसी एक धर्म परम्परा से सम्बद्ध नहीं किये जा सकते हैं। वे सभी उपाय जो तृष्णा के छेदन में उपयोगी हों, बौद्धधर्म को स्वीकार हैं। शीलवान्, समाधिवान् और प्रज्ञावान् होना बौद्धविचारणा का मन्तव्य है किन्तु इसे हम केवल बौद्धों का धर्म नहीं कह सकते हैं। यह सार्वजनीन और सार्वकालिक स्वरूप है और बौद्धधर्म इसे अपनाकर व्यापक और उदार दृष्टि का ही परिचायक बनता है। बौद्धधर्म में धर्म (साधना पद्धति) एक साधन है वह पकड़ कर रखने के लिए नहीं है और उसे छोड़ना ही है अतः वह साधना के किसी विशिष्ट मार्ग का आग्रही नहीं है।

उपसंहार

वस्तुतः वैयक्तिक भिन्नताओं के आधार पर साधनागत और आचारगत भिन्नताएँ स्वाभाविक हैं। अतः मानवीय एकता और मानवीय संघर्षों की समाप्ति के लिए एक धर्म का नारा न केवल अशक्य है अपितु अस्वाभाविक भी है। जब तक व्यक्तियों में रुचिगत और स्वभावगत भेद है तक तब साधनागत भेद भी अपरिहार्य रूप से बने रहेंगे। इसीलिये तो बुद्ध ने किसी एक यान का उपदेश न देकर विविध यानों (धर्म मार्गों) का उपदेश दिया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन साधनागत भेदों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समन्वित कर तथा उनकी उपादेयता को स्वीकार कर एक ऐसी जीवनदृष्टि का निर्माण करें जो सभी की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए मानव-कल्याण में सहायक बन सके।

●

बौद्धपरम्परायां लोकधर्मस्थित्यङ्गभूता धर्मनिरपेक्षता

प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री

विषय-निर्देशः

अद्यत्वे भारते नीतिधर्मेषु निरपेक्षता ।
प्रमाणमत्र प्रत्यक्षम्, इयं नाख्यायिका श्रुता ।।
धर्मोपघातिनीमेनां धर्मेषु निरपेक्षताम् ।
केचित्पश्यन्ति जल भूविशेषाधिगमोत्सुकाः ।।
जलानि भूमयो लोका व्यपेतकलहा इह।
भवन्त्विति वयं सर्वे ये श्रिता भारतीयताम् ।
स्वस्वधर्मस्थिताः सर्वे भवन्तु सुहृदो जनाः ।
स्वतन्त्रे भारते, सेयं धर्मेषु निरपेक्षता ।।
बीजमस्याः स्थितं बौद्धे धर्मेयोऽभावति प्रज्ञाः ।।
अदंडेन खल्वशास्त्रेण दारिद्रयशमनेन च ।।
राजा भूत्वा तथाशोको रक्ष वसुधागतान्।
सर्वानेवात्र पाषंडान् एकधर्मं विना हठम्।।
एकस्मिन्नाग्रहो यस्य धर्मे कस्मिंश्चिदागमे ।
स सुशीलोऽत्र धर्मेषु निरपेक्षो जगद्धितः ।।
सदर्थं कुरुते सैषा धर्मेषु निरपेक्षता।
अमुत्राप्यथ मोदः स्यात् सतस्तत्र गतिर्यदि ।।

इयं धर्मनिरपेक्षता भारतस्वातन्त्र्येण सह प्रसृता राजनीतिमुखं भवन्ती देशपालनाधारभूता। कस्मिन्नप्येकस्मिन् धर्मे कमप्याग्रहं विना कंचन पक्षपातं विना या देशपालनपद्धतिः प्रवृत्ता भवति सा नाम धर्मनिरपेक्षता। धर्मनिरपेक्षतामुखेन प्रवृत्तायां देशपालनपद्धत्यां सर्वलोकानां सर्वाकृतिः सर्वा प्रवृत्तिर्न धर्मेण केनापि परिभूता भवति।

धर्माग्रहपरायणानां शासनकाले [illegible] बहुविधं परिभूता [illegible] दृष्टा। यवन-यवनराजसु शासनेषु बौद्धानां विहारा [illegible], [illegible] च विनाश्यन्ते स्म, विरूपतां प्राप्यन्ते स्म। [illegible]। एकमेव परमाग्रहो नियतं परविध्वंसार्थः, [illegible]। [illegible] धर्मनिरपेक्षता भवत्येका ग्रहशून्या ततस्तया सर्वत्रगं भवति लोकहितम्। [illegible] महाराजोऽशोको बहूपकृतवान् सर्वां भारतीयामभारतीयां च जनताम्। इदं [illegible] मातृका--

1- सर्वलोकहितं धर्मनिरपेक्षभावेन

2- दंडसमता धर्मनिरपेक्षभावेन

3- व्यवहारसमता धर्मनिरपेक्षभावेन

4- सर्वधर्मावकाशप्रदानं धर्मनिरपेक्षभावेन

5- हिंसाविरतिर्धर्मनिरपेक्षभावेन

6- संग्रहे संयमो धर्मनिरपेक्षभावेन

7- अन्योऽपि बहुयोगक्षेमश्च भवितुं शक्यो धर्मनिरपेक्षभावेन, तस्माद् धर्मनिरपेक्षता प्रचारणीया, तदर्थं यात्रा विधातव्या संगोष्ठयश्च प्रवर्तयितव्याः। अथातो मातृकाणामासां विवरणं विधास्यामः।

1- सर्वलोकहितम्

यस्य न स्वधर्मे भवत्याग्रहः, न च परधर्मे भवति तस्य विद्वेषः, तादृशो धर्म-निरपेक्षो जनः सर्वहितं कर्तुं प्रभवति न तु अतादृशः। मामुक्तवान् कश्चिद् वटुः। अहं बुभुक्षया पीडितो गतः किमपि स्थानं धर्मायतनं मत्वा। तत्र गत्वा याचितवानस्मि-देहि किमपि मूल्यं, बुभुक्षितोऽस्मि। स पृष्टवान् कोऽसि त्वम् ? मयोक्तं ब्राह्मणकुले जातोऽस्मि। ततः स श्वेतमहाचोलधारी श्मश्रुलो गौरांगो भृकुटीभङ्गं विरचयन् मह्यमर्धचन्द्रं दत्वा प्राह। गच्छ यत्र ब्राह्मणा वसन्ति, वयं तु खीष्टाः। खीष्टधर्मपरेण बुभुक्षिताय विप्रवटवे भोजनार्थमपि किमपि दातुम् अप्रतिवलेन कथं सर्वलोकहितं करणीयम्, कथं सर्वलोकहितं कर्तुं शक्यम् ? इति भवन्तो विचारयन्तु। अन्यमपि सत्यं चूर्णकं शृण्वन्तु। मम कश्चिद् विद्वान् उदासीनमार्गपरः सुहृद् एकदा भिक्षार्थं जैनगृहमंडितां वीथीं प्राविशत्। तं तथा दृष्ट्वा जैनैः प्रोक्तम् "वयमजैनससाधुभ्यो न भैक्ष्यं वितरामः। अस्यां जैनवीथ्यां तवागमनं नोचितम्-इति"। धर्मनिरपेक्षताया रतिं विना, कथं स्वकीयधर्माग्रहपराः सर्वलोकहिते प्रवृत्ता भविष्यन्ति। महाराजेनाशोकेन "कर्तव्यं मतं

हि मे सर्वलोकहितम्" इति प्रतिज्ञातम्। सर्वकालम्, अदतो में अवरोधने, गर्भागारे, वर्चसि, विनीते, उद्याने सर्वत्र प्रतिवेदका अर्थ जनस्य प्रतिवेदयन्तु मे। सर्वस्य जनस्यार्थ करिष्याम्यहम्। इति व्यवस्था कृता। किं कश्चिद् एकधर्माग्रही व्यवस्थापयितुं प्रभवति एतादृशम्। धर्मनिरपेक्षोऽपि न अद्यतनस् तथा प्रभवति, अन्यस्य कथैव का। अस्तु। धर्मनिरपेक्षतामुखेनैव संभवति सर्वलोकहितचर्या नान्यथेति भवन्तोऽवधारयन्तु च निर्धारयन्तु च।

2- दंडसमता : 3 व्यवहारसमता च :

दंडे व्यवहारे च समता मन्ये धर्मनिरपेक्षबुद्धिना महाराजेन अशोकेन प्रारब्धा। पूर्व सा नैवासीत्। पश्चादपि यवनानां युगे बहुधं विच्छेदं प्राप्तिता। पुरा विप्रघातको भवति स्म पतितो न दासघातकः। यत् प्रायश्चित्तं गोघातकः पुरा कुरुते स्म न तद् महिषघातकः। धर्मनिरपेक्षताया अभावाद् मुगलकाले विनैवापराधं वयः यते। गुरु गोविन्दसिंहस्य द्वौ पुत्रौं निरपराधावेव। प्राणदंडार्ह न ताभ्यां किमपि कृतम्। परं परधर्मम् अस्वीकुर्वतोस् तयोः मित्तौ करितं चयनं दुष्टामिसंधिनाधिकारिणा। यदि ताभ्यां धर्मान्तरग्रहणं कृतं भवेत् तर्हि मन्ये न तादृशेन विधिना तयोः प्राणघातः कृतो भवेत्। किं बहुना--

हठाग्रहणैव हि धूर्मगेण यत् पुरा विधानं विषमं व्यवर्तत।
समं हि तत् संप्रति संप्रवर्तते यतोऽत्र धर्म्या निरपेक्षता स्थिता।।
तदीदृक्समताकामैर्भावनीया प्रयत्नतः।
जीवनार्थपरैः सर्वैः धर्मेषु निरपेक्षता।।

4- सर्वधर्मावकाशप्रदानम् :

अस्माभिः धर्मनाम्ना दृष्टो भारतभंगः। मोहमदानुयायिनां यवनानां दुराग्रहेण सोऽयं राष्ट्रभंगकांडः सिद्धः। अयं तेषां नयः। विश्वमिदं द्विविधम्। मोहमादधर्मव्याप्तिर्यत्र जाता स विश्वभागः **दारुल-इस्लाम** इति नाम्नाभिधीयते। एष भागः पुण्यविश्वासभूमिस् तेषाम्। अथापरो भागो यत्र मोहम्मदमतव्याप्तिर्न जाता। स विश्वमार्गः **दारुल्-हरब** इति नाम्नाभिधीयते। अयं हि विश्वभागः काफिरदेश इति गण्यते। इमं देशं स्ववशे विधाय तत्र मोहम्मदमतप्रतिष्ठा करणीयेति सर्वेषां मोहम्मदीयानां कर्तव्यम्। सम्पूर्णस्य विश्वस्य राज्यं परिणामतो मोहम्मदीयं भविष्यति-इति तेषां विश्वासः। तदर्थं काफिरदेशेषु विधातव्यमाक्रमणम्। बलेन सर्वान् मोहम्मदमतानुगान् विधाय सार्वभौमं मोहंमदीयं साम्राज्यं स्थापयितव्यम्। एतादृश्याः प्रवृत्तेः साक्षी वर्तते विश्वेतिहासः। एतादृश एवाग्रहः

सिक्खैः नानकादिगुरुणां शिष्यैः गतेषु कतिपयवत्सरेषु प्रदर्शितः। भारतराजधान्यां तत्र तत्र भित्तिषु दृष्टो लेखोऽस्माभिः करिष्यति **खालसो राज्यम्** इति। बहुसंख्य सिक्खभूमिषु अल्संख्यानाम् असिक्खजनानां जीवनं वधोत्सुकैरग्राचरणैः सिक्खैः कृतं नितरामशान्तं भयशंकाग्रस्तम्। इदं सरु प्रवर्तमानं वयं सर्वे पश्यामः। एवं विप्लुते भारतेदेशे यदि धर्मनिरपेक्षताप्रधानो लोकतन्त्रविधि न अभविष्यद् दृढास्पदः, तर्हि मन्ये धर्माग्रहग्राहग्रस्तस्य भारतवास्तव्यजनगजेन्द्रस्य परिमाता न कोऽपि अभविष्यत्। महत्यस्मिन् विपत्तिक्षणे स्मराम्यहं महाराजाशोकं, यस्यायं लेखः-- **"देवानां प्रियः प्रियदर्शीराजा सर्वत्रेच्छति सर्वे पाषंडा वसेयुः। सर्वे हि ते संयमं भावशुद्धिं च इच्छन्ति। जनसच्चावचच्छन्दः, उच्चावचरागः। ते सर्वमेकदेशं का करिष्यन्ति। विपुलमपि तु दानं यस्य नास्ति संयमो भावशुद्धिः कृतज्ञता दृढभक्तिता च नित्या बाढम्"**- इति (धर्माग्रहो भावदूषणं जनयति च वर्धयति च द्रढयति च। दूषिते भावे स्वमतधर्मस्य भवितुं शक्यः पूर्णावकाशः किन्तु धर्मस्य नैव शक्यः स्वल्पोऽप्यवकाशः। अस्मिन् संकटे धर्मनिरपेक्षतैव कर्त्री साहाय्यम्। सेव जनयिष्यति भावशुद्धिम्, वर्धयिष्यति भावशुद्धिम्, द्रढयिष्यति भावशुद्धिम्। भावशुद्धौ जातायां सप्रतिष्ठितायां सत्यो भारतीयो वक्तुं प्रतिबलो भविष्यति यत्-- "सर्वे धर्माः सर्वधर्मानुयायिनो भारतलोकतन्त्रराज्ये वसन्तु, शुद्धभावा विलसन्तु, न केऽपि केनापि पराभूता भवन्तु, समग्राः सर्वे सुहृदो भूत्वा विहरन्तु।"

5- हिंसाविरति

हिंसाविरतिर्धर्माङ्गभूता-इति सर्वे भारतीया धर्माः, वर्जयित्वा कृपाणपाणीन्। तेषामेके कृपाणिनो समयेऽस्मिन् हिंसामेव धर्मागतया अनुतिष्ठन्ति, भीषयन्ति जनताम्। अभयप्रदानं नाम धर्माङ्ग प्रायशो विलुप्तम्। अभारतीयधर्मा अपि हिंसाविरतिमुपदिशन्ति, वर्जयित्वा भक्तेश्वरीयान्। महाराजाशोकेन तु सर्वविधासु हिंसासु संयमो विधातव्य इति शिक्षितः। इमानि तस्य वचनानि- "इह न कश्चिज् जीव आलभ्य प्रहोतव्यः" इत्येकं तस्य वचनम्। यज्ञक्रियासु पशुयज्ञविलोपस्तत एवं दृश्यते। पिष्टपशुनैव क्रियानिर्वाहो विधीयते। "अविजितं-हि विजितं मन्ये, यत् तत्र वधो वा मरणं वा अपवादो वा जनस्य" इति द्वितीयं वचनम्। साम्प्रतं तु सकललोकसंहारकारिणी परमाण्वस्त्रसहाया युद्धविभीषिका सर्वतः संत्रासमुत्पादयन्ति दृश्यते। मन्ये धर्मनिरपेक्षतापि नैनं दमयितुं प्रतिवला भविष्यति। "प्राणानामनालम्भः साधुः" इति तृतीयं वचनम्। प्राणिनो वराकाः। ते भोजनार्थं परिपालयन्ति भक्षणार्थं निहन्यन्ते। महाराजेन अशोकेन विहितोऽत्र महान् संयमः। स संयमो व्याप्तिमवाप जैनेषु वैष्णवेषु केनाप्यंशेन श्रोतेषु स्मार्तेषु। केनाप्यशेनेति

यन्मयोक्तं तत् प्रयोजनमभिसंधाय। अत्राह कविः-आहारत्रयं विष्णोः (अर्थाद्ः मत्स्यकच्छपवराहत्रयं) मैथिलेः कवलीकृतम्। इति संचिन्त्य भगवान् नारसिंह वपुर्दधौ इति। साम्प्रतं न केवलं मत्स्यकच्छपवराहा एवं प्रत्यु गोमहिषाजादयो जनैर्निहत्य कवली- क्रियन्ते। इमां भोजनार्थ क्रियमाणां जीवहिंसा मन्ये धर्मनिरपेक्षता न प्रभवति निरोद्धुम्। किं बहुना। हिंसांविरत्या सह समन्वागता धर्मनिरपेक्षता मन्ये निरामिषभोजनरागं वर्धयित्वा करिष्यति बहूपकारं जीवानाम्। अन्यथा अस्वतन्त्रा बन्धनबद्धा जीवा अनाथा एव। अवाचस्ते कामपि परिसंवादगोष्ठीमपि प्रवर्तयितुं न प्रभवन्ति। आयुष्यं वै निरामिषभोजनम्, आयुर्वैघृतम्, वार्धकनिरोधकं पयः- इत्यादिभिः विपुलभावैः सनाथया धर्मनिरपेक्षतया जीवनाथा भवन्तु मानवाः। कालो नयत्येव सर्वान यमसदनम्। किमपरेण यमसदनयापिना हिंसामार्गेण। अस्तु--

न धर्महिंसापरमं जजद् भवेद् अधर्महिंसापरमा कथैव का।
सदैव धर्मनिरपेक्षता जयेद् अतत्त्वहिंसा जनतां समन्ततः।।

6- संग्रहे संयम : 7 अन्योऽपि बहुयोगक्षेमश्च-

धर्मनिरपेक्षतायामिदं वक्तुं महाराजाशोकवद् अद्यास्ति सामर्थ्यं यद् अल्पव्ययता अल्पसंग्राह्य साधुः-इति। अन्यानपि च योगक्षेमान् विपुलीकर्तुं क्षमा धर्मनिरपेक्षता। तद्यथा "साधु मातापित्रोः शुश्रूषा, मित्रसंस्तुतज्ञातीनां च साधु दानम्, कल्याणं दुष्करम्, प्राप्तं हि नाम सुप्रचारम्, अनवद्यानि कर्ताण्युपाज्ञनीयानि" इति। एतादृशं कर्तुं न तां कोऽपि निवारयितुम् ईष्टे परं भारतराजनीतिसाधनभूता धर्मनिरपेक्षता यदि धर्मकैतवेन प्रसरन्तीं राष्ट्रभंगकारिणीं समाजभेदभावप्रसारिणीं लोकसामग्रयनिहन्त्रीं भावमृदुतापहन्त्री हिंसावधयित्रीम् अराजकतां निवारयितुं प्रभवेत् तर्हि मन्ये सफला भवेत्, सुफला भवेत्। इदमेव तस्या योगदानं न चान्यत् किमपि। अन्यथा प्रवृत्तेतिहासस्य कथैव सा भवेद् अपरकथावत्। कथेयं परिसमाप्यते--

चचार धर्मं जनता पुरातनी
विनैव मायां छलनां च भूतले।
सकैतवाभूदर्थ-धर्मपद्धतिद्-
र्विराजतेऽस्यां निरपक्षेताधुना।। इति।

शान्तिसदन, सरनलोज एरिया,
लक्करबाजार मार्ग, सोलन (हिमाचल प्रदेश) १७३२१२

●

(विषय प्रस्तुति)

धर्मनिरपेक्षता की समस्या : भारतीय सन्दर्भ में

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

परम्परा, धर्म एवं दर्शन संवाद-विसंवाद :

धर्मनिरपेक्षता की समस्या पर विचार करने के पूर्व परम्परा धर्म और दर्शन (चिन्तन) के बीच ऐतिहासिक काल से चलते हुए संवाद और विवाद की ओर ध्यान देना सहायक होगा। विकास की भाषा में कहें तो परम्परा ही धर्म और दर्शन की जननी है। मानव समाज के विकास में परम्परायें आधारभूत हैं। सामाजिक विकास के उपादान मूलतः परम्परायें हैं। परम्परायें जैसे-जैसे सामाजिक बनती हैं, वैसे-वैसे धार्मिक अवधारणाओं को जन्म देती हैं। धर्म परम्पराओं से उद्भूत होता है, किन्तु गुणात्मक दृष्टि से परम्पराओं से कुछ भिन्न होता है। धर्म, परम्परा की अपेक्षा अधिक गतिशील और चैतन्य होता है। परम्पराओं से ही वह फलित होता है, इसलिये वह परम्पराओं से बहुत दूर या स्वतंत्र नहीं जा सकता। धर्म पर समाज के धारण करने का उत्तरदायित्व आता है, इसलिये उसे एक ओर अपनी जन्म देने वाली परम्परा के बीच सुसंवाद स्थापित करना होता है और दूसरी ओर दूसरों से सम्पर्क बढ़ने के साथ-साथ उस पर परम्परा की सुरक्षा का बोझ भी बढ़ता है। इस उत्तरदायित्व के बीच धर्म में एकता, समता और सहिष्णुता के गुण उत्पन्न होने लगते हैं। ये गुण ही उसे परम्परा से भिन्न बनाते हैं। इस भिन्नता में कुछ स्वतन्त्रता या निरपेक्षता का भी विकास होने लगता है, किन्तु उस स्वतन्त्रता की नियति परम्परा के आपेक्षिक सुधार में है, उसके विरोध में नहीं। धर्म अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण परम्परागत जीवन में महत्त्वाकांक्षा का सृजन करता है। महत्त्वाकांक्षा के अन्तर्गत परम्परागत श्रेष्ठता का अबोध और सृजनशीलता का उत्साह सम्मिलित है। यह महत्त्वाकांक्षा ही ऐसे चिन्तन को जन्म देती है, जो आगे चलकर दर्शन का रूप धारण करने लगे। चिन्तन धर्म की आवश्यकता है, यद्यपि चिन्तन का गुण धर्म की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। इसीलिये चिन्तन पर उत्तरदायित्व आ जाता है श्रेष्ठता के निर्धारण का और उसके व्यापक सिद्धान्तों के निश्चय करने का। चिन्तन का यह उत्तरदायित्व ही

उसे क्रमशः दर्शन के क्षेत्र में उतारता है। धर्मों का इसका गौरव है कि उन्होंने चिन्तन को जन्म दिया, किन्तु इसीलिये नहीं कि चिन्तन उस वर्ग का विरोध करे, जिससे वह जन्मा है। दर्शन का इतिहास इसका साक्षी है कि सभी प्राचीन दर्शनों ने अपनी चरितार्थता अपने धार्मिक विश्वास और परम्परा-मान्यताओं के समर्थन में मानी। प्राचीन भारत में बौद्ध-दर्शन तथा अर्वाचीन यूरोपीय दर्शनों की ध्वनि इससे कुछ भिन्न है किन्तु वह भी आज के सन्दर्भ में आवश्यकता से अधिक मन्द है या धर्म के प्रसंग से ही दूर है। चिन्तन की ऊर्जा बढ़ती है-परम्परा की जकड़न और धर्म की आग्रहशील महत्त्वाकांक्षा से अपने को विलग कर विश्लेषण के माध्यम से दिशा-निर्देश करने में।

उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट है कि परम्परा, धर्म और दर्शन परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, और उनके बीच इदमित्थं रूप से भेदक रेखा नहीं बतायी जा सकती। सम्भवतः विकास-क्रम की यह विवशता है। इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि उनमें परस्पर विरोध खड़ा हो जाने पर किसे दुर्बल और किसे प्रबल माना जाय, अर्थात् परम्परा धर्म और चिन्तन में विरोध खड़ा होगा, किसका प्रामाण्य स्वीकार किया जाय। क्या धर्मों का परम्परा निरपेक्ष होना और चिन्तन का धर्मनिरपेक्ष होना संभव है ? संभव है तो, किस मात्रा और किस परिस्थिति में। स्पष्ट है कि जिस मात्रा में धर्म, परम्परा से निरपेक्ष होंगे, उसी मात्रा में दर्शन धर्मनिरपेक्ष होकर निरपेक्ष चिन्तन कर सकेंगे। इस स्थिति में निरपेक्षता विरोध को जन्म नहीं देगी, अपितु उससे परीक्षा एवं विश्लेषण को बल मिलेगा। उसके आधार पर परम्परा और धर्म अपने को अधिक सार्वभौम, मानवीय एवं तर्कसंगत बना सकेगा।

परम्परा, धर्म और चिन्तन एक सामाजिक-ऐतिहासिक तथ्य के रूप में हमारे सामने खड़ा है। उसकी अन्तगति में निरपेक्षता का गुण भी अनुस्यूत रहता है, अवश्य ही वह मात्रागत भेद से मन्द, तीव्र तथा सीमित या व्यापक हो सकता है। निरपेक्षता वह अनाग्रहशील गुण है, जो उक्त तीनों के बीच सन्तुलन और विकास की गति पैदा करता है उसी की अपेक्षा से परम्परा, धर्म और चिन्तन के बीच समस्यायें खड़ी होती हैं। धर्म-निरपेक्षता सम्बन्धी समस्या उसी असन्तुलन की प्रसूति है, जो आज विवाद का विषय बनी है।

धर्म-निरपेक्षता और असन्तुलन :

सामान्यतः यह कहा जाता है कि धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा यूरोप में धर्म और राज्य के बीच हुए संघर्ष की परिणति है। उसी प्रसंग से यह भी अवधारणा फलित होने लगती है कि धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र राजनीति या राज्य हैं। वास्तव में इसका प्रतिफलन परम्परा, धर्म और चिन्तन के बीच के असन्तुलन से सम्बन्धित है। यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की व्यापक समस्या से मुक्त राज्य उसका एक पक्षमात्र है। इस स्थिति में उसे यूरोप से जोड़े रखना, समस्याओं को हल्का बनाना है। हमें देखना होगा कि भारतीय इतिहास भी इन तथ्यों से मुक्त नहीं रहा है। अवश्य, यहाँ युद्ध स्तर तक राज्य और चर्च का विरोध खड़ा नहीं हुआ, किन्तु स्वतन्त्र चिन्तन और प्रचलित व्यवस्था एवं उसके पोषक प्रचलित धर्म के बीच व्यापक असन्तुलन पैदा हुआ, जिससे व्यवस्था-विरोध और उस व्यवस्था के पोशक धर्म का विखण्डन हुआ। बुद्धकाल में गणतन्त्र और राज्यतन्त्र के बीच तथा वैदिक धर्म और बौद्ध चिन्तन के बीच के संघर्ष में उस असन्तुलन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सम्राट् अशोक को कनिष्क के काल में उस असन्तुलन के शमन की विधि और एक सन्तुलित राज्य-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था को देखा जा सकता है। इस दृष्टि से भारतीय सामाजिक जीवन को जब देखा जायेगा, तभी इस असन्तुलन के सन्दर्भ में धर्म-निरपेक्षता की समस्या का सही रूप ज्ञात होगा।

धर्म-निरपेक्षता का आयाम :

यूरोप के आधार पर अन्यत्र भी धर्म-निरपेक्षता का आकलन कर लेना सही नहीं होगा, किन्तु वहाँ के सामाजिक-धार्मिक असन्तुलन और उसके लिये किये गये समाधान के अनुभव को अपने सन्दर्भों में लाभ उठाया जा सकता है। इसका ध्यान रखना होगा कि यूरोप एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा का समाज था, उससे संस्कृति बहुल, बहुधर्मी, बहुभाषीय समाज के बीच का असन्तुलन भिन्न प्रकार का होगा। यूरोप के परवर्ती इतिहास में मुख्य रूप से दो बार ऐसे असन्तुलन खड़े हुए, जिसका दो प्रकार से सामाधान किया गया है। प्रथम बार चर्च और राज्य एवं बौद्धिक स्वतंत्रता और धर्म के बीच। पहली बार के समाधान में धर्मनिरपेक्षता को अर्थ मिला कि धर्म का क्षेत्र व्यक्तिगत है, राज्य में उसका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। दूसरी बार यह समझ में आया कि आर्थिक शोषण के मुख्य आधारों में धर्म भी है, तो उस स्थिति में धर्म-निरपेक्षता ने धर्मधिक्कार का रूप ग्रहण किया। इस

दृष्टि से वर्तमान भारत के पिछले 2-3 सौ वर्षों का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ही प्रजातान्त्रिक अवधारणाओं और परम्परावादी धर्मों और सामाजिक व्यवस्था के बीच का व्यापक असन्तुलन देखा जाता है। महात्मा गाँधी समेत पुनर्जागरण काल का व्यापक एवं विविध प्रयास इसी असन्तुलन के निवारण में लगा रहा, जिसका प्रतिफलन भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता के रूप में देखा जाता है। यहाँ का असन्तुलन बहु-आयामी होने के कारण यूरोप से बहुत कुछ भिन्न है। इसलिये धर्मनिरपेक्षता का रूप भी वही नहीं होगा। यहाँ अनेक धर्मों, जातियों और संस्कृतियों के बीच असन्तुलन है और साथ ही इनके समवेतरूप से समग प्रजातन्त्र का विरोध है। यहाँ राज्य से उतना विरोध नहीं है जितना उसका रूप सांस्कृतिक और सामाजिक, असन्तुलन का है, उसी का शिकार राजनीतिक प्रजातन्त्र भी हो रहा है।

हमारे सामने जो अनेक प्रश्न हैं, उनमें उदाहरण स्वरूप जाति प्रथा को लें। जातिप्रथा भारतीय जीवन की घनीभूत क्रूरता है। पवित्र कही जाने वाली यह वह व्यवस्था है, जिसने शताब्दियों-शताब्दियों तक करोड़ों-करोड़ों लोगों को हीन जीवन व्यतीत करने के लिये विवश कर रखा है। यहाँ तक कि धर्मान्तरण की स्थिति में भी वह मान्यता पीछा नहीं छोड़ती। इसीलिये ही जाति का धर्मान्तरित समूह भी नये धर्म की श्रेष्ठता का पूरा लाभ नहीं उठा पाता है। उस स्थिति में भी इसका धार्मिक समाधान महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। वास्तव में यह संघर्ष है सवर्ण बनाम अवर्ण का, जिसके समाधान की आशा हिन्दू धर्म से करनी तो संभव नहीं, किन्तु इसीलिये भारतीय जीवन में अन्य धर्म भी बहुत कुछ विफल ही रहते हैं। जाति प्रथा की मूलभूत समस्या हिन्दू-धर्म की है, क्योंकि वह हिन्दू धर्म का पर्याय बन चुकी है। हिन्दू-सृष्टि में जातिविहीन कोई हिन्दू नहीं पैदा होता। जातियों ने सैकड़ों स्तर पर भारतीय जीवन को ऊँच-नीच के स्तर पर विभाजित कर रखा है। इस व्यवस्था के साथ घनिष्ठ रूप से आर्थिक स्वार्थ भी जुटे हुए हैं। प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था का अर्थ-व्यवस्था के साथ यथासंभव तादात्म्य रखा गया था। परिवर्तित परिस्थिति में भी एक-दूसरे की रक्षा के लिये ये व्यवस्थायें सतर्क रहती हैं। यह विचारणीय है कि इस असन्तुलन में प्रजातान्त्रिक जीवन के मूल्यों के साथ इसका कैसे तालमेल बैठेगा ? इसके समाधान के लिये धर्म-संशोधन चाहिये या धर्म-निरपेक्षता ? धर्म-संशोधन के इतिहास से हम अवगत हैं। उसकी सीमाओं को हम जान चुके हैं। दोष और सुधार के बीच के अनुल्लंघनीय अन्तर से हम पूरा अवगत हैं। उसके लिये नयी अवधारणाओं के साथ धर्मनिरपेक्षता का विकल्प प्रस्तुत किया जाता है। विचारणीय है

कि उसका रूप क्या होगा ? धर्मनिरपेक्षता भी यदि पर्याप्त नहीं है, तो इस व्यापक असन्तुलन को दूर करने के लिये तीसरा या चौथा विकल्प क्या होगा ?

धर्म-निरपेक्षता : विभिन्न मत :

धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में विचार करते समय कुछ लोग इसके शब्द-संयोजन पर आपत्ति करते हैं और भारतीय सन्दर्भ में धर्म की जगह सम्प्रदाय शब्द को उपर्युक्त बताते हैं। इसके पीछे उनका अभिप्राय रहता है कि भारतीय सन्दर्भ में धर्म सार्वभौम है, इसलिये किसी प्रकार का असन्तुलन संभव नहीं है, असन्तुलन का सम्बन्ध सिर्फ सम्प्रदायों के साथ है। प्रश्न है कि धर्म का वह कौन-सा व्यावहारिक रूप है, जिससे उसे सम्प्रदायों से पृथक् किया जाय ? एक ओर सभी सम्प्रदाय पूरी सरंजाम के साथ अपने को धर्म होने का दावा करते हैं और दूसरी ओर धर्म अपने सम्प्रदाय-निरपेक्षता को समस्या के व्यावहारिक धरातल पर उतार नहीं पाते। यदि ऐसा सम्भव होगा तो चाहे उसे धर्म-निरपेक्षता शब्द से नहीं भी कहें, फिर धर्म-निरपेक्षता के गुण उसमें दिखाई पड़ेंगे।

कुछ दूसरा मत है कि धर्म-निरपेक्षता की सभी अवधारणायें धर्म के अन्दर ही समाविष्ट हैं। इसलिये धर्म-निरपेक्षता कहने से इस विराट् भारतीय अवधारणा का निषेध होने लगता है। यदि ऐसा है, तो यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि धर्म की इस अवधारणा में क्या-क्या निषेध्य है। सम्भवतः उन निषेध्यों को स्पष्ट करने के साथ एक धर्म का अन्य निरपेक्ष रूप स्पष्ट करना पड़ेगा। निषेधों की व्यावहारिक परेशानियों से बचने के लिये कुछ लोग असन्तुलन हटाने के लिये सर्व-धर्म-समभाव को प्रस्तुत करना चाहते हैं। इसमें अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। धर्मों में कौन-कौन से समान तत्त्व हैं और कौन से विषम हैं। विषमता ही समस्या है। उसके समाधान में सर्व-धर्म-समभाव उदासीन रहेगा या कुछ प्रतिक्रिया करेगा ? यदि प्रतिक्रिया नहीं करता तो सम और विषम दोनों ही कार्य-निरत रहेंगे, तो उस स्थिति में समभाव के समान वैषम्य को कैसे दुर्बल बनाया जा सकेगा ? ईश्वर एक है, उसी के हम सब बंदे हैं, उसी ने हमें अलग-अलग शास्त्र दिये हैं, उसकी मंशा है कि हम अपनी-अपनी परम्परा और शास्त्र के अनुसार जीवन चलायें, तभी उसकी प्रसन्नता हमको मिलेगी। यदि हम दूसरों को उनके धर्माचरण में छेड़ते हैं तो ईश्वर नाराज होगा। ईश्वर प्रदत्त होने के कारण किसी शास्त्र के घटिया होने की सम्भावना ही नहीं है। यदि हो तब भी तो स्वधर्म ही श्रेयस्कर है और परधर्म भयंकर है। इस आधार

पर एक प्रकार का समन्वय बनाया जाता है। इस पूरी कल्पना के पीछे जो साधुता है, उसका कौन आदर नहीं करेगा, किन्तु यहाँ विचारणीय है कि इस मान्यता में क्या इतना बल है कि इससे आज की समस्याओं का समाधान हो सके ? इसी समन्वयकारी धर्मभावना से सर्व-धर्म-समभाव, सर्वधर्म-ममभाव सर्वमत-समभाव और सर्वोदय आदि जीवन-दृष्टियाँ निकलती हैं। इसके साथ सत्य के प्रति आग्रह (सत्याग्रह) और असत्य से असहयोग, ये भी जुटते हैं, तभी उसमें सन्तुलन और सहयोग की शक्ति आती है। प्रश्न है कि सत्य की कसौटी क्या होगी ? यदि अपनी बुद्धि, तो ईश्वर और उसके शासनादेश से विरोध हो सकता है ? उस स्थिति में कौन-सा शासनादेश मान्य होगा, जिसके आधार पर उक्त प्रकार का समन्वय स्थापित हो सकेगा। धर्म की सिर्फ नैतिक मान्यतायें जो सभी धर्मों में समान हैं, वे समन्वय की भूमिका हो सकती हैं। किन्तु नीति-अनीति का चयन करने के लिये जो विधि अपनायी जायेगी, उसे विवाद का मूल नहीं होना चाहिये। उसके लिये निरपेक्षता का भाव आवश्यक होगा। उसका स्वरूप क्या होगा, इसे निश्चित करना होगा।

इस प्रसंग में एक अन्य समन्वयवादी दृष्टिकोण भी है-धर्म के सम्बन्ध में कोण-दृष्टि और सम्पूर्ण-दृष्टि। एक-एक सम्प्रदाय एक-एक कोण से धर्म को देखते हैं, जब कि वे सभी धर्म के अंश मात्र हैं, धर्म अपने में सम्पूर्ण है। उसकी सम्पूर्णता में सबका समन्वय है। इसके लिये सभी धर्मों के प्रति सभी को समर्पित रहना चाहिये। इस दृष्टि के अनुकूल क्या व्यवहार बनेगा और उससे वर्तमान असन्तुलन का समाधान कैसे होगा ? इस पर विचार-विमर्श होना चाहिये।

बौद्धधर्म-दर्शन की संभावनायें :

अन्त में धर्म-निरपेक्षता के सन्दर्भ में बौद्ध-धर्म और दर्शन की क्या संभावनायें उभरती हैं, इस पर भी विचार होना चाहिये। बौद्धधर्म भी एक धर्म है, उसकी भी अपनी परम्परायें हैं और उन परम्पराओं में कुछ भेद भी हैं। इसके बाद भी वह अन्य प्रचलित धर्मों से भिन्न है। किसी को धर्म की कोटि में आने के लिये ईश्वर, आत्मा, शास्त्र-प्रामाण्य की मान्यता अनिवार्य होती है। इनको न मानकर भी बौद्ध-धर्म धर्म है। अन्य धर्मों से पुनर्जन्मवाद उसकी समानता है, किन्तु कर्माध्यक्ष ईश्वर और नित्य आश्रय आत्मा के अस्वीकार करने पर पुनर्जन्मवाद भी अन्य धर्मों के समान नहीं रह जाता। वह केवल अपराध-दण्ड की व्यवस्था मात्र रह जाता है, जो उनका कर्मवाद है। इस स्थिति में उनके धर्म की व्यवस्था कर्मवाद मात्र है,

भारतीय संविधानगत धर्मनिरपेक्षता का बौद्ध-धर्म दर्शन के साथ समन्वय

डॉ० टी० छोगडुब

भारत में विविध धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का विकास हुआ है। उनमें से वैदिक, बौद्ध और जैन आदि धर्मों का जन्म इसी भारतीय धरती में हुआ है और ईसाई एवं यवन धर्म बाहर से आये हैं आयातित धर्मों के साथ-साथ संस्कृतियों एवं कुछ परम्पराओं का आना भी स्वाभाविक था। फलतः स्वतन्त्र भारत एक बहुधर्मी बहु-भाषी एवं बहु-सांस्कृतिक देश बन गया है।

उक्त परिस्थितियों को देखते हुए भारत के संविधान निर्माताओं ने ऐसा स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जिसमें पूर्ण रूप से धार्मिक स्वावन्त्र्य रहे, पर राज्य किसी एक धर्म का पक्ष न ले। किन्तु हमारे संविधान में धर्मनिरपेक्ष राज्य (सेक्यूलर) शब्द को अभिव्यक्त रूप में उल्लिखित नहीं किया गया। संविधान के 42 वें संशोधन के द्वारा प्रस्तावना में "धर्म-निरपेक्ष" शब्द को समाविष्ट कर उक्त विचारधारा को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया।

'सेक्यूलरिज्म्' या 'धर्म-निरपेक्षता' का उद्भव पश्चिम में हुआ हो या पूर्व में, भारत में इसका तात्पर्य केवल यह हो सकता है कि राज्य धर्म के मामले में पूर्णतः तटस्थ है। राज्य सभी धर्मों को संरक्षण प्रदान करता है। पर वह किसी भी धर्म में हस्तक्षेप नहीं करता। धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप में कोई रहस्यवाद नहीं है। धर्म-निरपेक्षता न तो अस्तिवाद है और न नास्तिवाद है। राज्य सभी धर्मों को, ईश्वरवादी, संशयवादी, आस्तिक और नास्तिक आदि सबको समान मानता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का सम्बन्ध मानव के आपसी सम्बन्धों से रहता है। मानव और ईश्वर आदि का सम्बन्ध इसके दायरे से बाहर है। धर्म, व्यक्ति के अन्तःकरण से सम्बन्धित मामला है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को मानने तथा किसी भी ढंग से किसी भी भगवान् की पूजा करने की पूरी स्वतंत्रता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 24 के अन्तर्गत धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और पोषण आदि धार्मिक कार्यों में लोगों को स्वतंत्रता है। अतः हमारा विचार है कि संविधान तथा इससे सम्बद्ध व्याख्याओं से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मनिरपेक्षता धर्मविरोधी नहीं है।

प्रश्न यह उठता है कि धर्मों में कुछ विसंगतियाँ दिखलायी पड़ती हैं। संकीर्णताओं और अनुदार प्रवृत्तियों को अक्षुण्ण रख कर धर्म-निरपेक्षता के साथ धर्म कैसे सुरक्षित रह सकता है। राष्ट्रीय जीवन और व्यक्तिगत जीवन दोनों में धर्म-निरपेक्षता के साथ धर्म का आचरण कैसे सम्भव हो सकता है।

इन समस्याओं को दूर करने के लिये सर्वप्रथम हमें निश्चय करना है कि "धर्म" किसे कहते हैं। हमारे संविधान में "धर्म" शब्द की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। इसलिये इसके अर्थ को समझने के लिये न्यायिक निर्णयों की सहायता लेनी पड़ती है। उच्च न्यायालय ने "धर्म" शब्द की परिभाषा निश्चित की है। उसके अनुसार धर्म केवल सैद्धान्तिक या विश्वास मात्र नहीं है, अपितु उसमें वे सभी कार्य भी समाविष्ट हैं जो धार्मिक समाज में किये जाते हैं।

यथा-कर्मकाण्ड, उपासनायें एवं व्याख्यान आदि।

"धर्म" शब्द का अर्थ संवैधानिक तथा न्यायिक दृष्टि से भले ही ऐसा हो; किन्तु बौद्ध-दर्शन की दृष्टि से धर्म शब्द नैतिकता को प्रकट करता है जो व्यक्ति को दुराचार तथा कुप्रवृत्तियों से बचाती है। पूजा उपासना और कर्मकाण्ड स्वयं कोई धर्म नहीं हैं। यदि "कुशल चित्त" से प्रेरित हो तो उक्त सभी कार्य धर्म का रूप ले सकते हैं, अन्यथा नहीं।

यदि वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था तथा जन्मजात शुद्धता आदि को भी धर्म के रूप में ले लें तो निश्चय ही धर्म-निरपेक्षता का विरोध होगा। क्योंकि धर्म-निरपेक्षता में अनुदार प्रवृत्तियों को अक्षुण्ण नहीं रखा जा सकता है। यदि हम धर्म को नैतिकता, बौद्धिक लोगों के लिये कल्याणकारी स्वरूप में ग्रहण करें और उदारता के अर्थ में ले लें तो धार्मिक होते हुए भी धर्मनिरपेक्षता का पालन कर सकते हैं।

अनीश्वरवाद, नैरात्म्यवाद तथा मानववाद, बौद्ध धर्म का मूल है तथा इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह धर्म "बहुजन सुखाय" और "बहुजनहिताय" के आधार पर खड़ा है। अतः उपर्युक्त धर्म-निरपेक्षता के साथ यही सुरक्षित रह सकता

है, तथा राष्ट्रीय और व्यक्तिगत जीवन में योगदान कर सकता है। जो धर्म जितना मानवतावाद के समीप है, वह उतना ही धर्मनिरपेक्षता के समीप भी आ सकता है।

संक्षिप्त में ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि हमारे भारतीय संविधान में "धर्म-स्वातन्त्रय का अधिकार" का उल्लेख है, परन्तु "धर्मनिरपेक्षता", शब्द व्यक्त रूप में नहीं है। 42 वें संशोधन में इस शब्द को जोड़ दिया गया है। तथा "धर्म" शब्द की परिभाषा एवं व्याख्या न्यायालयों ने की है। उसके अनुसार धर्म निरपेक्षता में कोई भी रहस्यवाद नहीं है। यह न तो धर्म-विरोधी है और न ही धर्म का समर्थक हैं। यह धर्म के विषय मे तटस्थ होते हुए धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करती है। शर्त यह है कि संकीर्णताओं एवं अनुदार प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर धर्म का उपयोग करें। इसलिये बौद्ध-धर्म-दर्शन में उक्त प्रकार की धर्म-निरपेक्षता के साथ समन्वय होने की सम्भावना हो सकती है।

संदर्भ : 1- भारत का संविधान अनुच्छेद 25-28

2- कमिश्नर हिन्दू रेलिजस एन्डाउमेंट्स मद्रास बनाम श्री एल. टी. स्वामीयर. ए०आई०आर० 1954, सु०को० 282, जगन्नाथ रामानुज दास बनाम उड़ीसा राज्य, ए०आई०आर० 1954, सु०को० 400, दगहि कमेटी अजमेर बनाम सैयद हसन अली, ए०आई०आर० 1961, सु०को० 1402, सेशाम्मल बनाम तमिलनाडु राज्य 1972, 2 उम०नि०प० 746, ए०आई०आर० 1972, सु०कोट० 1586।

●

भारत में धर्मनिरपेक्षता - सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ० शारदा चतुर्वेदी
प्राध्यापिका
भाषाविज्ञान-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-221002

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से "धर्म-निरपेक्षता" शब्द का अर्थ है- धार्मिक अथवा आध्यात्मिक तथ्यों से कोई संबंध न होना। इस अर्थ के अनुसार प्रत्येक विचार, सिद्धान्त या वस्तु जो धार्मिक अथवा आध्यात्मिक तथ्यों से कोई संबंध न रखती हो, धर्म-निरपेक्षता की कोटि में आयेगी। जैसे कि धर्म-निरपेक्ष साहित्य का आशय है- ऐसा साहित्य जो धर्म से असम्बद्ध है अथवा जिसका उद्देश्य धार्मिक नहीं है। धर्म-निरपेक्ष शिक्षा वह है जिसके पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा का समावेश न हो और इसी प्रकार एक धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण मानव के अन्य पक्षों के मध्य पृथकता पर आधारित होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर धर्म-निरपेक्षता एक विचारधारा है जो धर्म द्वारा प्रदत्त जीवन तथा व्यवहार के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न दर्शन प्रदान करती है। इसलिये सामान्य अर्थ में धर्म-निरपेक्ष राज्य का आशय धर्म तथा राज्य के मध्य पृथकता के सिद्धान्त पर आधारित राज्य से है।

प्रो० स्मिथ ने 1963 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "इण्डिया एज से सेक्यूलर स्टेट" में धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रत्यय को परिभाषित करते हुये लिखा है कि "धर्मनिरपेक्ष राज्य व्यक्तिगत और सामूहिक आधार पर अपने निवासियों को धर्म की स्वतंत्रता प्रदान करता है।" प्रत्येक व्यक्ति के प्रति इसका दृष्टिकोण इस तथ्य पर आधारित होता है कि वह एक नागरिक है न कि इस पर कि वह किस धर्म से सम्बन्धित है। सवैधानिक रूप से यह किसी धर्म विशेष से संबंधित नहीं होता और न ही किसी धर्म को प्रोत्साहित करने अथवा अवरोधित करने के लिये प्रयास करता है। यदि इस परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य का प्रत्यय राज्य, धर्म और व्यक्ति के मध्य तीन पृथक् परन्तु परस्पर सम्बद्ध सम्बन्धों

पर आधारित है। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की तुलना त्रिभुज के ज्यामितीय आकार से की जा सकती है, जिसके आधार के दो कोण धर्म और राज्य तथा शीर्षकोण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। त्रिभुज की दो भुजायें तथा आधार तीन प्रकार के संबंधों के द्योतक हैं। व्यक्ति और राज्य को जोड़ने वाली भुजा नागरिक अधिकारों की ओर व्यक्ति और धर्म को जोड़ने वाली भुजा स्वतंत्रता की ओर, आधार भुजा दोनों के मध्य पृथक्करण की ओर इंगित करती है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त धर्म तथा राज्य के मध्य पृथक्करण का इस आधार पर समर्थक है कि इसका सम्बन्ध जीवन के दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से है।

निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्यों में अभी तक किसी भी राज्य में धर्म और राज्य के मध्य इस प्रकार का पूर्ण पृथक्करण संभव नहीं हो सका है, फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका पहला राज्य है जहाँ संवैधानिक रूप से धर्म तथा राज्य के मध्य पृथक्करण पर आधारित राज्य की स्थापना की गई है। अमेरिकी संविधान में प्रथम संशोधन के बाद वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक प्रसिद्ध वाद "एटर्जन-बनाम शिक्षापरिषद्" में कहा "संघ अथवा किसी राज्य सरकार द्वारा ऐसी विधियों का निर्माण नहीं किया जा सकता, जिनका उद्देश्य किसी एक अथवा सभी धर्मों को सहायता करना अथवा किसी एक को अन्य पर प्राथमिकता देना है।" इस दृष्टिकोण के अनुसार धर्म के संदर्भ में राज्य को किसी प्रकार की भूमिका सकारात्मक अथवा नकारात्मक नहीं होती है। अमेरिका से भिन्न ग्रेट ब्रिटेन का अपना राजधर्म है। एंग्सिकन चर्च राज्य संस्था है तथा ब्रिटेन में यह सुस्थापित नियम है कि सम्राट् अथवा साम्राज्ञी को एक विशेष धार्मिक मत का होना चाहिये किन्तु फिर भी ब्रिटेन को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य माना जाता है क्योंकि ब्रिटिश दृष्टिकोण के अनुसार राज्य तथा धर्म के मध्य पूर्ण पृथक्करण संभव नहीं है। धर्म को पर्यायवाची मानने वाले मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित सोवियत समाजवादी गणराज्य का संविधान धर्म तथा राज्य के मध्य पृथक्करण का इस सीमा तक समर्थक है कि वह अपने नागरिकों को धर्म के विरुद्ध अथवा नास्तिकता के प्रचार का अधिकार देता है, जब कि धर्म के प्रचार के विषय में सोवियत संविधान मौन है। आलोचकों के अनुसार सोवियत राज्य को, जो धर्म-विरोधी है, धर्मनिरपेक्ष कहना उचित न होगा।

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द की परिभाषा, विभिन्न राष्ट्रों में उसका स्वरूप और संक्षेप में उसकी परिचयात्मक व्याख्या के बाद यदि हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस दृष्टिकोण का

ऐतिहासिक अध्ययन करें तो पायेंगे कि भारतीय इतिहास के वैदिक युग में वर्तमान धर्म-निरपेक्षता जैसी कोई चीज नहीं थी। क्योंकि इस समय हिन्दू धर्म का प्रभुत्व संपूर्ण भारत, यों कहिये सम्पूर्ण विश्व पर छाया हुआ था। विभिन्न धर्मों का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था इसलिये उनके मध्य आपसी टकराहट की कोई बात ही नहीं थी। राष्ट्र का सम्पूर्ण राजनैतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक ढाँचा एक सार्वभौमिक मानव धर्म पर टिका हुआ था।

वैदिक काल की समाप्ति के बाद जब हमने मौर्य युग में प्रवेश किया उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य जैसा एक शक्तिशाली सम्राट् पाया जिसने कि अपना मस्तिष्क धार्मिक उत्थान-पतन के स्थान पर राष्ट्र की एकता और अखण्डता पर लगाया। इसलिये उस समय धर्म का कोई विशेष स्वरूप हमारे सामने दृष्टिगोचर नहीं होता है। हाँ, महान् सम्राट् अशोक के आते आते स्थिति ने नया मोड़ लिया। इस समय तक भारतीय वैष्णव धर्म, शैव और शाक्त दो परस्पर विरोधी मतों में उलझा ही हुआ था कि आस्तिक धर्म के विरोध में नास्तिकता का प्रचार करने में जैन और बौद्ध धर्म भी आपस में उलझ गये। अशोक ने अपने राज्य को बौद्ध मतान्तरों पर चलाने का पूरा प्रयास किया। उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री चारूमित्रा को इसी धर्म के प्रचार हेतु लंका, वर्मा, चीन, थाईलैण्ड और कम्बोडिया आदि देशों में भेजा। अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया था, वह वास्तव में मात्र बौद्धधर्म ही न होकर एक विश्वधर्म था जो मानव धर्म के रूप में प्रतिष्ठित था। क्योंकि इसमें सर्वधर्म समभाव के सारे तत्व निहित थे। दूसरी तरफ इस समय राष्ट्र-धर्म निरपेक्ष हो ऐसी माँग जनता द्वारा नहीं की गयी थीं; क्योंकि उस समय जनता में इतनी धार्मिक चेतना ही नहीं थी। साथ ही शैव और शाक्त, बौद्ध और जैन के रूप में धर्म के विभिन्न स्वरूप जो हमारे सामने आये सभी वास्तव में हिन्दू धर्म की व्याख्या पर ही आधारित थे। इसीलिये उनमें कोई आधारभूत टकराहट भी नहीं थी।

तत्पश्चात् गुप्त काल में बौद्ध धर्म से हटकर परम्परागत धर्म का प्रचार और प्रसार हुआ। हर्षवर्धन के आने तक इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। हर्षवर्धन युग की समाप्ति के बाद भारतीय हिन्दू धर्म की जड़े, मुस्लिम आक्रमणों के साथ हिलने लगी। बाद में अकबर ने "दीन-ए-इलाही" नामक धर्म की स्थापना करके एक धार्मिक सद्भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया। परन्तु औरंगजेब के आते-आते ये धार्मिक समभाव, धार्मिक संप्रदायवाद में परिवर्तित हो गया। उसने हिन्दू धर्म को नष्ट करने का पूरा प्रयास किया। मंदिरों को तोड़कर मस्जिदों में परिवर्तित कराने में अपनी राज्य शक्ति का काफी ह्रास किया। दूसरी तरफ इसी समय हिन्दुओं में भी राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई। इसी समय शिवाजी जैसे कुछ प्रतापी

सम्राट् उत्पन्न हुये जिन्होंने हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने का भरसक प्रयास किया, साथ ही हिन्दू जनता में भी चेतना जागृत हुई कि उन्हें भी मुसलमानों की तरह धार्मिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। वास्तव में "धर्म-निरपेक्षता" के बीज एक माँग या आन्दोलन के रूप में इसी समय बो दिये गये थे।

भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ के साथ ही एक तरफ "आर्य-समाज", "ब्रह्म-समाज" ओर "प्रार्थना-समाज" जैसे धार्मिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ; जिनसे राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने सिद्धान्त रूप में हिन्दू और इस्लाम धर्म के साथ समानता का व्यवहार करने का ढोंग रचा, जब कि वास्तविकता यह थी कि वे हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक-दूसरे से लड़ा कर अपने भारत के आर्थिक शोषण के उद्देश्य को पूरा करते रहें और इसमें उन्हें कुछ हद तक सफलता भी प्राप्त हुई। वास्तव में अंग्रेजी शासन काल में हमारा देश धर्मनिरपेक्ष के स्वरूप में नहीं बल्कि धर्म संघर्ष और कलह के युग से गुजरा जिसकी चरम परिणति देश की स्वतंत्रता के समय 1947 में भारत विभाजन के रूप में हुई। जिसके कडुवे फल भारत और पाकिस्तान दोनों को आज भी भुगतने पड़ रहे हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश के तमाम विचारकों और चिंतकों ने धार्मिक वैमनस्य और जहरवाद की स्थिति का गंभीरतापूर्वक विश्लेषण करके इस राष्ट्र को धर्म-निरपेक्ष स्वरूप प्रदान किया और इसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तावना से लेकर संविधान के भाग 3 में प्रदत्त नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के तहत प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी।

आलोचनात्मक विश्लेषण करने पर संवैधानिक विधि व्यवस्था के तहत भारतीय धर्मनिरपेक्षता की अपनी तीन विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं-

1- इसका स्वरूप उदारवादी है। इसका आशय यह है कि यद्यपि भारत मूलतः एक हिन्दू-बहुल राष्ट्र है। फिर भी संविधान द्वारा न केवल सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता व समानता के अधिकार दिये गये हैं, बल्कि विभिन्न अल्पंसख्यक समुदाय के अधिकारों की सुरक्षा हेतु उपबन्ध बनाये गये हैं। अनुच्छेद 25 में धर्मप्रसार शब्द ईसाइयों के लिये अधिक लाभप्रद है। किन्तु इसके अंतर्गत धर्मान्तरण भी कर सकते हैं।

2- भारतीय धर्म-निरपेक्षता, निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। इस धर्म में धार्मिक स्वतंत्रता को समाज की व्यवस्था के हित में प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

3- अन्ततः भारतीय धर्मनिरपेक्षता जड़ न होकर निरन्तर गतिशील है, यह ज्ञात रूप है। क्योंकि धर्म को राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप के लिये प्रतिबन्धित करती

है, जबकि सामाजिक कल्याण की दृष्टि से राज्य इसमें हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य को किसी भी धार्मिक मत के व्यक्तिगत कानून को परिवर्तित करने का भी अधिकार है इन सब व्यवस्थाओं के बावजूद पिछले 39 वर्षों के स्वशासन के दौरान धर्मनिरपेक्षता की जो असलियत हमारे सामने आयी, उसको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मनिरपेक्षता की उपरोक्त बताई गयी तीनों विशेषताओं का स्वरूप हमारे देश में मात्र वैधानिक बनकर रह गया है। वास्तविकता इससे कोसों दूर है। उदाहरण के तौर पर पंजाब में धर्म के नाम पर किया गया नंगा नाच, कश्मीर में राष्ट्रविरोधी प्रचार और समय-समय पर पाकिस्तानी झंडों का फहराया जाना, भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्रों में बढ़ता हुआ ईसाइयत का प्रभाव, जिसके तहत नागालैण्ड की प्रान्तीय भाषा का अंग्रेजी घोषित होना मिजो छापामारों की कार्यवाहियों तथा केरल में एक साथ बहुसंख्यक हिन्दुओं का ईसाई धर्म में परिवर्तित होना, हमारी धर्म-निरपेक्षता के कलंकित बिन्दु हैं। इन गतिविधियों से साफ जाहिर होता है कि यहाँ के मूलभूत निवासी आर्यों के अतिरिक्त जो भी विदेशी आक्रान्ता बाहर से आये, वे और उनके अनुयायी, विभिन्न धर्मावलम्बी लोग, आज भी इस देश की राष्ट्रीय धारा से एक नहीं हो पाये हैं। इसलिये हमारी सरकार और यहाँ के प्रबुद्ध वर्ग को इस समस्या पर गंभीरता से विचार और चिंतन करना चाहिये कि राष्ट्र की सामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये धर्मनिरपेक्षता की नीति का वर्तमान स्वरूप कैसा होना चाहिये। मेरे विचार से धर्म की स्वतंत्रता, प्रचार और प्रसार के साथ-साथ धर्मान्तरण पर रोक लगाया जाना हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता है।

जहाँ एक सैद्धान्तिक पक्ष का प्रश्न है धर्मनिरपेक्षता एक आदर्श नीति है और आदर्श रूप में हमारे सामने आज इसका कोई विकल्प नहीं है। क्योंकि अब यह सुस्थापित सत्य है कि भारत एक बहुधर्मी एवं बहुभाषायी देश है। पूर्व पृष्ठों में दिये गये ऐतिहासिक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यह नीति आदर्शवाद के सिद्धान्त पर आधारित होते हुये भी व्यवहार में पूर्णरूपेण कभी नहीं लाई जा सकी। इसलिये आज इस बात की महती आवश्यकता है कि धर्म-निरपेक्षता के आदर्श स्वरूप और उसके वास्तविक स्वरूप के बीच एक सामञ्जस्य स्थापित किया जाय जिससे कि राष्ट्रीय एकता, क्षेत्रीय अखण्डता और राजनैतिक संप्रभुता कायम रह सके। राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर और अस्मिता सुरक्षित रह सके। साथ ही कोई भी नीति निर्धारित करते समय यह ध्यान रखना पड़ेगा कि राष्ट्र पहले है और धर्म बाद में।

•

बौद्ध-धर्म और दर्शन में धर्म-निरपेक्षता के जीवन्त तत्त्व

श्री टशी पलजौर

भारत धर्म-निरपेक्ष देश है। धर्म-निरपेक्षता पर विचार करने पर मन में अनेक प्रकार की शंकाएं उत्पन्न होती हैं। क्या हम सभी धर्मों का आदर कर सकते हैं ? यदि ऐसा हो तो विश्व के सभी लोग आपस में मिल-जुल कर रह सकते हैं, कभी भी धर्म के नाम पर विश्व में युद्ध, झगड़े एवं हिंसा आदि नहीं हो सकते। वस्तुतः धर्म का सही अर्थ मानव कल्याण का भाव होना उचित है। सभी धर्मों में अनेक रूढ़ियाँ विद्यमान हैं, उन रूढ़ियों को सभी धर्मावलम्बियों को मिलकर हटाना चाहिए। आज के इस वैज्ञानिक युग में धर्मों में वर्णित सभी बातों को श्रद्धा से स्वीकार करना भी उचित नहीं लगता, क्योंकि अनेकों धार्मिक ग्रन्थों में समाज विरोधी एवं नैतिकता के विपरीत तथ्य भी मिलते हैं। जैसे जातिवाद इत्यादि मानने से एक व्यक्ति दूसरे से अपने को पृथक् समझता है, जिसके कारण हमारे समाज में कई बुराइयों को प्रश्रय मिलता है। प्राचीन-काल से आज तक मनुष्यों में असमानता का यह भाव एक स्वस्थ समाज के विकास के लिए प्रमुख बाधा भी है। कुछ आधुनिक विचारों के व्यक्तियों एवं समाज को छोड़ दें तो आज भी हमारा पूरा समाज इसे स्वीकार करता है। हिन्दू धर्म लें तो जातिवाद, जहाँ बौद्ध समाज है, वहाँ पर भी जातिवाद है। मूलतः बौद्ध धर्म में जातिवाद के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। किसी भी जाति से सम्बन्धित व्यक्ति बौद्ध-धर्म स्वीकार कर सकता है। बौद्ध-धर्म में भी मनुष्यों के विचार के अनुसार पाँच प्रकार की गोत्र व्यवस्था है। ये हैं-गोत्रहीन, अनियत-गोत्र, श्रावक-गोत्र, प्रत्येक बुद्ध-गोत्र तथा बोधिसत्व-गोत्र।

विश्व मानव के सह अस्तित्व के लिए आज धर्म-निरपेक्षता का मुद्दा महत्त्वपूर्ण है। आज जितने प्रकार के अमानुषिक कार्य, हिंसा, युद्ध होते हैं वे सभी धर्म की प्रेरणा लेकर होते हैं। वस्तुतः युद्ध, धर्म और जाति से ही प्रारम्भ होता है। खेद की बात है कि मनुष्य अपने बहुमूल्य जीवन के महत्त्व को न समझकर इसे धन, लोभ, यश-प्राप्ति में ही समाप्त कर देते हैं। मानव का जीवन अत्यन्त दुर्लभ है, कभी-कभी परोपकार का विचार मन में आए, वे भी अधिकतर स्वार्थपूर्ण होते हैं।

भारत में बौद्ध-धर्म, उसमें भी विशेषकर महायान धर्म के प्रादुर्भाव से एक नवीन विचारधारा फैली, जिसमें बोधिसत्व का आदर्श प्रस्तुत हुआ। इस नवीन विचारधारा से आज भी विश्व को सन्मार्ग पर ले चलने का आदर्श मार्ग प्रशस्त है। बोधिचित्त, पारमिता, स्व-परसमता को धर्म-निरपेक्षता के साथ जोड़ें, तो सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यों एवं अन्य सत्त्वों को इहलोक एवं परलोक दोनों की दृष्टि से सम्यक् दृष्टि एवं फल प्राप्त हो सकता है। वास्तव में यही सिद्धान्त विश्व-मानवता को शान्ति एवं सुख प्रदान कर सकता है। भारत में जब से बोधिसत्वों की विचारधारा का प्रवर्तन हुआ, तब से आज तक समाज पर भी इसका प्रभाव दिखाई देता है। बोधिसत्त्वों का कार्यक्षेत्र केवल मनुष्यलोक तक ही सीमित नहीं, इसका क्षेत्र त्रिलोक के समस्त सत्त्व हैं। वे सदा प्राणियों का हित सोचते हैं। बोधिसत्त्व अपने मौलिक सिद्धान्तों के माध्यम से सत्त्वों को सुख दिलाना ही नहीं अपितु वे जीवनपर्यन्त सम्यक् दृष्टि के माध्यम से ६ पारमिताओं का अभ्यास करते हैं, सम्यक् दृष्टि का होना आवश्यक है। प्राणियों के साक्षात् हित के लिए चतुर्वस्तु संग्रहों का अभ्यास भी करते हैं। इन दो महत्त्वपूर्ण विषयों के माध्यम से निरन्तर के सत्त्वों के शारीरिक और मानसिक दुःखों को हटाने में प्रयत्नशील रहते हैं। शून्यता बोधिसत्त्वों की दृष्टि होती है, शून्यता शब्द के प्रति शंका मात्र करने से भी प्राणियों की अविद्या हिलने लगती है।

शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद को पयार्यवाची शब्द कहा जा सकता है। जो भाव उत्पन्न होता है, स्वतः नहीं है, जो भी सत्त्वों को जीवन मिला है वे प्रतीत्यसमुत्पाद हैं। शून्यता को समझना भी कठिन कार्य है। इसके अर्थ को समझने के लिए सम्पूर्ण बौद्ध-धर्म और दर्शन का अध्ययन अपेक्षित है। आचार्य नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव आदि आचार्यों ने शून्यता के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनेकों शास्त्रों की रचना की। इनके अध्ययन से शून्यता के सही अर्थों का बोध होता है। शून्यता के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए तथागत ने प्रज्ञापारमिता-पिण्डार्थ में इस प्रकार कहा है- "रूप शून्य है, शून्यता रूप है, रूप से शून्यता अन्य नहीं है तथा शून्यता से रूप भी अन्य नहीं हैं।" इस प्रकार शून्यता को बुद्ध ने संक्षेप में कहा है। कालान्तर में बुद्ध के उपदेशों को समझना कठिन हो गया। इसलिए आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की। आचार्यों ने बहुत स्पष्ट रूप से बुद्ध के गम्भीर उपदेशों को शास्त्रों में बतलाया। साधारण विनेयजनों के लिए शून्यता को समझना सरल नहीं है। इससे भी गम्भीर और सूक्ष्म कर्म फल है, जिसे

साधारण पुरुष समझ नहीं सकते। शून्यता की दृष्टि एवं पारमिताओं की चर्चा के अभ्यास से सत्त्व, बोधिसत्त्व के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। बोधिसत्त्वों का अन्तिम प्राप्य वस्तु प्रयोजन-प्रयोजन है। इसे प्रायोपाय द्वारा ही किया जा सकता है। इससे उच्च उपलब्धि अन्य कोई नहीं है।

सही धर्म से समस्त सत्त्वों का लाभ :

मनुष्य के इहलोक और परलोक दोनों के लाभ के लिए, बौद्ध-धर्म, दर्शन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। इसके अध्ययन से मनुष्य अपने पुरुषार्थ को भी प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अनादि काल से अपने कर्मों के बन्धन से मुक्त नहीं हैं। आज भी हम इस गमनागमन के बन्धन से मुक्त नहीं है। इससे मुक्त होने हेतु जिन विषयों का सतत अभ्यास अनिवार्य है, वे हैं-निःसरण, बोधिचित्त एवं सम्यक् दृष्टि। उक्त तीनों विषयों के श्रवण, चिन्तन एवं भावना से मनुष्य अपने लक्ष्य को सरलता से प्राप्त कर सकता है। इसके लिए मोहवश अकुशल कार्यों को करने की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य अपने संस्कारों, परिवार, समाज में प्रचलित पूर्व ग्रसित मान्यताओं के कारण या यथातथ्य का बोध नहीं कर पाते हैं, क्योंकि वे अपनी विवशताओं के कारण अपने समाज को छोड़ भी नहीं सकते। इसलिए अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ के सांसारिक विवादों में जकड़ कर गवां देता है। विज्ञान के उन्नति और नवीन टेक्नालॉजी के साथ आज हम इक्कीसवीं सदी की ओर अग्रसर हैं। प्रायः यह बात सुनाई देती है कि विज्ञान और टेक्नालॉजी के इस युग में लोग धर्म को भूलते जा रहे हैं। भौतिक सुविधाओं का उपयोग करते हुए भी आध्यात्मिक चिन्तन एवं मनन किया जा सकता है। भगवान् बुद्ध आध्यात्मिक विद्याओं को ठीक से समझने से ही वास्तविक सुख एवं शान्ति की खोज के लिए सभी राजसी वैभव को त्यागकर निकल पड़े थे। उन्होंने अथक परिश्रम से एक ही जीवन में बुद्धत्व प्राप्त कर, त्रिलोक के प्राणियों के हित में त्रैशिक्षा का उपदेश, विनयजनों को प्रदान किया। यही बुद्ध की आध्यात्मिक शिक्षा है, इसके अध्ययन करने से प्राणियों को निःसन्देह लाभ मिलेगा।

बौद्ध धर्म-दर्शन के द्वारा सत्त्वों के दुःखों का निवारण :

बौद्ध-धर्म में प्राणिमात्र का कल्याण ईप्सित है। सत्त्वों के दुःख को दूर करने के लिए निरन्तर प्रयास एवं उत्साह अपेक्षित है। बुद्ध अनेकों बोधिसत्त्वों के रूप में जीवन धारण कर प्राणिमात्र के कल्याण के उपदेश करते रहे। उनके उपदेश सिंहघोष

की भाँति सभी के लिए होते थे। जाति, धर्म, देश, व्यवसाय से निरपेक्ष होकर, बुद्ध सत्त्व मात्र के हितार्थ उपदेश प्रदान करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में यह भी विवरण मिलता है कि सत्त्वकल्याणार्थ उपदेश के लिए बुद्ध नरक में भी गए थे। यह भी सर्वविश्रुत है कि बोधिसत्त्व के रूप में जन्म लेकर, उन्होंने अपने शरीर को सद्यःप्रसूता सिंहनी को प्रदान कर दिया जो अपने शावकों को ही खाने के लिए उद्यत थी। इस प्रकार के अनेकों विवरण अवदानों, जातकों एवं विनय-सूत्रों में वर्णित है। आज पूरे विश्व में शान्ति स्थापनार्थ व्यापक अभियान चलाया जा रहा है। शान्ति हम सब लोगों के लिए इष्ट है; शान्ति का विरोधी एवं अशान्ति का उत्स हिंसामूलक विचार एवं प्रेरणायें हैं। इसके विपरीत बौद्ध-धर्म अहिंसावादी विचारधारा का संवाहक है। अतः बुद्धिजीवियों के लिए यह विचार करना परमावश्यक है कि निःस्वार्थ भावना से अहिंसा-मूलक विचारों को समाज में प्रचारित करें। आचार्य शान्तिदेव अपने ग्रन्थ बोधिचर्यावतार के दशम परिच्छेद में कहते हैं कि-- राजा धर्म के अनुसार कार्य करे तो राज्य का विकास हो सकता है। इसलिए यदि हमारे राजनेताओं के भी विचार परोपकारी, उदार, व्यापक और दूरदर्शी हों तो देश में ही नहीं, विश्व स्तर पर इस समस्या का समीचीन हल प्राप्त हो सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यक्ति के विचारों को परिवर्तित करने से समाज की कई समस्याओं का हल अनायास प्राप्त हो जायेगा। इसके लिए अहिंसामूलक विचारधारायें, विशेषकर बौद्धधर्म, दर्शन का अध्ययन सार्थक होगा।

सभी धर्मों का आदर करना :

धर्म-निरपेक्षता शब्द का उद्भव कब, कहाँ और किसलिए हुआ, इस विषय पर वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। आधिकारिक विद्वान् इन विषयों को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करेंगे। सम्भवतः इसका उद्भव पाश्चात्य देशों में ही हुआ। जिसका अनुकरण हमारे नेताओं और संविधान निर्माताओं ने किया। इस बहुधर्मी देश में धर्मनिरपेक्षता और सर्व-धर्म-समन्वय या समभाव जैसे विचारों का कितना प्रभाव पड़ा, कहना दुष्कर है। सभी विवेकशील लोगों एवं बुद्धिजीवियों का उद्देश्य यह होना चाहिए कि सभी धर्मों के लोग इस बहुधर्मी एवं बहुआयामी समाज में आदरपूर्वक रहे।

सातवीं शताब्दी में भोट नरेश सोड़चन गम्पों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया और उन्होंने समाज के कल्याण एवं उत्थान के लिए दस कुशल एवं सोलह मनुष्य

धर्मों (नियमों) का निर्माण किया और उसे समाज में लागू किया। यही कारण है कि आज भी तिब्बती लोग बौद्ध-धर्म का श्रद्धापूर्वक श्रवण, चिन्तन एवं मनन करते हैं। यद्यपि तिब्बत में बौद्ध-धर्म भी चार सम्प्रदाय में विभक्त हुआ तथापि वे चारों सम्प्रदाय आपस में सहिष्णुता से रहते हैं।

विश्व के समस्त विचारों, धर्मों और सम्प्रदयों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए और श्रद्धा से भी इसी बात को नियम बनाकर अपने समाज में भोट नरेश ने भी लागू किया। जिसके कारण आज भी तिब्बत के लोग अनुशासनप्रिय और कुशल और अकुशल कर्मों के फल में विश्वास करते हैं।

भगवान् बुद्ध के उपदेश केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं बल्कि त्रिलोक के समस्त सत्त्वों के लिए हैं। बौद्ध धर्म से मनुष्य का इहलोक-परलोक दोनों हितकर होगा। प्राचीनकाल में भी आज की भाँति युद्ध और अशान्ति अवश्य थी। सम्पूर्ण इतिहास राजाओं के युद्धों से पूर्ण है।

अब ऐसा समय आ गया है कि विश्व के लिए ऐसे उपाय की खोज की जाय, जो जितने विभिन्न धर्मों को मानने वाले हैं, उन सभी को मान्य हो। धर्मों के मध्य मतभेदों का होना स्वाभाविक है। एक ही धर्म को मानने वालों में भी मतभेद है। जैसे बौद्धों में हीनयान व महायान। महायान में ही विज्ञानवाद और माध्यमिक दो प्रमुख भेद हैं। माध्यमिक में स्वातन्त्रिक एवं प्रासंगिक दो भेद हैं। इसके बाद तन्त्रयान के अन्तर्गत सिद्धान्त, चर्चा, भावना आदि माध्यमिक मत से भिन्न हैं। इस प्रकार की भिन्नताएँ सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में प्रायः होती ही हैं।

आइए, हम मिलकर एक ऐसा वर्ग या जनमत तैयार करने का प्रयास करें जिसमें सभी धर्मों की असंगत बातों को छोड़कर अच्छे सिद्धान्तों को ग्रहण कर एक स्वस्थ समाज बनायें और वह सभी धर्मावलम्बियों को मान्य हो।

धर्मनिरपेक्षता और समाज :

भारतीय समाज के लिए धर्मनिरपेक्षता कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसे स्वीकार कर हमारे संविधान निर्माताओं ने हमारे शासन को धर्मनिरपेक्षता की कसौटी दी। हमारे देश में नाना प्रकार के धर्मावलम्बी निवास करते हैं। इन्हें आपस में मिलकर रहने के लिए सहअस्तित्व की भावना एवं विचार को बढ़ावा देना चाहिए सभी धर्मों को सह-अस्तित्व की यह भावना धर्मनिरपेक्षता से मिल सकती है। अन्यथा समाज में व्यक्ति एक-दूसरे पर अविश्वास करने लगता है। ऐसी स्थिति में यह भी

निश्चित नहीं कि कब एक वर्ग दूसरे का संहार कर दे, मिटा दे। हमारे शासन का भी यह दायित्व है कि धर्मनिरपेक्ष रहकर इसकी भावना को जन-जन तक पहुँचायें जिससे बहुसंस्कृति और बहुधर्मी समाज आपस में मिल-जुल कर रह सके। साम्प्रदायिक दंगों के समय देश की सम्पत्ति की जो हानि होती है उसे रोक सकें। वास्तव में पूरे देश के लोगों को यह भलीभाँति ज्ञान होना चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता से क्या-क्या लाभ हमारे समाज को मिल सकता है। बुद्धजीवियों का कर्तव्य यह हो जाता है कि धर्मनिरपेक्षता के पक्ष को अत्यन्त सरल रूप से प्रस्तुत जन-जन तक पहुँचावे।

•

आधुनिक रिलीजियन-विमुख समाज में प्रज्ञोपाययोग

डॉ० सुनीति कुमार पाठक

अंग्रेजी "रिलीजियन" और भारतीय शब्द "धर्म" समानार्थक प्रतिशब्द नहीं हैं। "रिलीजियन" शब्द का तात्पर्य तीन "आर" के साथ समन्वित है। वे इस प्रकार हैं- (1) रिच्युअल -अनुष्ठान क्रिया (2) रीजनिंग-बौद्धिकता और (3) रीयलाइजेशन-आन्तरबोध। इन तीन स्थिति से जो आचार सम्बन्धित हैं, वे रिलीजियस वीहेवियर कहलाते हैं। आधुनिक समाजविज्ञान और मानवविज्ञान के अनुसार मानव जीवन में भौतिक उपादानों के साथ ही आधिभौतिक गठनात्मक अंग उपादान बनते हैं। कपड़ा, रोटी और मकान के लिये जीविका या धन या रोजगार आवश्यक है, आधिभौतिक उपादान भी आवश्यक हैं, जैसे-जादू-टोने आदि अद्‌भुत क्रियाएँ, बीमारी की दवाएँ और मृत व्यक्ति की अन्त्येष्टि आदि। इस दृष्टि से रिलीजियन और धर्म समानार्थक नहीं हैं, यह बात स्पष्ट है।

धर्म, भारतीय सामूहिक जीवनचर्या के यथार्थ का द्योतक शब्द है। जिसमें जीवन की नित्यक्रियाएँ और नैमित्तिक क्रियाएँ एक साथ ग्रथित हैं। इसलिये प्रातः शय्यात्याग से लेकर प्रातः कल्यादि धर्म हैं। फिर जीविका का व्यवसाय भी धर्म की विधि है। विवाहादि से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त दशविध संस्कार भी धर्म हैं और, आध्यात्मिक बोध तथा आधिभौतिक प्रत्यक्षता भी धर्म है, जिससे अनन्त विश्व के साथ व्यक्ति और उसकी अव्यक्त चैतन्यशक्ति का अन्तलीन योग होता है। इस प्रकार सामग्रिक जीवन की दृष्टि और चर्या भारतीय धर्म है।

भारतीय साहित्य में इसलिये "धर्म" शब्द का प्रयोग अलग-अलग प्रसंग में मिलता है। जैसे-हमारे प्राचीन ऋग्वेद में "धर्म" शब्द क्लीबलिंग है। दो-तीन जगह में धर्म शब्द का व्यवहार पुलिंग भी है। यास्क ने " 'धर्म' इति यज्ञस्य नाम" कहा है।[1] ऋग्वेद में प्रयोग इस प्रकार है-- "यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"[2]। देवों ने यज्ञों के द्वारा यज्ञ किये थे वे ही धर्म हैं। अतः धर्म शब्द

---

१. निरुक्त ३/२३
२. १ मंडल १६४.५० सूक्त।

की व्युत्पत्ति "धृ धातु" करणवाच्य मन् प्रत्यय से की है। अर्थात् जिस गुण, स्वभाव या शक्ति के द्वारा कोई वस्तु या कोई सत्त्व कृत है, वह धर्म है। फिर, कर्तृवाच्य में, जो किसी वस्तु या किसी सत्त्व को धारण करता है, वह भी धर्म है। सायणाचार्य के भाष्य[1] के अनुसार "धर्मः धारकं कर्म"। इससे यह स्पष्ट है कि "धर्म" शब्द कालक्रमेण "यज्ञ" या "कर्म" से बदलते कर्म का कारक तथा यज्ञधारक के (आधिभौतिक) बल या स्वभावशक्ति तक सभी "धर्म" बन गया। जिससे क्लीबलिंग "धर्म" शब्द भी पुलिंग "धर्म" शब्द के रूढ़ अर्थ में प्रचिलत होने लगा था। जैमिनि के मीमांसासूत्र में "चोदनालक्षणो अर्थों धर्मः" व्याख्यान से यह अर्थ प्रकटित है। शवरस्वामी ने धर्म शब्द का भाष्य इस प्रकार किया है--"य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।"[2] अर्थात् कर्तव्यमात्र ही धर्म है। जिसका अंग्रेजी प्रतिशब्द ड्यूटी, आब्लिगेशन है। वह नैतिक एथिकल भौतिक तथा सामाजिक (सोसल), शास्त्रीय (लीगल) आधिभौतिक (रिलिजनस) कर्तव्य हैं।

धीरे-धीरे कर्तव्य कर्म और उसका फल या लाभ भी धर्म शब्द से द्योतित हुआ। जैसे, महाभारत में "धारणाद् धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः।" फिर, 'धर्मो रक्षति रक्षितः' इत्यादि।

सेकुलरिजम् (धर्मनिरपेक्षता) :

अंग्रेजी "सेकुलरिज़म्" शब्द की अर्थसंकटता ने आज हमलोगों के आधुनिक समाज के सामने कठिन समस्या खड़ी की है। भारतीय संविधान में "सेकुलरिज्म" आदि शब्दों का प्रयोग विभ्रांतिकर है। हमेशा "धर्मनिरपेक्षता" शब्द के द्वारा सेकुलरिज्म बताया जाता है। परिणामस्वरूप धर्मनिरपेक्षता आज धर्मविमुखता तथा ऐतिह्यउदासीनता आदि है और "धर्म" शब्द का अर्थ रीलिजियन के अर्थ में सीमित हो गया है। समाजविज्ञान की दृष्टि से धर्म और "रिलिजियन" की समानार्थकता विभ्रान्ति लाती है। अब रिलीजियन-विमुखता एक सामाजिक व्याधि या उत्पाद बन चुका है।

इसलिये "सेकुलरिज़म्" सम्प्रदाय निःस्पृहता का द्योतक है। उसके साथ रिलीजियस-विमुखता की संगति है, किन्तु वह धर्मनिरपेक्षता नहीं है। धर्म, कर्तव्य या कर्म है, जीवन धारण ही जीव तथा मनुष्य का धर्म है। धर्म शब्द को सम्प्रदाय सम्बन्धित आचार कहना उचित नहीं। इससे अर्थात् साम्प्रदायिकता और संकीर्ण भेदबुद्धि के प्रभाव से समाज और जनजीवन दूषित है। आज अंग्रेजी-शिक्षित समाज सेकुलरिज़म् तथा धर्म-अनीहा के कारण तरह-तरह के भ्रष्टाचार में फँस गया है।

---

१. ऋग्वेदभाष्य ७/८६/५
२. शाबर भाष्य १ खण्ड पृष्ठ ५-६ (एशियाटिक सो. स. १८७)

सेकुलरिज़म् अनुशासनहीनता नहीं है। धर्म नियमात्मक है। ऋग्वेद में ऋत शब्द की विश्व संसार में व्याप्ति और उसका नियम बताया गया है। ऋत एक "मौलिक सत्य" तथा विधान है, जिससे व्यक्ति सत्ता से लेकर ग्रहनक्षत्र "भूर्भुवःस्वः" का सम्बन्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में इस प्रकार एक विश्वव्याप्त नियमात्मिका प्रतिष्ठा ही धर्म है, यह उल्लेख है। जैसे, धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा[1] धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् आदि प्रमाण हैं। महाभारत में भी, "सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्" भीष्म वचन है।[2]

भारतीय संस्कृति में धर्म और सत्य ओतप्रोत हैं। जैसे-"सत्यमेव जयते नानृतम्" एवं, "यतो धर्मस्ततो जयः" आदि वचन सिद्ध हैं। इस विचार से सेकुलरिज़म् शब्द ऐहिक अनुशासन-शिष्टता है, जिसमें पात्रता एवं आधिभौतिक सम्प्रदाय-निरपेक्षता गौण है। धर्मनिरपेक्षता और सेकुलरिज़म् समानार्थक प्रतिशब्द नहीं है। परन्तु सेकुलरिज़म् इह-सर्वस्वता व भौतिकसुखवमात्रता भी नहीं है। फिर रिलीजियस- विमुखता नहीं है। बड़ी दुर्भाग्य की बात है कि सेकुलरिज़म् का नाम लेकर भारतवर्ष में सर्वत्र अनुशासनहीनता प्रकटित है और, धर्म पुरोहितसम्प्रदाय का वृत्तिविशेष है, जिस जीविका के आधार पर ऐहिक सुखसर्वस्वता मुख्य हो चुकी है। धर्म संस्थान की साम्प्रदायिक गुटबन्दी से बाहर निकलना आज "सेकुलरिज़म्" है।

प्रज्ञोपाययोग का अनुशासन :

तन्त्र, विशेषकर बौद्धतन्त्र में अद्वययोग की मान्यता महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति सत्ता विश्वप्रपञ्च से बाहर नहीं है। अतः विश्वप्रपञ्च के विधान सत्त्व के ऊपर लागू है। वे विधान लौकिक-अतिलौकिक भौतिक-आधिभौतिक हैं। प्रज्ञोपायसाधना से सत्त्व लौकिक और अतिलौकिक तथा भौतिक और आधिभौतिक का समन्वय करते हैं। इसलिये बौद्धतन्त्र भौतिक मर्यादा के साथ आधिभौतिकता की असीम डाकार्णव विद्या में शामिल है। जिसकी आधारभूत दार्शनिक शैली नागार्जुनीय माध्यमिक दर्शन है। "निर्वाणस्यैव या कोटिः सा कोटिः संसारस्य च "[3] यह धर्मनिःस्वभावता का तात्पर्य है।

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक १०/६३/१।
२. शान्तिपर्व १५७/५-६।
३. मूलमाध्यमिककारिका निर्वाण परीक्षा २५।

अब एक प्रश्न आता है कि सेकुलरिज़म् की दृष्टि और बौद्धतंत्र में तो आसमान- जमीन का फर्क है। बौद्ध तन्त्र एक सूक्ष्म अन्तर्योग है, और सेकुलरिज़म् ऐहिक अनुशासन-शिष्टता है। बौद्धतन्त्र का लक्ष्य आशु बुद्धत्व प्राप्ति है। क्या लोकजीवन में बौद्धतन्त्र प्रायोगिक है ?

"प्रज्ञोपाय" शब्द "प्रज्ञा" और "उपाय" का समाहार है। "प्रज्ञा" सत्त्वमात्र का मौल चैतन्य है। परन्तु अविद्या के कारण आवरणों के द्वारा प्रच्छन्नचित्त में प्रज्ञा की प्रभास्वरता द्युतिमान् नहीं है। इसके लिये व्यक्ति या सत्त्व का जागरित होना आवश्यक है। बोधिचर्या, पारमिता आदि "धर्म" बौद्धवचन के अनुसार अवश्य पालनीय हैं। धम्मपद में इस प्रकार वर्णन है - जो झट से (सहसा) लाभदायक कर्म (अर्थ) करता है, उसको धर्म में अवस्थित नहीं कहा जा सकता। जो लाभदायक और अलाभदायक कर्म (अर्थ-अनर्थ) दोनों पर विचार करता है, वह पण्डित है। वह धर्मस्थ व्यक्ति है, जो दूसरे व्यक्तियों को समविचार के साथ धर्म के द्वारा परिचालित करता है, वह मेधावी है, धर्म का रक्षक है।

न तेन होति धम्मयो येनत्थं सहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थं च उभो निच्छेय्य पण्डितो।।
असाहसेन धम्मेन समेन नयतो परे।
धम्मस्य गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो पकुच्चति।।[1]

प्रज्ञा से अर्थ और अनर्थ (लाभ-अलाभ कर्म) का विचार ठीक-ठीक किया जाता है। आर्य अष्टांगिक मार्ग इस विचार से निष्पन्न होता है। ब्रह्मचक्र तथा धर्मचक्र इस विचार से सम्मत विधान हैं, जिससे सत्त्व का मन पूर्वागम बनता है, मन श्रेष्ठ होता है, मनोमय (कर्म-सिद्ध) है। मनोपुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।[2]

अर्थ-अनर्थ का विचार प्रारम्भिक चित्त स्थिति है। धीरे-धीरे ब्रह्मचर्यादि, ध्यानसमापत्ति आदि क्रिया के साथ चित्त-स्थिति ऊर्ध्वमुखी होती है। प्रज्ञा का उदय होता है। सदा प्रतिजागरचित्त में "तात्क्षणिक चित्तैकाग्रता" प्रज्ञावान् सत्त्व का लक्षण है। बौद्धशास्त्र में बोधिचित्त का परिचय इस प्रकार है--

मंडलचक्राद्युपायेन स्वाधिष्ठानक्रमेण च।
बोधिचित्तमुत्पादयेद् विवृतिसंवृतिरूपकम्।।

---

१. धम्मपद, धम्म वग्ग १-२।
२. वही, यमकवग्ग- १।

संवृतं कुन्दसंकाशं विवृतं सुखरूपिणम्।
प्रतिकल्लोलसुखावत्यां एवंकारस्वरूपकम्।।[1]

विश्वप्रपञ्च का स्वरूप बोधिचित्त में स्वप्रकाश है। गुह्यसमाज में बोधिचित्त की स्वप्रकाश स्वसंवेद्यता स्पष्ट है। जिसमें प्रज्ञा और उपाय का समापत्तियोग निष्पन्न होता है। गुह्यसमाज में इस योग का स्पष्टीकरण है--

प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।
यतो निःस्वभावतः प्रज्ञा उपायभावलक्षणम्।।[2]

षडंग योग में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि के द्वारा चित्त-चैतसिक और अविद्या में एक समन्वयस्थिति प्राप्त होती है। सत्त्व वज्राब्जयोग होता है। राग और विराग एवं उनकी अन्तःस्थिति प्रज्ञोपाययोग का गुह्यज्ञान है। चित्त के विकास के लिये प्रज्ञोपाययोग विशेष साधनमार्ग है।

प्रज्ञा ही बोधिचित्त नहीं है। कारण, बोधिसत्त्व आजीवन सर्वसत्त्व का हित और कल्याण में आत्मनियोग करते हैं। अपने सुख के लिये, अपने यश के लिये, अपने ऐश्वर्य के लिये, अपने भोग के लिये सर्वभूतहित की चर्या का आचरण नहीं करते हैं। यह बात फिर-फिर दोहराई गयी है। शिक्षासमुच्चय में इस प्रकार वर्णन है--

"यथापि नाम श्रेष्ठिनो वा गृहपतेर्वा एकपुत्रके गुणवति मज्जागतं प्रेम, एवमेव महाकरुणाप्रतिबद्धस्य बोधिसत्त्वस्य मज्जागतं प्रेमेति"। जैसे एक श्रेष्ठी या गृहपति में अपने एक पुत्र के लिये प्यार है, इस प्रकार बोधिसत्त्व, सत्त्वों के लिये महाकरुणाशील हैं। सुत्तनिपात में भी बुद्धवचन है --

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणम्।।

इस प्रकार समताज्ञान से चित्त का भेदज्ञान हट जाता है। जब शत्रु-मित्र का भेद नहीं रहता है। अपने सम्प्रदाय और परसम्प्रदाय की भेदबुद्धि नहीं रहती है। "सेकुलरिज़्म्" की असली बात भेदभाव का अभाव है। प्रज्ञावान् धर्मस्थ व्यक्ति के लिए बुद्धवचन में प्रशंसा की गयी है। वह निवेर है।

---

१. हेवज्रतन्त्र २/४/२९-३०।
२. गुह्यसमाज।

अपने को निवेर बनाकर आत्मानन्द में विराजित होना प्रज्ञोपाययोग का अनुशासन नहीं है। प्रज्ञावान् सर्वभूत के हित के लिए जो ऐहिक कर्म करते हैं, वह उनके उपायकौशल्य हैं। निरन्तर उपायकौशल्य की साधना से व्यक्ति या सत्त्व महाकरुणा प्रकट करता है। जब उससे अपना लाभ उठाता है तो वह अनर्थ है। जब कर्ममात्र ही कर्म है तब वह करुणा है। तन्त्र में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--

(1) मनुष्योपपत्तिसर्वदुःखप्रशमन

(2) दरिद्रव्याधित अपकर्षण

(3) आढ्यरोगप्रकर्षण तथा भैषज्य-विज्ञानप्रकरण

(4) सर्वाशापरिपूरण (आयु- मनोरथपरिपूरक)

(5) आयुरारोग्यैश्वर्य सर्वसत्त्वसंतोषण

(6) फलित ज्योतिष और गणित

(7) रसायन और स्वप्न विज्ञान

(8) सामुद्रिक विद्या और मनोविज्ञान

इन ऐहिक सम्पदाओं के लिये बौद्धतन्त्र में कर्मविधान की व्यवस्था है। जैसे-पौष्टिक शान्तिक और आभिचारिक कर्म हैं। इसके अलावा महामुद्रासाधन, आदिकर्म, अभिषेकादि क्रियाएँ, प्रतिष्ठाविधि, घरणी, षडंगयोग, स्वाधिष्ठानक्रम, मण्डलविधि इत्यादि। इस प्रसंग में प्रज्ञोपायक्रीड़ाप्रपञ्च (लोहुकुग्रन्थकुनिजकासंख्या 2246), प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदय (2381) एवं प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (2218) ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।

मानवविज्ञान के अनुसार आधिभौतिक उपादानों में जादू-टोने आदि क्रियायें बीमारी हटाने के लिये टोटके दवाएँ और मृतक के अन्त्येष्टि आदि मानव-समाज में आदिम अवस्था से अब तक प्रचलित हैं। भारतवर्ष में इन आधिभौतिक उपादानों की शास्त्रीय मान्यता अथर्ववेद और तन्त्र में उपलब्ध है। परन्तु लोकव्यवस्था की जादू-टोने आदि क्रियाएँ धर्म की अंगीभूत हो चुकी हैं और बीमारी हटाने के लिये चिकित्साविद्या, भैषज्यविज्ञान है। अब पाश्चात्यदृष्टि से ऐहिक विषय "सेकुलर" बना है। फिर मृतक की अन्त्येष्टि और आधिभौतिक चित्त का परलोक सम्बन्धी ज्ञान गूढ़ मनोविज्ञान (डीप साइकलाजी) और परलोकतत्त्व तथा अध्यात्मविद्या (थीयोसोफी) का

विषय है किन्तु तन्त्र इन समग्र विषयों का एकत्र सन्निवेश है। तन्त्र का ऐहिक उपयोग इस प्रकार है।

फिर प्रज्ञोपाययोग, क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र के क्रम से उतर कर अनुत्तरयोगतन्त्र तक विस्तृत है। जिस समय योगी समयाचारी हैं उस समय प्रतिज्ञा यह होती है कि जब तक समग्र सत्त्वों के चित्त में बोधिबीज न उत्पन्न कर सकूँ, तब तक बुद्धत्व नहीं प्रार्थित है। उनकी प्रार्थना इस प्रकार है-- क्षुधा, तृषा से पीड़ितों को भोज़न मिले, अंध को दृष्टि मिले, बधिर को सुनने की क्षमता मिले, नग्नजन को वस्त्र मिले, दरिद्र को धन मिले, सर्वसत्त्वों को धनधान्यवैभव मिले, जिससे "सर्वे च सत्त्वाः सुखिनो भवन्तु।"

यह शुभंकारी प्रार्थनामात्र नहीं है। उपाय कौशल्य के द्वारा अपना समय या प्रतिज्ञापूरण करना आवश्यक है। इसलिये तन्त्र में कर्मविधान हैं पारत्रिक कर्म नहीं हैं। ऐहिक कर्मविधान है, जिससे अतीन्द्रिय दृष्टि का प्रसार होता है। भविष्य का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। तन्त्र बौद्धिक केवल ज्ञानसंभार नहीं है, यह फलितज्ञात है, प्रायोगिक विद्या है।

तन्त्रसंकलन में प्रायोगिकी विद्या :

तिब्बतीभाषा में विपुल तन्त्र ग्रन्थ का संकलन विद्यमान है। सामान्यतः बुद्धवचन और शास्त्र तथा निबन्ध टीका भाषादि विभाजन हैं। परन्तु, विषयवस्तु के अनुसार उस संकलन को निम्न प्रकार से भाग दिया जाता है। (1) मानव की उत्पत्ति और सर्वदुःख प्रशमन के लिये, करुणाचर्याकपालदृष्टि (2436), करुणाभावनाधिष्ठान (2385) जयवतीभद्राविधाराज (567), जातिस्मरा धारणी (4457) दुर्गतिपरिशोधनी (2624,3502), पच्चंरक्षार्चनविधि (3128, 3596) दुर्गतिपरिशोधनक्रिया(7483) सर्वदुः-ख-प्रशमनकरीधारणी (1024) (2) दरिद्रव्याधित अपकर्षण के लिये- अलुविर्नीपिशाचसाधना (2078), काञ्चनवती (धारणी) (633) चौरबन्धन (1700), चौरविध्वंसन (3690), धनवातारासाधना (3207, 3500), महायक्षसेनापतिसाधना (2057), बन्धविमुक्तशास्त्र (2463,2466), मणिभद्रयक्षसेनकल्प (763), महालक्ष्मीधारणी (746)। (3) असाध्य रोगों के निरामय के लिये अर्भरोगप्रशमनी- (621), आयुःपरिरक्षा (2420), कालयमारिसाधना (2608), ज्वरप्रशमनी (625), (डाकिनीउपदेश) पीड़ाच्छेदनावतार (2286), पिशाचसाधना (2070, 2071), पिशाचीसाधना (2074, 2081, 2082)। (4) आयुरारोग्यैश्वर्य- सर्वमनोरथपरिपूरक-- अक्षिरोगप्रशमनी (620), चक्षुविशोधनी (धारणी)

619 अपरिमितायुज्ञान-विधि (2700), अपरिमितायुर्होमविधि (2144) जांगुलीविद्या 571, जांगुलीमहाविद्या (3511), मंजुश्रीभट्टारक बुद्धिवर्धक (594), मंजुश्रीमूलतन्त्र (543)। (5) सर्वसत्त्वसंतोषण के लिये- (अभिचारकर्म), जैसे- अभिचारकर्म अष्टमहाभयतारणी (तारासाधना) 441, 3492, अष्टभयमूर्खकरणोपाय (?) 2413, कृष्णयमारिशांतिक्षेमविधि (1956) क्रोध्यानागमोरणकर्म (2154), परवशीकरण (2471), प्रेतपिशाचकूष्माण्डपूतनाविशोधनसाधना (2153)।

(6) फलितज्योतिषसम्बन्धित ग्रंथ : जैसे, कालचक्रगणितोपदेश 1384, 4455 कालचक्रयोग षडंगतन्त्र (1373), कालचक्रसूर्यतन्त्र साधना (1369) कालचक्रावतार (1383), पञ्चग्रहपृथग्गणोपदेश (1386)।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि तन्त्र ऐहिक भूति के लिये, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष शक्ति के अवलम्बन हैं। इस प्रसंग में सहजसाधना, नाड़ीक्रियायोग आदि योगतन्त्र भी आयु, आरोग्य और चैतसिक सम्पद संभार के लिये उपयोगी है। इतनी सम्भावना रहते हुए भी तन्त्र का विषय विदग्धजनों के सामने नकारात्मक है। इसका कारण तन्त्र में अधिकारी और अनधिकारी की बात सबसे बड़ी है। जीविका को अवलंबन बनाकर तंत्रविद्या में अनधिकारियों ने भ्रष्टाचार को शामिल कर दिया है। परिणामतः तंत्र की वैज्ञानिकी दृष्टि, प्रायोगिक ज्ञान आज क्षीयमाण हो गया है।

अन्ततोगत्वा, यह स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में रिलीजियन और धर्म को समानार्थक सोचने के परिणामस्वरूप शिक्षित समाज में रिलीजियन-विमुखता प्रकटित है। बुद्धवचन के अनुसार बोधिचित्त में प्रज्ञोपाय की अद्वयस्थिति शीलसंभार, धर्मसंभार, कुशलमूल, कर्मसाधन का उपायमात्र है। मंजुश्रीमूलकल्प में इस प्रकार है--

अक्लिष्टचित्तो मनस्वी च ब्रह्मचारी सदा शुचिः ।
वासाभिरतो नित्यं लोकज्ञो धर्मशीलश्च ।।
बहुमित्रो सदा त्यागी मात्रा च चरतो सदा।
शुचिश्च दक्षशीलश्च शौचाचाररतः सदा ।।
मातृपितृभक्तश्च ब्राह्मणातिथिपूजकः ।
अतिकारुणिको धीरस्तस्यत्तमा ।।

फिर--

दृष्टकर्मफले नित्यं परलोके तथैव च।
भीरुः स्यात्सर्वपापानामण्डमात्रं तथैव च।।
शुचिर्दक्षोऽप्यनलसः मेधावीप्रियदर्शनः।
दशबलैः कथिता मन्त्रास्तस्यैव जिनसूनुभिः।।
लौकिका ये च मन्त्रा वै विश्रान्तकुलयोरपि।
तेषां कृतश्रमो नित्यं ग्रन्थशास्त्रार्थधारकः।।
अव्याधितो न शक्तिष्ठो जराबाल्यविवर्जितः।
सिद्धमन्त्रों तथा रक्षौ आशुकारी तु सर्वतः।।

प्रज्ञोपाययोग में कुशली सिद्ध अवश्य ही अनुशासन में शिष्ट होते हैं। अनुशासनहीनता से आज रिलीजियन-विमुखता एक छुटकारी बहाना बन गयी है। जिससे समाज पर्यवसित हो गया है। लोकजीवन विभ्रान्ति से भरा पड़ा है। चरित्रधर्म का अवक्षय हो रहा है।

●

थेरवाद में धम्म का स्वरूप तथा धर्मनिरपेक्षता की सम्भावनाएँ

डॉ० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा
प्राध्यापक
पालि एवं थेरवाद विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी- 221002

भगवान् बुद्ध 45 वर्षों तक जम्बूद्वीप के नाना ग्राम, नगर, निगम, जनपदों में चारिका करते हुए धर्मोपदेश करते रहे। श्रद्धालु कुलपुत्रों ने उन उपदेशों को जीवन में चरितार्थ कर अमृतत्व को प्राप्त किया। सर्वप्रथम सहम्पति ब्रह्मा ने भगवान् बुद्ध से धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की तथा कहा "उट्ठेहि वीर विजितसङ्गाम, सत्यवाह अनण विचर लोके, देसस्सु भगवा धम्म, अञ्ञातारो भविस्सन्ती"ति।

ततियं पि खो ब्रह्मा सहम्पति भगवन्तं एतदवोच-"देसेतु, भन्ते, भगवा धम्मं, देसेतु सुगतो धम्मं"।[1] ब्रह्मा के इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् ने सत्त्वों पर करुणा कर बुद्धचक्षु से देखा और उन्होंने पाया कि तीक्ष्ण बुद्धिवाले तथा कम मलयुक्त प्राणी भी यहाँ हैं जो धर्म को समझ सकेंगे और इस प्रकार उन्होंने धर्मोपदेश करना स्वीकार किया। करुणा से युक्त तथागत ने धर्म के गम्भीर स्वभाव के कारण ही धर्मोपदेश करना नहीं चाहा था। उन्होंने सोचा कि मैंने जिस धर्म को प्राप्त किया है वह अत्यन्त गम्भीर दुर्दर्शनीय, दुरनुबोध, शान्त, प्रणीत, तर्क से परे निपुण एवं पण्डितजनवेदनीय है, और संसार के प्राणी राग-द्वेष-मोह रूपी मल से युक्त हैं। अतः वे प्रतीत्यसमुत्पाद के दुर्दर्श नियमों को नहीं समझ पायेंगे, साथ ही सभी संस्कारों का उपशम सभी उपाधियों से रहित तृष्णा का विराग एवं निरोध स्वरुप निर्वाण अत्यन्त ही गम्भीर एवं दुर्दर्शनीय है। अतः संसार में आसक्त मानव इस धर्म को नहीं जान सकेंगे। इससे मुझे कष्ट होगा।[2] इन्हीं विचारों के कारण भगवान्

---

१. म० व० पृ० १
२. "म्यहं पि खो ब्रह्मे, एतदहोसि"- अधिगतो खो म्याया धम्मों गम्भींरों दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितजनवेदनीयो। आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता

धर्मोपदेश नहीं करना चाहते थे। पर जब उन्होंने बुद्धचक्षु से लोक को देखा तो लोक पर करुणा कर धर्मोपदेश करना स्वीकार किया। फलस्वरूप बहुजनहिताय बहुजनसुखाय 45 वर्षों तक धर्मोपदेश करते रहे।

प्रस्तुत प्रसंग में धर्म शब्द विचार्य है। **धरति तेना ति धम्मो** "धर"[1] धातु से "रम्म" प्रत्यय करने पर "धम्म" शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ धारण करना होता है। जो धारण करता है वह धर्म अर्थात् लोक की स्थिति जिस पर निर्भर है, जिसके द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि रूप से लोक धारित होता है। स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिसके आधार पर प्रत्येक का धारण होता है, वह धर्म है। अथवा **अत्तनो सभावं धारेती ति धम्मो,** अपना स्वभाव धारण करता है, इसलिए धम्म है। अर्थात् जल का शीतत्व, अग्नि का उष्णत्व स्वभाव है, अतः जो इस तरह अपने स्वभाव को धारण करता है वह धर्म है। स्थविरवाद में "धम्म" शब्द विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है फलतः प्रकरण या सन्दर्भ के अनुकूल "धम्म" शब्द के अर्थ एवं अवधारणाओं में भेद लक्षित होता है। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने धर्म के स्वरूप को स्पष्ट बतलाया है, पर त्रिपिटक के अनेक स्थलों पर धर्म (धम्म) शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है इसलिए उन सब पर विचार कर लेना यहाँ युक्त प्रतीत होता है। अभिधानप्पदीपिका में- धर्म शब्द का अर्थ प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि-

"धम्मो सभावे परियत्तिपञ्ञा, नायेसु सच्चप्पकतीसु पुञ्ने।
नेय्ये गुणाचारसमाधिसूपि, निस्सत्तत्तापत्तिसु कारणादो"[2]।।

धर्म शब्द स्वभाव,परियत्ति, सत्य, पुण्यकार्य, गुण, आचार, समाधि, निःसत्त्व और कारण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आचार्य बुद्धघोष ने गुण, देशना, परियत्ति निःसत्त्व एवं निर्जीवता आदि धम्म शब्द का अर्थ बताया है।

यहाँ गुण का अर्थ शोभन आचरण, देशना का अर्थ नैतिक निर्देशन, परियत्ति का अर्थ नवाङ्ग बुद्ध शासन तथा निःसत्त्व निर्जीव का अर्थ अनात्मत्व है।

आलयसम्मुदिताय। आलयरामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयसम्मुदिताय दुद्दसं इद ठान यदिद इदप्पच्चयतापटिच्चसमुप्पादोः इदम्पि खो ठांन सुदुद्दसं यदिदं सब्बसंङ्खासमाथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हक्खयो विरोगो निरोधो निब्बानं।

मृ.व.पृ. ८

१. धर धारणम्हि। क. व्या. पृ. ३७७

२. धम्माति गुण देसना परियत्ति निःसत्व निर्ज्जीव वसेन चत्तारो धम्मा।

अट्ठसालिनी-पृ० २१

शब्द विनियोग तथा अर्थ- मनोवैज्ञानिक अर्थ-मानसिकता, अभिज्ञानात्मक तत्त्व, चित्त की अवस्था, मानसिक वस्तु, विषयगत चित्तप्रवृत्ति, विचार, दर्शनसत्य, अनुबोधि। सत्य के अभिज्ञान के कारण ज्ञाता ज्ञान का मूर्तिमन्त रूप हो जाता है-- येपि ते अहेसुं अतीत अद्धानं अरहन्तो सम्मासम्बुद्धो ते पि धम्म येव सक्कत्वा[1]।

यो खो धम्मं पस्सति सो मं पस्सति यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति[2]। वह जो धर्म को देखता है वह बुद्ध को देखता है। यहाँ धर्म सत्य का प्रतिरूप लक्षित होता है।

ज्ञानेन्द्रिय के रूप में भी धर्म का प्रयोग मिलता है- "मनसा धम्मं विञ्ञाय" मन से धर्म को जानकर "मनोविञ्ञेय्या धम्मा" मन के द्वारा जानने योग्य वस्तुएँ, "धम्मेसु धम्मानुपस्सि" मानसिक विचारों या वस्तुओं की मानसिकता को अनुभूत कर आध्यात्मिक वस्तुओं के विपरीत भौतिक के रूप धर्म का प्रयोग भी निकायों में मिलता है- "सब्बे धम्मा अनिच्चा" सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्, सम्पूर्ण दृश्य अनित्य है। ये "धम्मां हेतुप्पभवा तेसं हेतु तथागतो आह" (वि०1/40) सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् जो कारण से उत्पन्न है उनके कारणों को तथागत ने कहा है- लोकधम्मा संसार की वस्तुएं (लाभ, यश, आनन्द) "उत्तरिमनुस्सधम्म लोकोत्तर दिव्य जगत् अब्भूत धम्म। (मि० 8) तयो अच्छरिया छम्मा पातुरहेंसु। आश्चर्यजनक वस्तुएं, हस्सखिड्डा, रतिधम्मसम्पन्न" (दी०नि० 1/19। हास्य, क्रीड़ा तथा भोग वस्तुएँ या गुणों से युक्त, गामधम्मा एवं कर्म, आचार अर्थ में भी धर्म का प्रयोग प्राप्त होता है- शाश्वत नियम के अर्थ में- यत्थ नामं च रूप च असेसंमुपरुज्झति, तं ते धम्मं विञ्ञाय अच्छिदुं भवबन्धनं। जिसका नाम रूप पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है, वह उन नियमों को जानकर संसार के बंधनों को काट देता है। दसधम्मविदू- दस धम्मों के ज्ञाता (अत्थ, निरुत्ति, पाटिभान इत्यादि) यं किंचि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोध धम्मं (दी०नि०1/110) जो वस्तु अस्तित्व में आने वाली है उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

धम्म के अन्य नैतिक अर्थ भी हैं- नैतिक वृत्ति, उचित यौक्तिक विचार, शोभन, पवित्र, सत्य।[3] सीलं समाधि पञ्ञा च विमुत्ति च अनुत्तरा अनुबुद्धा इमे धम्मा

---

१. सं० नि० १/१४०
२. सं०नि० ३/१२०
३. सं० नि० ४/१८५, (२) दी० नि० ३/२२६ए २४५, २६६ (३) दी०नि० २/६५ (४) सं०नि० ३/२३२ (५) सं०नि० ४/२०५ (६) दी०नि० ३/२६० (७) दी० नि० १/२११ (८) दी०नि० १/१६३/३१ (६) दी० नि० १/४ (१०) सं०नि० १/३५ (११) वि० १/३८ (१२) दी०नि० २/१२३ (१३) सं० नि० ४/७८।

गोतमेन यसस्सिना। शीलसमाधि, प्रज्ञा अनुत्तराविमुक्ति, आदि इन उत्तम विचारों को यशस्वी गौतम ने जाना है। "समाहिते चित्ते धम्मापातु भवन्ति" समाहित चित्त में सत्य विचार प्रकट होते हैं, अधम्मों निरय नेति धम्मो पापेति सुग्गतिं, पापी निरय को प्राप्त करते हैं और शोभन कर्म करने वाले स्वर्ग जाते हैं। धम्मेन अनुसासति (वि०1/3) न्याय, यथोचित ढंग से शासन करता है।

"धम्म"शब्द के अन्य अर्थ इस प्रकार हैं- नैतिक दर्शन, ज्ञान (प्रज्ञा) सत्य जैसा कि तथागत ने प्रतिपादित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य बुद्धघोष ने प्रयोग वैविध्य के विभिन्न अर्थों का निर्धारण किया है-यहाँ "धम्म" शब्द के अर्थ विनिश्चय के लिए चार वर्गों में विभाजन अभीष्ट है ताकि "धम्म" शब्द के मूल अर्थ का अभिज्ञान हो सके।

(1) **सत्य के रूप में "धम्म"**- यद्यपि, पालि निकायों में "धम्म" शब्द का प्रयोग "सिद्धान्त" के अर्थ में हुआ है तथापि "सत्य" के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है, जैसे चार आर्य सत्य। बुद्ध का "धम्म", सत्य को प्रत्यक्ष करता है जो उनके सिद्धान्त-अथवा देशना (उपदेशों) से व्युत्पादित है। इस प्रकार सिद्धान्त तथा सत्य कुछ अर्थों में अविभाज्य प्रतीत होता है। बुद्ध के धम्म को सत्य तथा सिद्धान्त दो अर्थों में उपविभक्त किया जा सकता है।

जैसा कि सामान्य रूप से विदित है कि जिस "धम्म" का बुद्ध ने साक्षात्कार किया था वह विश्व के नियम का क्रम था। बुद्ध इस नियम के निर्माता नहीं अपितु आविष्कारक थे, जिसमें विवेकपूर्ण तथा नैतिक तत्त्व एक में ही समाविष्ट थे। यह धम्म जो बुद्ध के द्वारा आविष्कृत हुआ वह सत्य का पर्याय है। अतः अधोलिखित कथन जिसमें बौद्ध-धर्म, दर्शन का सार तत्त्व निहित है, निकायों तथा आगमों में दस प्रकार से उल्लिखित है-

(क) यो खो धम्मं पस्सति सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्म पस्सति।

(ख) यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति, यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति।

यहाँ प्रथम उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध तथा धर्म जिसकी उन्होंने गवेषणा की थी - एक-सा है।

(2) सिद्धान्त के रूप में धर्म (धम्म) - जिस सत्य की गवेषणा भगवान् बुद्ध ने की थी वह चार आर्य सत्य के सिद्धान्त के द्वारा उपस्थापित है- दुःख, दुःखसमुदय,

दुःख निरोध, दुःख-निरोधगामिनी पटिपदा। बोधि की ओर ले जाने वाले इस धम्म का समादर बुद्ध के शिष्यों के द्वारा अत्यधिक हुआ। बुद्ध ने अपने शिष्यों को धम्म की देशना उनकी मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षमता के अनुसार दी थी। परिणामतः अनेक धम्म प्रादुर्भूत हुए। इसी क्रम में सैंतीस बोधिपक्खिया धम्मा का विकास हुआ जो अभ्यास धर्म के रूप में शान्ति, अन्तदृष्टि, सम्बोधि तथा निब्बान की ओर ले जाने वाला है।

दूसरी ओर बुद्ध के अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो ज्ञानपरक तथा दार्शनिक रूप से समझने के बाद सम्बोधि की ओर ले जाने वाले हैं। ऐसे धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पाद (कारणतावाद का सिद्धान्त) कहा गया है।

दूसरे शब्दों में यह इदम्प्रत्ययता का सिद्धान्त है- इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्सनिरोधा इमं निरुज्झति। अर्थात् इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता है, इसके निरूद्ध होने पर यह निरुद्ध होता है। यह कार्य-कारण सिद्धान्त है। यह हेतु प्रत्ययवाद का सिद्धान्त है। विज्ञान का नाम-रूप से अन्योन्य सम्बन्ध है जब-कि जाति का जरा-मरण से पूर्व जात और उपनिबन्ध सम्बन्ध है।

यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि अभ्यास के तत्त्व को मीमांसात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए भगवान् बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे कारण की श्रृंखलाओं को समाधि की अवस्था में अनुलोम-प्रतिलोम रूप में जाना था- अथ खो भगवा रत्तिया पठमं यामं पटिच्चयसमुप्पादं अनुलोम-पटिलोमं मनसाकासि (महा० पृ० १) । इस प्रकार कारणतावाद का सिद्धान्त, मीमांसात्मक धम्म और "ध्यान" व्यावहारिक धम्म कहा जायेगा। व्याहारिक तथा मीमांसात्मक धम्म एक-दूसरे से विभाज्य तथा अविभाज्य हो सकता है।

मीमांसात्मक धम्म में पाँच स्कन्ध, छः आयतन, अठारह धातु, जो रूपनाम के अन्तर्गत अध्ययन के विषय बनते हैं, उन्हें मीमांसात्मक तथा व्यवहारात्मक धम्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

नैतिकता के रूप में धम्म- "धम्म" को नैतिकता के रूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य बुद्धघोष ने थेर गाथा से एक गाथा उद्धृत कर इसका विवेचन किया है--

नहि धम्मो अधम्मो च उभो समविपाकिनो। अधम्मो निरयं नेति धम्मो पापेति सुग्गतिं। अर्थात् धर्म (नैतिक गुण) अधर्म (अनैतिक गुण) दो समान विपाक वाले हैं। अनैतिकता नरक की ओर ले जाती है और नैतिकता सुगति देती है।

बौद्ध वाङ्मय में धम्म का अर्थ है - मनुष्य की नैतिक संचेतना, विनय अथवा शील। इस प्रकार किसी व्यक्ति की नैतिक संचेतना, शोभन गुण या क्षमता को "धम्म" कहा जा सकता है। इस संदर्भ में हम निकायों में प्राप्त कुसला धम्मा से कुशल कर्म, अकुसला धम्मा से अकुशल कर्म को मात्र अच्छे या बुरे के सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहित कर सकते हैं।

नाम-रूप सिद्धान्त और धम्म- भगवान् बुद्ध के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने पँचवर्गीय एवं अन्य भिक्षुओं को यह बताया कि स्कन्ध, आयतन आदि अनित्य, अनात्म तथा दुःख हैं। इन धर्मों को नाम-रूप के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

बारह आयतनों में- चक्खु, स्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन आदि छः इंद्रिय तथा रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श धम्म हैं। यहाँ धम्म मन के साथ इन्द्रिय- आयतन हैं। यहाँ 'धम्म' शब्द का अनुवाद अत्यन्त कठिन है । यहाँ धम्म का अर्थ मानसिक विषय, मानसिक दशा अथवा विचार नहीं किया जा सकता है। थेरवादियों के अनुसार अचैत्तिक विषय (न सेंसुअल आब्जेक्ट) के रूप में धम्म का अनुवाद किया जा सकता है। लेकिन यहाँ धम्म का रूपान्तरण चित्तविषय का सिद्धान्त, चित्त विषय किया जा सकता है जो किसी हद तक ग्राह्य है।

धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति अर्थात् धम्म में धम्मानुपस्सी होकर विहार करता है। यहाँ धम्म को सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

प्रथम स्कन्ध रूप में चार महाभूत पठवी, आपो, तेजो, वायो आते हैं। प्रथम स्कन्ध को छोड़कर शेष चार मानसिक वर्ग में बँटे हैं और जिन्हें मनोधम्मा कहा गया है। पँचम स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध में 89 चित्तों की गणना की गयी है। प्रारंभिक बौद्ध वाङ्मय में न केवल पाँच स्कन्ध अपितु बारह आयतन अठारह, धातु, 22 इन्द्रियाँ आदि धम्म के रूप में स्वीकृत हैं। यहाँ यह अवधेय है कि धम्म पद के अनेक अर्थ हैं और इसका अर्थ प्रयोग प्रकरण के ऊपर आधृत है। संक्षेपतः यहाँ धर्म के बहुविध अर्थों को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-- (1) सत्य, पूर्णसम्बोधि

प्रतीत्यसमुत्पाद, (2) सिद्धान्त, देशना, धर्मसिद्धान्त, (3) नैतिकता गुण, शोभन गुण, शील, विनय, (4) सिद्धान्त।

ऊपर धर्म शब्द के विभिन्न अर्थों का सर्वेक्षण किया गया। पर धर्म (धम्म) जिसका उपदेश भगवान् ने किया वह तो तृष्णा का क्षय विराग और निरोधस्वरूप निर्वाण ही है । जिसका स्पष्ट उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस परम सत्य तक पहुँचने मे धम्म सहायक है। सिद्धान्त, गुण, नैतिक नियम चित्त की शुद्धता आदि रूप में धर्म शब्द का कथन भी उस सत्य तक पहुँचने के लिए ही किया गया है। और फिर भगवान् बुद्ध प्रवेदित धर्म तो सुआख्यात है, सांदृष्टिक, अकालिक एहिपस्सिक ओपनेय्यिक तथा विद्वानों के द्वारा प्रत्ययात्मवेद्य है। "स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही" ति। अतः सार शब्दों में यदि कहा जाय तो सभी पापों का न करना, कुशल का संचयन करना और अपने चित्त को निर्मल बनाना ही बुद्ध शासन है, बुद्ध धर्म है।

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा। सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ति। आचार्य नागसेन ने धर्मौषध की चर्चा करते हुए कहा है कि ओसधीनि सो, महाराज, भगवता अक्खातानि जेहि ओसधेहि सो भगवा देवमनुस्से तिकिच्छति, सेय्यथीदं- चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो इद्धिपादा, पञ्चिन्द्रियाणि, पञ्चबलानि, सत्तबोज्झङ्गा, अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो। एत्ते- हि ओषधेहि- सब्बकिलेससमनं कारेति। इदं वुच्चति, महाराज, भगवतो ओसधापणंति-ये केचि ओसधा लोके, विन्नन्ति विविधा बहू। धम्मोसधसमं नत्थि, एवं पिवथ, भिक्खवो। धम्मोसध पिवित्वान, अजरामरणा सियुं। भावयित्वा च पस्सित्वा, निब्बुता उपधिक्खये।

इस प्रकार चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक्प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इंद्रिय, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग तथा आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग रूप धर्म औषध है जिसके सेवन से सभी क्लेशों का नाश हो जाता है तथा निर्वाण का लाभ होता है।

धर्मनिरपेक्षता की संभावनाएँ- जिन अर्थों में धर्म शब्द व्यवहृत हुआ है उन सबका लक्ष्य सत्य का प्रतिवेध है और इस अर्थ में किसी भी धर्म का दूसरे धर्मों से कोई द्वेष नहीं होना चाहिए। धर्म स्वयं में निरपेक्ष है और वह धर्म है "निर्वाण"। सब्बसङ्खारसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हक्ख्यो विरागो निरोधो निब्बानं। पिटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध सभी धर्मों के अनुयायियों के साथ सहृदयतापूर्वक बातचीत करते हैं, इसी के फलस्वरूप तीनों जटिल (गया, उरुवेल,

नदीकस्सप) भगवान् के अनुयायी हो गये। इसी प्रकार सोणदण्ड, कूटदन्त, वावरी, अम्बष्ठ, कसिभू-भरद्वाज आदि अनेक अन्यतैर्थिक भगवान् बुद्ध की शरण में आये। बुद्धप्रतिपादित धर्म में सभी धर्मों के प्रति समानता, सहिष्णुता एवं उदारता के बीज मिलते हैं। भगवान् का मध्यमा पटिपदा दोनों अन्तों की त्यागजन्य मध्यम स्थिति का द्योतक है और इसमें सर्वधर्म-समभाव, सभी धर्मों के प्रति उदारदृष्टि, प्रेम और समन्वय की अधिक गुंजाइश है। भगवान् बुद्ध ने तो कोलोपम (कुल्लुपम) धर्म की देशना की है जिसका अभिप्राय है कि धर्म सत्य तक पहुँचने का मार्ग है, न कि उसे पकड़े रहने का, उसमें आसक्त रहने का। उन्होंने कहा है कि "एवमेव खो भिक्खवे, कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो नित्थरणत्थाय नो गहणत्थाय। कुल्लूपमं वो, भिक्खवे, धम्मं देसितं अजजानन्तेहि धम्मा पि वो पहातब्बा पगेव अधम्मा"।

●

बौद्ध-धर्म, दर्शन और धर्मनिरपेक्षता

डॉ० सुश्री शशिबाला गौड़
शिक्षक, बौद्धदर्शन विभाग
सं०सं०वि०वि०वाराणसी

भारत वर्ष एक धार्मिक पुण्यभूमि है। यहाँ प्राचीनकाल से ही ऋषियों, मनीषियों और चिंतकों का आविर्भाव होता रहा है। यहाँ अनेक सभ्यतायें उत्पन्न हुईं और अपना-अपना प्रभाव छोड़ते हुए विलीन हो गयीं। इसी भारत भूमि पर भगवान् बुद्ध पैदा हुए और उन्होंने संसार के दुःखी प्राणियों का दुःख दूर करने का जो मार्ग बतलाया कालान्तर में वही बौद्ध-धर्म बना। भगवान् बुद्ध ने अपने समय की प्रचलित धारा, वैदिक दर्शन की परम्परा में जो परिवर्तन किया, वही बौद्ध-दर्शन है।

बौद्ध-धर्म और बौद्ध-दर्शन की वर्तमान समाज को कितनी आवश्यकता है, आज के समाज में बौद्ध-धर्म और बौद्ध-दर्शन क्या दे सकता है, इसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता है या नहीं, यह विचार करने के पूर्व भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता का विचार कर लेना आवश्यक है।

वर्तमान भारत की सामाजिक, राजनैतिक, अवस्थाओं को देखते हुए यह एक विचारणीय विषय है कि धर्मनिरपेक्षता की भारत में आवश्यकता है या नहीं।

धर्मनिरपेक्षता शब्द पाश्चात्य देशों में प्रचलित 'सेक्यूलरिज़म्' का हिन्दी रूपान्तरण होकर भारत में आया है। पश्चिम देशों में 'सेक्यूलरिज़म्' का अर्थ वास्तव में धर्म विरोध रहा है, न कि धर्मनिरपेक्षता। मध्य युग में चर्च के पादरियों के द्वारा जब निरीह जनता पर धर्म के नाम पर अत्याचार किया गया और वह अत्याचार बढते-बढ़ते सहन-शक्ति से परे हो गया, तब वहाँ एक धर्मविरोधी क्रान्ति हुई जिसमें चर्च का बहिष्कार किया गया और पादरियों के द्वारा बनाये गये नियमों का उल्लंघन किया गया। इस सामाजिक परिवर्तन को 'सेक्यूलरिज़म्' का नाम दिया गया। 'सेक्यूलरिज़म्' का शाब्दिक अर्थ है "व्यवहारिक वृत्ति"।

भारत का संविधान "धर्मनिरपेक्षता संविधान" है और यही धर्मनिरपेक्षता हमारे संविधान की सबसे बड़ी विशेषता है। संविधान के 42.वें संशोधन के अनुसार भारत

को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करने का अर्थ यही है कि राज्य की दृष्टि से सभी धर्म समान हैं और राज्य के द्वारा किसी भी धर्मावलम्बी के साथ कोई भेद-भाव नहीं किया जा सकता।

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धार्मिक स्वतंत्रता है, अधार्मिक या धर्मविरोध होना नहीं है। धर्मनिरपेक्ष राज्य अपने नागरिकों के धर्म के प्रति उदासीन या तटस्थ रहता है। संविधान के 25 वें अनुच्छेद में स्पष्टतः कहा गया है कि भारत के सभी नागरिकों को अपने धर्म को मानने में, आचरण तथा प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को धार्मिक संस्थाओं की स्थापना करने का पूर्ण अधिकार होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षता धर्मविरोधी अवधारणा नहीं है। संविधान निर्माता डॉ० बी० आर० अम्बेडकर का कहना है कि "धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नहीं कि नागरिकों की धार्मिक भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया जायेगा, वरन् इसका अर्थ है कि राज्य को जनता पर किसी विशेष धर्म को लादने की शक्ति नहीं होगी।" यह राज्य के द्वारा सभी धर्मों का सम्मान है। इससे स्पष्ट है कि भारत धर्मनिरपेक्षता का बड़ा व्यापक अर्थ स्वीकार करता है। इसलिये एस० राधाकृष्णन् ने बतलाया है कि "वास्तव में भारत राज्य धार्मिक राज्य है जो सभी धर्मों के सार 'मानव धर्म' में विश्वास करता है।" इस प्रकार विश्लेषण करने पर पता चलता है कि धर्मनिरपेक्षता के दो पक्ष हैं :

1- अभावात्मक पक्ष,
2- भावात्मक पक्ष।

1- अभावात्मक पक्ष की दृष्टि से धर्म निरपेक्षता किसी भी धर्म के प्रति द्वेष और अहिंसा का निषेध करती है।

2- भावात्मक पक्ष की दृष्टि से यह सभी धर्मों के प्रति आदर और सम्मान सिखलाती है।

इसके दोनों ही अर्थ मानव की एकता, समानता और स्वतंत्रता के पोषक हैं। धर्म-निरपेक्ष वही राज्य हो सकता है जो मनुष्य मात्र को एक स्वतंत्र तथा समान समझे। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता विषमता को दूर कर समता का प्रतिपादक है।

भारतीय दर्शन के इतिहास का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि धर्म-निरपेक्षता इस देश के धर्म और दर्शन की आधारशिला है। धर्मनिरपेक्षता वस्तुतः धार्मिक स्वतंत्रता है और मानव की समता में विश्वास है। विषमता विभेदक है एक

दूसरे को दूर करने का प्रयास है। हमारी संस्कृति प्रारम्भ में ही समन्वयात्मक रही है। हम प्रारम्भ से ही मानव मात्र को एक समान समझते आये हैं। सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार स्वीकार करते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" यह हमारी समता और मानव स्वतंत्रता की दृष्टि है। मनुष्यता में भेद तो बाह्य है, यह अज्ञान का सूचक है। ज्ञान तो अभेद का प्रतिपादन करता है। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा है-

"विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव स्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।"

अर्थात् विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, चांडाल, हाथी, कुत्ते और गौ में एक ही आत्मा का निवास है। अतः सार की दृष्टि से सभी एक हैं। भगवान् ने समदर्शी को ही पण्डित कहा है। ज्ञानी वही है जिसकी दृष्टि में भेद और विषमता नहीं है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने पुनः कहा है कि-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

अर्थात् स्पष्ट है कि जो सबको मुझमें देखता है और मुझको सबमें देखता है उसको मैं नहीं भूलता, वह मुझे नहीं भूलता।

धर्म-निरपेक्षता का आधार मानव व्यक्तित्व की गरिमा को उचित स्थान देता है। बौद्ध-धर्म और दर्शन की यह प्रारम्भ से ही मान्यता रही है। कि मनुष्य अपने आप में महान् है। धर्म और जाति का बन्धन बाह्य आडम्बर है, इसलिये भगवान् बुद्ध ने उस समय के प्रचलित सभी धर्मों का विरोध किया तथा मानव धर्म की स्थापना की। धर्म में लोककल्याण की भावना ही सबसे प्रमुख तत्त्व है। भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेश में ही हमें लोककल्याण की भावना की झलक मिलती है। तथागत ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि मैं "बहुजनहिताय बहुजन-सुखाय" इस धर्म का प्रारम्भ कर रहा हूँ। यह धर्म का प्रारम्भ बौद्धदर्शन में "धर्म-चक्र-प्रर्वतन" कहा गया है। इस धर्म-चक्र में बुद्ध ने रूढ़िवादी तथा परम्परागत विचारों से मुक्त होने का उपदेश दिया है। मनुष्य जब परावलम्बी होकर भाग्य या भगवान् के भरोसे बैठ जाता है तो वह धर्म के सच्चे पथ से दूर हो जाता है, इसलिये भगवान् बुद्ध ने बतलाया है कि-

"अत्ता हि अत्तंनों नाथो हो हि नाथो परोसिया"।

अर्थात् मनुष्य स्वयं ही अपना नाथ, स्वामी, सहायक, सखा है। मानव कल्याण किसी दूसरे के अधीन नहीं। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है वह जो चाहे बन सकता है। धर्मनिरपेक्षता का इतना ज्वलन्त उदाहरण हमें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता। मोक्ष के लिये मनुष्य को सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाना आवश्यक है। यह सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धा है।

भगवान् बुद्ध ने सरल शब्दों में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यह सम्पूर्ण संसार दुःखरूप है। संसार की दुःखरूपता एकदम स्पष्ट है। यह भी कि दुःख ऐसे उत्पन्न नहीं हो जाता अर्थात् संसार में उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों का कारण अवश्य है और इस कारणतावाद के सिद्धान्त को भव-चक्र या द्वादश निदान के रूप में माना है, जो इस प्रकार है-

(1) अविद्या (2) संस्कार (3) विज्ञान (4) नाम-रूप (5) षडायतन (6) स्पर्श (7) वेदना (8) तृष्णा (9) उपादान (राग) (10) भव (11) जाति, (जन्म) (12) जरा-मरण। भगवान् बुद्ध ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि इनमें से एक के होने पर दूसरा अवश्य ही होगा। उन्होंने प्रत्येक कारण के मूल में अविद्या को स्वीकार किया जिसके कारण संसार का बन्धन होता है।

उस अविद्या के बन्धन् से छुटकारा पाने के लिये उन्होंने जिस मार्ग का प्रतिपादन किया उसे 'अष्टांगिक मार्ग' कहते हैं।

अष्टांगिक मार्ग निम्न है-

1- सम्यक् दृष्टि (2) सम्यक् संकल्प (3) सम्यक् वचन (4) सम्यक् कर्मान्त (5) सम्यक् आजीव (6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति (8) सम्यक् समाधि।

अष्टांगिक मार्ग में विवेचन करने योग्य शब्द सम्यक् है जिसका अर्थ है साधु या उचित और इसी के आधार पर कहा जाता है कि उचित मार्ग या यथार्थ मार्ग।

बौद्धधर्म में स्वीकार किया गया सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त क्षणिकवाद का सिद्धान्त है। जिसके अनुसार "यत् सत् तत् क्षणिकम्" -प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम बतलाया है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ या भाव सकारण है, अकारण नहीं। वस्तु की सत्ता कारण से ही उत्पन्न होती है, अर्थात् कारण पर निर्भर है। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के भाव का बल अनित्य क्षणों की सन्तति है।

इस प्रकार बुद्ध ने आत्मा की सत्ता को भी अस्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त, बन्धन, मोक्ष, दर्शन के सभी पक्षों को स्वीकार करते हुए भी आत्मा के नित्यत्व पर बड़ी ही करारी चोट की है। अनत्तलक्खन सुत्त में स्पष्ट बतलाया है कि जिसे हम आत्मा कहते हैं। वह पञ्च स्कन्धों का संघात मात्र हैं। ये पञ्च-स्कन्ध अनित्य हैं, दुःख हैं इसलिये आत्मा नहीं हो सकते।

"अनित्य (क्षणिक) को देखने से मनुष्य का मान (अहंभाव) नष्ट होता है। दुःख को देखने से मनुष्य की कामनायें शुद्ध हो जाती हैं तथा अनात्मा को देखने से उसकी दृष्टि सम्बन्धी आसक्ति दूर हो जाती है।" जब मनुष्य सम्पूर्ण संसार को अनात्म भाव से देखता है तो उसे संसार शून्य, मिथ्या प्रतीत होने लगती है। उसे संसार में वैराग्य प्राप्त होता है, निर्वाण लाभ होता है।

इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक पञ्च स्कन्ध को ही आत्मा मानते हैं। यह पञ्च स्कन्ध क्षणिक है, परिवर्तनशील है। अतः आत्मा क्षणिक है।

बौद्ध-धर्म और दर्शन ने "मानवतावाद" की स्थापना के साथ दार्शनिक पक्ष के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगवाद, अनात्मवाद, अष्टांगिक मार्ग इत्यादि स्वीकार करके धर्म की आधारशिला को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया है। आज भी विश्व में धर्मों का अवलोकन करने पर पता चलता है कि बौद्धधर्म विश्व में तृतीय स्थान पर है, सहज भाव से ही उसकी उपयोगिता स्पष्ट है। इसमें किसी प्रकार से तर्क-वितर्क की कोई भी गुंजाईश नहीं है।

महायान के अनुसार-

यथार्थ बुद्ध के उपदेश को जानने वाला तथा उनके पथ पर चलने वाला बोधि-सत्त्व होता है। बोधिसत्त्व मानवता का पूर्ण आदर्श है। बोधिसत्त्व वह महाप्राणी है जो व्यक्तिगत कल्याण नहीं चाहता। वह मनुष्य मात्र को मुक्ति-लाभ कराने में महान् आनन्द का अनुभव करता है। वह परोपकार और समाजिक सेवा में लीन रहता है। समाज की सेवा के लिये स्वयं के सुख का त्याग करता है। दूसरों के दुःख को दूर करने में वह सुख पाता है। बोधिसत्त्व के लोककल्याण के संकल्प का वर्णन करते हुए भी शान्तिदेव कहते हैं :-

अनाथानामहं दासः सार्थवाहश्च यायिनाम् ।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ।।

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ।।

-बोधिचर्यावतार- 3/17/18

अर्थात् मैं अनाथों का नाथ बनूँगा, यात्रियों का सार्थवाह बनूँगा, पार जाने वालों के लिये नौका बनूँगा, सेतु बनूँगा। दीपक और शय्या चाहने वालों के लिये दीपक और शय्या बनूँगा। जिन्हें दास की आवश्यकता है उनके लिये दास बनूँगा और सभी प्राणियों की सेवा करूँगा। इस संकल्प से स्पष्ट होता है कि मानव मात्र के कल्याण के लिये ही बोधिसत्त्व जीवन-यापन करता है।

महात्मा बुद्ध की शिक्षा में धर्म संघ तथा बुद्ध की शरण पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है। मनुष्य चाहे किसी भी जाति या किसी भी स्तर का क्यों न हो, यदि वह संघ और धर्म का आचरण करता है तो वह पूज्य है। इसलिये भगवान् बुद्ध ने अनेक छोटी जातियों में उत्पन्न तथा अनेकों दुष्कर्म करने वालों को भी धर्म और संघ में शरण दी।

बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही धर्म के बाह्य आडम्बरों, देवी-देवताओं की पूजा का विरोध करता है। यह किसी जाति या वर्ग का धर्म नहीं है। बल्कि मानव मात्र का धर्म है क्योंकि यह मनुष्य मात्र के कल्याण में विश्वास करता है।

विद्रोह (वैमनस्यता) मानद की एक ऐसी भावना है जिसको शक्ति से दमन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आवश्यकता है सामूहिक मन परिवर्तन की, जैसा स्वयं बुद्ध ने अपने जीवन में किया। दुःख सागर में पीड़ित मानव को दया और प्रेम का रास्ता दिखाकर वह परम सुखरूपी शान्ति उन्होंने जनमानस को दी।

आज के भारत को भी एक ऐसे ही पथप्रदर्शक सिद्धान्त की जरूरत है जो कि विषमताओं को दूर कर समता रूप में "मानव-प्रेम" प्रत्येक मनुष्य तक पहुँचा सके।

●

बौद्धधर्म और धर्मनिरपेक्षता

डॉ० अरविन्द कुमार राय
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

धर्म-निरपेक्षता के प्रत्यय का उदय धर्म के विरोध का प्रतिफल है। अतः धर्म-निरपेक्षता और धर्म की सामान्य मिलन-भूमि की परिकल्पना करनी व्यर्थ है। राज्य धर्म-निरपेक्ष हो सकता है लेकिन कोई भी धर्म, धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकता। व्यक्ति धर्म-निरपेक्ष हो सकता है क्योंकि व्यक्ति धर्म को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता है, इसी कारण राज्य भी धर्म-निरपेक्ष हो सकता है लेकिन धर्म के विषय में धर्म को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। क्या "धर्म-निरपेक्ष" है ? यह प्रश्न ही निरर्थक है, जब तक कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता एक-दूसरे के पर्याय न हों और यदि दोनों पर्याय होते, तो भारत की आधी समस्या का अन्त हो जाता।

धर्म को "धर्म-निरपेक्ष" नहीं कहा जा सकता है; लेकिन क्या धार्मिक-सिद्धान्त, धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकते। धर्म धार्मिक-सिद्धान्तों का संघात अथवा वर्ग या समूह है और एक समूह का गुण अपने अवयवों के गुण से भिन्न हो सकता है। गणित में हम जानते हैं कि किसी वर्ग का गुण उसके अवयवों के गुण से भिन्न हो सकता है। गणित में हम केवल परिमाणात्मक राशियों पर विचार करते हैं और जब केवल परिमाणात्मक राशियों के क्षेत्र में वर्ग और उसके अवयवों के गुण में भिन्नता हो सकती है तो धर्म के क्षेत्र में जहाँ राशियाँ केवल परिमाणात्मक नहीं हैं, यह भिन्नता और अधिक स्पष्ट रूप में आ सकती है। एक व्यक्ति और अनेक व्यक्तियों के समूह के व्यवहार में अन्तर होता है। अतः यह स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है कि धर्म, धर्म-निरपेक्ष नहीं है, लेकिन प्रत्येक धर्म के कुछ धार्मिक-सिद्धान्त धर्म-निरपेक्ष हो सकते हैं। कहीं पर यह मात्रा अधिक और कहीं पर न्यून हो सकती है। बौद्ध-धर्म के विषय में शील, प्रज्ञा, करुणा आदि धार्मिक सिद्धान्तों को धर्म-निरपेक्ष कहा जा सकता है, लेकिन उनका समूह या संघात जिसका मूर्त रूप धार्मिक-चेतना

के रूप में इस प्रकार प्रतिफलित होता है-"मैं बौद्ध हूँ"। यह धर्म-निरपेक्ष नहीं है। यदि "मैं बौद्ध हूँ", यह कथन धर्म-निरपेक्ष होता तो श्रीलंका की समस्या का समाधान हो जाता। इसलिए सजग बौद्ध-दार्शनिक इस कथन का प्रतिपादन करते है "न क्वचिद् कस्यचिद् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः" और इस प्रकार से बौद्ध-धर्म धर्म-निरपेक्ष हो सकता है, यदि उसके सिद्धान्त संघात-बन्धन को तोड़ने में सफल हो जाँय, तो इस संघात-बन्धन को प्रज्ञा, करुणा आदि के माध्यम से तोड़ने की चेष्टा बौद्ध-विचारक कर सकते हैं।

लेकिन क्या बौद्ध-विचारक या कोई भी धर्म-विचारक जो उपरोक्त रीति से विचार करता है अपने प्रयास में सफल होगा ? मुझे इस विषय में संदेह है। क्योंकि किसी भी धर्म को धार्मिक-सिद्धान्तों के संधात अथवा समूह अथवा वर्ग के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह परिभाषा धर्म के ऐतिहासिक और व्यावहारिक स्वरूप को समझाने में पूर्णतः अक्षम है। यदि धर्म धार्मिक-सिद्धान्तों का संघात है तो जिस व्यक्ति में वे सभी सिद्धान्त मूर्तिमान् हों, उसे ही धार्मेक कहा जायेगा। लेकिन ऐसे व्यक्ति का अस्तित्व दुर्लभ ही नहीं असम्भव है। कुछ लोग इस समस्या से छुटकारा पाने के लिये धर्म और धर्म के सार में भेद करते हैं ? प्रत्येक धर्म में कुछ बाह्य अंश होते हैं तथा कुछ अन्तरंग या सार अंश। वे सार अंश जिसमें मूर्तिमान् हो वही धार्मिक है। जो केवल धर्म के बाह्य आचार को अपनाता है, वह धार्मिक नहीं है। जो धर्म के मर्म को चरितार्थ करता है, वह धार्मिक है।

यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है तथा प्रथम सिद्धान्त की ही तरह अनैतिहासिक तथा अव्यावहारिक है। प्रथम, किसी भी धर्म के अन्त.ग सिद्धान्तों को लेकर बहुत विवाद है। हिन्दू-धर्म के ही सन्दर्भ में देखें-कुछ के अनुसार (अपरोक्षानुभूति) धर्म का सार है तो कुछ के अनुसार अपरोक्षानुभूति का अस्तित्व ही नहीं है (कुमारिल)।

द्वितीय, किसी भी धर्म के अन्तरंग सिद्धान्त उस धर्म की शब्दावली में अवतरित होते हैं। मात्र उन सिद्धान्तों की उस धर्म की शब्दावली में अभिव्यक्ति ही उनके धर्म-निरपेक्षता के खंडन के लिए, अन्य धर्मों में पृथक्ता का बीज बोने के लिए तथा किसी भी राज्य के लिए बड़ी से बड़ी समस्या खड़ी करने के लिए पर्याप्त है। यहां पर मात्र एक ही उदाहरण लेना पर्याप्त होगा। महात्मा गाँधी ने अहिंसा, रामराज्य, हरिजन, सत्याग्रह आदि शब्दों का प्रयोग बड़े ही पवित्र आशय से किया था लेकिन पवित्र आशय से किये गये इन शब्दों के प्रयोग ने अनचाहे अर्थ में मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच में दूरी बढ़ाने का कार्य किया। यहाँ पर वी० के० सिन्हा के

"सेक्यूलरिज़्म् एण्ड इण्डियन डेमोक्रेसी" नामक लेख से निम्नांकित पंक्तियों को उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा-

"Gandhi's nationalism was not rooted in secularism. And he was first to admit it,... He was not communal. His religion excluded no pera and embraced all faiths. Not only was Gandhi infused with religion but used religious terminology freely in political discussions. The very terms he used-Ahinsa, Ramrajya, Harijan Satyagraha were charged with religious emotions, Ramrajya harbeme the golden age of prosperity and peace when Rama, revered by Hindu as a god, ruled over men. There is much in Gandhism which to a non-Hindu strikes as alein to his own religious culture. He finds it difficult to sharefully in this emotionally charged doctrine based on religion largely Hindu in inspiration.[1]"

बहुत सारे ब्रिटिश विद्वान् ऐसे हैं जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को ही भारत और पाकिस्तान के विभाजन का दोषी मानते हैं। (Percival Griffiths. Wasti. S.R. Reginald Coupland) तथ्य कुछ भी हो, हमारा तात्पर्य मात्र इससे है कि मात्र धार्मिक शब्दावली का प्रयोग ही धर्मों के मध्य सद्भाव को विनष्ट करने में सहायक हो सकता है। चाहे हमारा अभिप्राय कितना ही पवित्र क्यों न हो। प्रत्येक का परिणाम हमारे अभिप्राय से संचालित नहीं होता। हमारे कार्यों का परिणाम हमारे आशय के विपरीत भी हो सकता है और धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के पूर्व अभिप्रेत और अनभिप्रेत दोनों प्रकार के घटकों को ध्यान में रखना चाहिए। यदि इन दोनों घटकों को ध्यान में रखें तो धर्म को उपरोक्त दृष्टियों से नहीं समझा जा सकता हैं।

यदि धर्म के ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक स्वरूप को समझना है तो धर्म को निम्नांकित प्रकार से समझना होगा "धर्म धार्मिक सिद्धान्तों का योग है" यहां योग का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। कोई धर्म 'अ, ब, स, द' इन चार सिद्धान्तों का योग है। किसी भी व्यक्ति को इस धर्म का अनुयायी कहा जायेगा यदि वह कम से कम एक सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वह एक के साथ सबको स्वीकार कर सकता है या एक को छोड़कर सबका निषेध कर सकता है। फिर भी वह उसी धर्म का अनुयायी कहलायेगा। अर्थात् योग का अर्थ यहाँ वही है जो सेट थ्योरी में यूनियन का अर्थ है या तर्कशास्त्र में संग्राहक विकल्पन (इनक्लुजिव डिसजंक्शन) का अर्थ है। उदाहरणार्थ कल्पना करें कि बौद्धधर्म में निम्नांकित घटक

---

१. Sinha, V.K. 'Secularism and Indian Democracy' in studie In Indian Decocracy Edited by Aiyar, S.P. and Srinivasan R.P P. 1

हैं- विशेष वस्त्र पहनना, प्रज्ञा, करुणा, शील, समाधि, धार्मिक चेतना आदि। इस परिभाषा के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस धर्म का अनुयायी कहा जायेगा, यदि या तो वह केवल वस्त्र पहनता है या केवल अपने धर्म के लिए संघर्ष करता है या उसमें उपरोक्त सभी गुण मूर्तिमान् हैं। उपरोक्त परिभाषा धर्म के अभिप्रेत और अनभिप्रेत, ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक सभी पक्षों को स्पष्ट करने में सहायक है। जैसे हम कहते हैं कि बौद्धों और तमिलों का श्रीलंका में संघर्ष है। बिना इस परिभाषा को स्वीकार किये हम इस वाक्य का अर्थ नहीं समझा सकते। क्योंकि यदि प्रज्ञा और करुणा को ही बौद्धधर्म का पर्याय माना जायेगा तो यह कहना पड़ेगा कि अबौद्धों का तमिलों से संघर्ष है, जो व्यवहार के अनुरूप नहीं है। परिभाषा को वर्णनात्मक होना चाहिए जिससे उस धर्म के अनुयायियों को पहचाना जा सके। धार्मिक अनुयायी धर्म की चाहे जो परिभाषा दें, लेकिन इतिहास की दृष्टि से, राज्य की दृष्टि से, व्यक्ति की दृष्टि से इसी परिभाषा को धर्मावलम्बियों ने चरितार्थ किया है।

यदि धर्म, धार्मिक सिद्धान्तों का योग है तो किस प्रकार यह धर्म-निरपेक्ष विचारों अथवा धर्म-निरपेक्ष राज्य के अभ्युदय में सहायक हो सकता है ? क्या इसके लिए योग को भंग करना आवश्यक है ? मेरी समझ से योग को भंग करना तो सम्भव नहीं है; लेकिन इसको कुछ सीमा तक निष्प्रभावित किया जा सकता है। प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत कुछ ऐसे गुण हैं जिनको प्रश्रय देने पर वे उस धर्म का अन्य धर्मों के साथ अन्तःसम्बन्ध स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं। अन्तःसम्बन्ध के कारण योग के विस्तार में वृद्धि होगी लेकिन यह अन्तःसम्बन्ध सहायक तभी होगा जब यह मूर्तरूप में प्रतिफलित हो। उदाहरणार्थ यदि एक धर्म के अनुयायी अन्य धर्मों के साथ बड़ी मात्रा में वैवाहिक सम्बन्ध करें, तो इससे धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना में सहायता मिल सकती है। प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत जो गुण अर्न्तसम्बन्ध के विस्तार में सहायक हो सकते हैं, उनको प्रश्रय देने से इस कार्य में सहायता मिल सकती है। बौद्ध-धर्म में इस प्रकार के गुणों की मात्रा अधिक है क्योंकि उसने कभी भी एक विशेष सामाजिक व्यवस्था पर बल नहीं दिया है। साधारणतः जिसे हम बौद्ध-धर्म की त्रुटि समझते हैं, वह आज की परिस्थिति में एक बहुत बड़ा गुण सिद्ध हो सकता है। इन गुणों पर बल देकर यदि हम मूर्त अन्तःसम्बन्धों के लिए एक वातावरण तैयार करें तो भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनने में सहायता मिल सकती है।

●

धर्म निरपेक्षता : दर्शन : धर्म (बौद्ध)

प्रो॰ राधेश्यामधर द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष
तुलनात्मक-धर्मदर्शन-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

"धर्मनिरपेक्षता" शब्द भारतीय परिप्रेक्ष्य में बहुत भ्रामक है। मैं धर्मनिरेपक्षता को सम्प्रदायनिरपेक्षता के संवैधानिक भाव में रखकर विचार करूँगा। 42 वें संशोधन में 1976 "सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न समाजवादी सम्प्रदायनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" को सफल बनाने की चर्चा संविधान ने की है। सम्प्रदायों को अंग्रेजी में सेक्टर के रूप में रखा जाता है और उनको पक्षधर राज्य को सेक्टेरियन गवर्नमेन्ट्स कहा जा सकता है। भारत सरकार किसी सम्प्रदाय की पक्षधर नहीं है।

सम्प्रदायवादी लोग सेक्यूलर शब्द से चिढ़ते हैं। इसके कारण हैं। सेक्यूलर शब्द के तीन अर्थ लिये जाते हैं :

1- इहलोकवाद पर आधारित व्यवस्था
2- धर्मविरोध की व्यवस्था
3- सर्वधर्मसद्भाव की व्यवस्था

भारत में तीसरा अर्थ लिया जाता है। इस पर लांछित "सेक्यूलर" शब्द के पीछे एक बहुत बड़ा इतिहास है, इसे भूलकर इसका अर्थ करने से जनता में भ्रम फैल रहा है। गोष्ठी यदि उस भ्रम को ध्यान में रखकर कुछ करने में समर्थ हो सकी तो उससे भी बहुत लोकहित संभव बन सकेगा।

भारत में बौद्धधर्म के मुख्य प्रचारक अशोक की भाँति यूरोप में कान्स्टेन्टाइन ने ईसाई धर्म का प्रचार किया। उन्होंने ईसाई धर्म को राज्य धर्म बनाया तथा उसका प्रभाव क्षेत्र बढ़ाया। बाद में ईसाइयत का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि उसकी आज्ञा को सर्वोपरि माना जाने लगा। यहाँ तक कि उसकी आज्ञायें राजाज्ञा से भी महत्त्वपूर्ण मानी जाने लगीं। कहा जाता था--

जब चर्च तथा राज्य का झगड़ा हुआ, दोनों अपनी संप्रभुता के लिए लड़ने लगे। उस समय पश्चिम में राज्य ने चर्च से अपना गला छुड़ाते हुए राज्य व्यवस्था के लिए सेक्यूलर स्वरूप अख्तियार किया। पोप लियो दशम ने विमोचनपत्र से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया और धर्म के विरोध में विविध विचार पैदा हुए। नया पुनर्जागरण काल आया और धर्म को व्यक्तिगत अनुभूति तक छोड़कर राज्य को इस लौकिक व्यवस्था के लिए नीति पर आधारित बनाया गया। इसीलिए मैकियावेली ने राजनीति को धर्मनिरपेक्ष बनाने की ओर ध्यान दिया और कहा- "आदर्श राजनीतिक को प्लेटो का दार्शनिक नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक होना चाहिए जो अपने राज्य तथा उसके वांछनीय लक्ष्य के सिद्धान्त की रचना, एक वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण अध्ययन के आधार पर करना चाहता है।"

राजनीतिक शक्ति भौतिक है और नैतिक विचार मानवी वासनाओं और तृष्णाओं से प्रभावित है। एक सफल शासक को शक्तियों के ऊपर नियन्त्रण करना सीखना चाहिए।

इस प्रकार मैकिया वेली के विचार ने नव जागरण के बाद राज्य-शक्ति का प्रभुत्व बढ़ाया। इसीलिए डनिंग ने उसे पूर्ण प्रेक्षक तथा उचित विश्लेषक कहा है। कुछ लोग उसे मनुष्य के स्वभाव का गलत विवेचक भी मानते हैं।

पश्चिम में "सेक्यूलर" शब्द धर्मविरोध में प्रारम्भ हुआ था, फलतः मिशनरी लोग इस शब्द से चिढ़ते थे। भारत में जब यह शब्द अधिगृहीत हुआ तब से मिशन के लोगों में इसके प्रति घृणा पैदा हो गयी। भारतीय बुद्धिजीवी भी इसकी भौतिकवादी दृष्टि से वाकिफ थे, अतएव उन्हें भी यह अच्छा नहीं लगा। क्योंकि वह मानसिक रूप से अध्यात्मवादी था। राजनीतिक लोग इन दोनों विचारों से थोड़े-थोड़े परिचित थे पर वे इसे सर्वधर्मसमभाव के अर्थ में गृहीत करते रहे। समय-समय पर मिशनरियाँ तथा धर्म के नाम पर संप्रदाय के ठेकेदार घृणा फैलाते रहे। इस प्रकार यह धर्म शब्द कलुषित हो गया।

इस शब्द से ईसाई तो चिढ़ते है, सिख तथा हिन्दू भी चिढ़ते हैं। गुरु गोविन्द सिंह का नारा है, "घा देग तेग फतहि' तराजू के दो मापकों की भाँति सियासत तथा धर्म समान हैं, पर सियासत पर धर्म का नियन्त्रण रहना चाहिए। हिन्दू धर्मगुरु भी मानते है कि जीवन धर्म के बिना नहीं चल सकता। इस प्रकार धर्मसापेक्ष राज्य व्यवस्था होनी चाहिए, न कि धर्मनिरपेक्ष। सामान्य जनता, सम्प्रदायवादी और यहाँ

तक कि गाँधी जी स्वयं धर्म सापेक्ष राजनीति के हिमायती थे। पर वर्तमान राजनीतिक लोग इसका गलत अर्थ बता-बता कर जनजीवन दूषित बना रहे हैं। इस दूषित पर्यावरण को शुद्ध करना चाहिए और यह काम विद्वत् समुदाय का है।

ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक है कि धर्म के लोग अपनी उदार बातों से धर्म तथा राजनीति के दूषित पर्यावरण को ठीक कर सकते हैं। पहले भी ऐसा हुआ है। अकबरनामा में लड़ाने वाली बातों को हटाकर आपसी प्रेम का स्वरूप प्रस्थापित किया गया है। धर्मशासन की ओर ध्यान देने के कारण अकबर को पुजाहिद कहा गया।

भारत ऐसा देश है जहाँ विविध धर्म तथा संस्कृतियाँ हैं। चिन्तन के भी विविध आयाम हैं। हम कभी इहलोकवादी, अधर्मवादी होकर नहीं जी सकते। अतएव हमारी परम्परा में जो उदारता की प्रवृत्ति तथा आध्यात्मिकता का भाव है, उस ओर ध्यान देना होगा। इस कार्य में बौद्धधर्म हमारी सहायता कर सकता है। बौद्धधर्म ने समग्र एशिया में अपना प्रसार किया और उन प्रदेश के लोगों में सामंजस्य स्थापित किया। इसकी विशेषता है कि यह किसी भी स्थान पर विचारों को प्रभावित करता है, तभी तो तिब्बत में बाँन के साथ तथा चीन में कन्फ्यूसस और जापान में सिन्तों के साथ अपने को व्यवस्थित किया। भारत में सम्पूर्ण बौद्ध जीवन-पद्धति वैदिक जीवन-पद्धति के साथ संयुक्त रही है। मैं समझता हूँ इसका कारण हमारी परम्परा का आध्यात्मिक विवेचन है। इसमें स्व-अस्तित्व का समापन या 'स्व' का स्व में समर्पण होता है। अतएव कहा गया है--

शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः।
य एवं सर्वशास्त्रज्ञस्तस्य शान्तं मनस्सदा।।

शास्त्रों का बोध शान्ति के लिए है। जो शास्त्रज्ञ है उसका मन शान्त है। आग्रह को त्यागने की बात करते हुए नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है-

त्यक्तव्यो मयकारः स्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्तव्यों मयकारः किन्तु स सर्वत्र कर्त्तव्यः।।

अर्थात् मयकार का परित्याग करना चाहिए पर यदि वह नहीं छूटे तो सब में उसे डाल देना चाहिए।

यह सनातन पद्धति है। इसमें कदाचित् स्वार्थभाव उत्पन्न हो जाया करता है, अतएव बुद्ध के धर्म में इस स्वार्थ को हटाने के लिए प्रयत्न किया गया और कहा--

सत्कायदृष्टिप्रमदानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्य विषयं च ज्ञात्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ।।

अर्थात् सम्पूर्ण क्लेश दोष तथा रागों को आत्मदृष्टि से पैदा हुआ जानकर भोगी आत्मदृष्टि का परित्याग करता है।

यहाँ आत्मदृष्टि परित्याग की बात तथा मयकार परित्याग की बात कही गयी है और यदि त्याग अर्थात् अपवाद संभव नहीं होता तो सब में आत्मभाव को बनाने की धारणा विकसित करने की भी बात की जाती है। यह आत्मभाव या अनात्मभाव परित्याग या ग्रहण अध्यात्म प्रवरणता का है न कि आग्रह मूलक जड़ता है। इसीलिए नागार्जुन ने शून्यता की दृष्टि को निस्सरण मार्ग बतलाया है, पर शून्यता का ग्राह पकड़ना असाध्यता की ओर ले जाना माना है--

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां च शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे[1] ।।

बुद्ध ने यही बात 'कुल्लूपम-सूत्र' में धर्म को बेड़े की भाँति पार जाने के सहारे के रूप में माना है, न कि पकड़कर बाँधे रखने के लिए कहा है। यही बात उपनिषदों में भी कही गयी है।

पर हर शास्त्रविद् या परम्परागत अध्ययनकर्ता अपने शास्त्र को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए अपने प्रमुख मानता है पर यदि जानकारी होने पर भी आग्रह नहीं गया तो वह काक-वासित है, कहा भी है--

यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये।
सुबुद्धमपि शब्देन काकवासितमेव तत्[2] ।। इति।

●

---

१. माध्यमिक कारिका।
२. भारतीय चिन्तक की परम्परा में नवीन संभावनायें।

आधुनिक सन्दर्भ में बौद्ध-धर्म एवं दर्शन

आचार्य त्रिभुवन मिश्र
-प्राध्यापक
नेपाली संस्कृत महाविद्यालय
वाराणसी

भारतवर्ष आज जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है, वे बड़ी ही संघर्षमय हैं। विश्व के अनेक विकसित देश विज्ञान के बल पर चाँद-सितारों के भौतिक अस्तित्व के रहस्य को अनावृत कर रहे हैं। चन्द्र और सूर्य अब देवता की अपेक्षा भौतिक ग्रहपिण्ड मात्र रह गये हैं। यन्त्र मानवों के विकास ने अपने ही स्रष्टा मानव को अपने चमत्कारिक परिणामों के बल पर बौना बना दिया है। इन परिवर्तित परिस्थितियों में विश्व के प्रायः सभी विचार एक नये धर्म एवं दर्शन की जिज्ञासा करने लगे हैं, जो प्राचीन परम्परागत विश्वासों एवं मान्यताओं की रक्षा करते हुए आज के जाग्रत प्रश्नों का समुचित समाधान प्रस्तुत करने में सक्षम हो।

हमारा यह देश अनादिकाल से सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने में विश्वास करता आ रहा है। समाज को छोड़कर व्यक्ति को प्रधान मानकर कोई भी भारतीय दर्शन नहीं पनपा। जब कभी इस प्रकार की संकुचित मनोवृत्ति का उदय हुआ, उसी समय किसी न किसी महापुरुष ने जन्म लेकर इस दुष्प्रवृत्ति का अनेक संकटों का सामना करते हुए विरोध किया एवं एक नया संतुलन स्थापित किया। यह सन्तुलन लाठी या तलवार या बन्दूकों के बल पर नहीं, अपितु जनता के बीच घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप स्वतः उदय हुआ। वर्तमान युग में भी एक ऐसे ही महापुरुष ने भारतीय समाज को सन्तुलित करने के लिए अपना जीवन बलिदान किया है। किन्तु खेद का विषय है कि स्वार्थी लोगों ने इस महात्मा के बलिदान को व्यर्थ सिद्ध कर समाज की नाव को पुनः भँवर के बीच फँसा दिया है।

वर्तमान में धर्म, दर्शन, जाति, वर्ण, समुदाय, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि के झगड़े जोरों पर चल रहे हैं। कहीं श्वेत-अश्वेत का झगड़ा है तो कहीं देश की नागरिकता का कहीं असवर्ण और सवर्ण का चक्कर चल रहा है तो कहीं सम्प्रदाय का। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही जागृत होता है कि क्या ये झगड़े व्यर्थ हैं या इनमें कुछ तथ्य भी है ? अथवा केवल स्वार्थ-पूर्ति के लिए कुछ व्यक्तियों की लगायी हुयी आग है ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर ही धर्मसार्थकता का निर्णायक होगा।

यों तो भारत के संविधान में "धर्म-निरपेक्षता" का उल्लेख है किन्तु व्यवहार में संविधान का पालन हाथी का दाँत बनकर रह गया है। यहाँ "धर्म-निरपेक्षता" शब्द स्वयं में एक भूलभुलैया बनकर रह गया है। यहाँ पर कुछ प्रश्न प्रत्येक विचारक के मन में सहज उदय होते हैं। यथा-धर्म क्या है ? वह सापेक्ष है या निरपेक्ष ? यदि सापेक्ष है तो उसकी अपेक्षायें क्या हैं ? निरपेक्ष है तो समाज से उसका क्या सम्बन्ध है आदि। धर्म का व्याख्यान करते हुए प्राचीन ऋषियों ने कहा है कि जो समाज को धारण करे, उसके बीच सन्तुलन बनाये रखे, सुख-समृध्दि की वृध्दि करे, वह धर्म है। यह समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यह अलौकिक होते हुए भी लौकिक है। लोक का नियामक होते हुए भी देश-काल आदि से निर्लिप्त एवं अबाधित रहना ही इसकी अलौकिकता है। धर्मविषयक अनेकानेक परिभाषाओं का अध्ययन करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है। इस दृष्टिकोण से आज भी धर्म की सापेक्षता बनी हुई है क्योंकि "धर्मो रक्षति रक्षितः" की उक्ति आज के सन्दर्भ में भी सत्य है। केवल धर्मविषयक नीति निर्धारण से कुछ लाभ होने वाला नहीं है, जब तक कि इसका कड़ाई के साथ पालन न किया जाय। धर्म-पालन के सम्बन्ध में यह भ्रम होता है कि धर्म का पालन किया जाय ? स्वयं भगवद्गीता जैसे ग्रन्थ में इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध वचन प्राप्त होते हैं। एक जगह "स्वस्वधर्मे वर्तेयुः" कहकर सबको अपने-अपने धर्म के पालन की स्वतन्त्रता दी गयी है तथा यह भी कहा गया है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः"। वहीं अन्यत्र "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज" की बात कहकर स्वधर्म (वैयक्तिक धर्म) पालन को बाधित कर दिया गया है। किन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो दोनों उक्तियों में कोई विरोध नहीं है। सामान्यतः धर्म दो प्रकार का है- जीव-धर्म और समाज-धर्म। जीव-धर्म देश, काल आदि भेद से अनेक होता है किन्तु समाज-धर्म या सार्वभौम धर्म एक ही है, वह सत्यासत्य से परे कुछ नहीं है। कहा भी है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" इसका व्याख्यान विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से अलग-अलग शब्दों से किया है। अतः अब जीवधर्मों में परस्पर

विवाद हो तो उसके सत्य का आश्रय लेकर सन्तुलन बनाने की बात कही गयी है। इस प्रकार दोनों में कोई विरोध नहीं रह जाता। धार्मिक स्वतन्त्रता का यही अर्थ है। अतः समाज का नेतृत्व करने में जो धर्म श्रेष्ठ है उसी का पालन उचित है। इस प्रकार आधुनिक सन्दर्भ में भी वैयक्तिक धर्म एवं राष्ट्रिय धर्म, दो प्रकार के धर्म होने चाहिये।

भारतवर्ष में चार सम्प्रदाय मुख्य हैं- हिन्दू, मुस्लिम, सिख और ईसाई। इनमें से हिन्दू और सिख दोनों भारतीय हैं, शेष दो विदेशी सम्प्रदाय हैं। कुछ लोग बौद्ध, जैन आदि मतों को हिन्दू सम्प्रदाय से अलग बताते हैं, जबकि ये हिन्दू सम्प्रदाय ही हैं। वास्तव में हिन्दू कोई जाति अथवा धर्म नहीं अपितु भारतीयता का अरबी पर्याय है। इस प्रकार भारत में उदय होने वाले सभी धर्म भारतीय एवं हिन्दू हैं। क्योंकि सभी भारतीय धर्म भारतीय परिवेश से उत्पन्न हुए हैं। उपनिषदों का आधार सबने ग्रहण किया है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक नये सम्प्रदाय ने तात्कालिक विश्व के अन्य सम्प्रदायों के सार को अपने में समाहित किया है तथा कुछ अपनी बुराईयों की जम कर निन्दा एवं परिमार्जन किया है। बौद्ध-धर्म ने भी यही किया है। उसने परम्परागत वैदिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों को तो स्वीकार कर लिया किन्तु उसके देववाद, कर्मफलवाद आदि का जमकर विरोध किया। साथ ही समय की माँग को देखते हुए उसने जन भाषा को अपना माध्यम स्वीकार किया। लेकिन बाद में चलकर संस्कृत को अपनाना ही पड़ा।

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने बौद्ध-धर्म के सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, प्रज्ञा आदि को अपना कर एक नये समाज की कल्पना की। छूत-अछूत, उच्च-नीच के भेदभाव का उन्होंने जमकर विरोध किया तथा मानवतावाद को जन्म दिया। उन्होंने पाश्चात्य देशों के सामाजिक नियमों को भी अपने यहाँ परिष्कृत रूप में प्रचलित करने का प्रयास किया। उन्होंने एक ऐसे रामराज्य की कल्पना की जिसमें प्रजा राजा से भयभीत न होकर उस पर शासन करने वाली हो, जिसमें उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता सुरक्षित हो। महात्मा गाँधी ने अपने दर्शन में भारतीय एवं विदेशी सभी दर्शनों का ध्यान रखा है और सभी की धार्मिक भावनाओं का आदर करते हुए एक मध्यमार्ग का अनुसरण किया है। इस पर आधुनिक भारतीय दर्शन जहाँ अपने प्राचीन वैदिक दर्शन को सुरक्षित रखे हुए है वहीं पाश्चात्य दर्शन के स्वरूप को निखारता हुआ उसका मार्गदर्शन करने में समर्थ

सिद्ध हुआ है। इस कार्य में बौद्ध-धर्म एवं दर्शन ने महात्मा गाँधी को अधिक प्रभावित किया है।

अन्त में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ आधुनिक सन्दर्भ में धर्मविहीन समाज नहीं, अपितु, सभी धर्मों के प्रति राग-द्वेषादि मानसिक धर्मों से निरपेक्ष रहते हुए अपने-अपने धर्म का पालन करना एवं सत्य का समादर ही है। इसके पालन से समाज में स्थिरता आयेगी। सामाजिक असन्तुलन दूर होगा। राष्ट्रीय धर्म का निर्माण सब धर्मों की समष्टि से होता है। धर्म संगठन करता है। वह आपस में भेद नहीं करना जानता। आग्रह से भेद उत्पन्न होता है। चूँकि धर्म स्वयं जल में कमल की भाँति निर्लेप है, इसलिए उसका कोई आग्रह नहीं है। वर्तमान समय में जाति-पाति, सम्प्रदाय और ऊँच-नीच के झगड़ों को दूर करने के लिए भगवान् बुद्ध के वचनों के अनुसार सदाचार का पालन करना एवं सामाजिक सन्तुलन हेतु मध्यममार्ग अपनाकर चलना ही श्रेयस्कर है। तभी धर्मनिरपेक्षता का सही उपयोग सम्भव है।

●

बौद्ध-धर्म-दर्शन और धर्म-निरपेक्षता

श्री नरेश सिंह गीत,
शोध-छात्र, के०बौ० वि० संस्थान,
लेह-लद्दाख।

बौद्ध-धर्म और धर्मनिरपेक्षता को स्पष्ट करने के लिये हमको बौद्ध-धर्म एवं धर्म-निरपेक्षवाद से क्या तात्पर्य है इसे समझना चाहिये। सर्वप्रथम हम धर्मनिरपेक्षवाद को स्पष्ट करना चाहेंगे। धर्मनिरपेक्ष का अर्थ अंग्रेजी में 'सेकुलर', उर्दू में 'गैरमजहबी' होता है। सेकुलर का अर्थ 'इण्डिपेंडेन्ट आफ रिलीजन है।' "रीलीजन" से मुक्त या स्वतंत्र। गैरमजहबी का भी अर्थ होता है मजहब से मुक्त या स्वतंत्र या मजहब से सम्बन्ध न रखनेवाला।

वास्तव में देखा जाय तो सेकुलर इण्डिपेंडेण्ट आफ रिलीजन या गैरमजहबी का हिन्दी में वास्तविक अनुवाद मत-निरपेक्ष या सम्प्रदाय-निरपेक्ष होना चाहिये; क्योंकि रिलीजन या मजहब धर्म से बिल्कुल भिन्न हैं। व्याकरण की दृष्टि से धर्म भाववाचक संज्ञा है जबकि रिलीजन या मजहब जातिवाचक संज्ञा है। जिस स्थान पर धर्म से जो अर्थ निकलता है उस स्थान पर रिलीजन या मजहब से वह अर्थ या भाव नहीं निकलता। उदाहरण के लिये हम कहते हैं, माता-पिता की सेवा करना हमारा मजहब या रिलीजन है तो यह वाक्य बिल्कुल निरर्थक असाहित्यिक एवं मूर्खतापूर्ण होगा। इसी प्रकार हम देखते हैं कि धर्म का अनुवाद 'मजहब' या 'रिलीजन' निश्चित रूप से नहीं हो सकता।

अतः धर्मनिरपेक्षवाद का सीधा और सरल अर्थ है-मजहब-निरपेक्षवाद या मत-निरपेक्षवाद। इसी भाव को लेकर मैं अपनी बात आप लोगों के समक्ष रखने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

स्वतंत्रता के बाद हमारे राष्ट्र-निर्माताओं एवं संविधान की रचना करने वालों ने धर्मनिरपेक्षवाद का रास्ता अपनाया और संविधान में घोषणा की गई कि हमारी सरकार हमाराराष्ट्र-धर्म-निरपेक्ष होगा। दूसरे शब्दों में हम किसी भी मजहब या रिलीजन को अपने सरकारी कार्य और प्रशासन व्यवस्था मे स्थान नहीं देंगे; क्योंकि

रिलीजन और मजहब के नाम पर गरीब और निरपराध हजारों व्यक्तियों का खून बहाया गया, बहू-बेटियों की इज्जत लूटी गयी, कई अबोध बाल-बच्चों को नुकीले हथियारों पर उछाला गया और इस प्रकार के पापकर्म करने वालों को न तो खुदा ने सजा दी और न ईश्वर ने उन्हें सुबुद्धि दी। इसी मजहब और रिलीजन के केन्द्रबिन्दु ईश्वर, खुदा के भक्तों और बन्दों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच में नफरत पैदा करके, साम्प्रदायिक झगड़े पैदा किये। जिनमें बेकसूर लोगों की जानें गई। इन साम्प्रदायिक झगड़ों में न तो खुदा आ करके अपने बन्दों को बचा सका और न ईश्वर उपस्थित रह करके अपने भक्तों की रक्षा कर सका। गॉड भी कहीं अज्ञात स्थान पर बैठकर इस नरसंहार का तमाशा देखता रहा। जब रिलीजन और मजहब की मनुष्य के जीवन में इसी प्रकार की भूमिका है तो उससे दूर रहना ही मनुष्य का धर्म है इसीलिये धर्म निरपेक्षवाद को संविधान के रचयिता बाबा साहब अम्बेदकर ने भारतीय संविधान का मूल तत्त्व माना।

इसके बाद अब हमको बौद्धधर्म को भी स्पष्ट करना चाहिये जिससे गोष्ठी का विषय पूर्णरूप से स्पष्ट हो सके। बौद्धधर्म का केन्द्र-बिन्दु नैतिक आचरण है, न कि खुदा या ईश्वर प्रणतिपाद अर्थात् हिंसा अदित्रादान (अचोरी) मृषावाद (झूठ) कामेसुमिच्छाचारा (व्यभिचार) एवं सुरामेरेय अर्थात् नशा-सेवन से विरत रहना या यों कहें दूर रहना ही बौद्धधर्म है। बौद्धधर्म में आत्मा-परमात्मा का कोई स्थान नहीं है न तो खुदा की मान्यता है और न गॉड की पूजा है। ईश्वर, खुदा, गॉड, बौद्ध दृष्टि में संसार का सबसे बड़ा अंधविश्वास है जो मनुष्य को अकर्मण्य और आलसी बनाता है, मनुष्य की बुद्धि पर ताला लगाता है, जिससे धर्म के नाम पर पाखण्ड फैलाने वाले लोग गरीब मेहनतकश लोगों का शोषण करते हैं। ये गरीब एवं मेहनतकश लोग ईश्वर में विश्वास करने के कारण उनका विरोध नहीं कर पाते। बौद्धधर्म कहता है- "अत्ता ही अत्तनो नाथो को हि नाथो परोसिया", अर्थात् मनुष्य अपना स्वामी स्वयं है, इसका दूसरा कोई मालिक नहीं है। बौद्धधर्म की शिक्षा है। "अत्त दीपो भव" मनुष्य अपने ही कार्यों एवं कर्मों से छोटा बड़ा अच्छा बुरा बनता है। मजहबी ग्रन्थों में लिखा गया है कि ब्रह्मा ने स्वयं मनुष्यों में विभिन्न जातियाँ बनायी हैं, इसी कारण से जनजातियों को बदला नहीं जा सकता, इसी आधार पर आज जातिवाद का नंगा नाच हो रहा है। कहीं निर्बल वर्ग के लोगों की झोपड़ियाँ जलाई जा रही हैं तो कहीं बेकसूर बच्चे-बूढ़े-महिलाओं को जिन्दा ही आग की लपटों में फेंका जा रहा है। यदि जातिवाद का यह नंगा नाच चलता रहा तो पूरे

राष्ट्र का विनाश ही एक दिन निश्चित है। मजहब और रिलीजन में जहाँ जातिवाद को ईश्वरकृत माना गया है, वहीं पर बौद्धधर्म में जातिवाद में विश्वास करने वालों को प्रज्ञाहीन एवं मूर्ख कहा गया है। बौद्ध धर्म की शिक्षा है कि सभी मनुष्य एक ही जाति के हैं। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात के वासट्ठ सुत्त में कहते हैं कि पशुओं में जाति होती है, वृक्षों में जाति होती है, पक्षियों में जाति होती है, तृणों में जाति होती है, किन्तु मनुष्यों में कोई जाति नहीं होती, अर्थात् सभी मनुष्य मानव जाति के हैं। इस सुत्त में भगवान् ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाया है कि पशुओं, पक्षियों, वृक्षों एवं तृणों में भिन्न जाति के लक्षण हैं परन्तु मनुष्यों में जाति के लक्षण नहीं हैं। रिलीजन और मजहब हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख, ईसाई, ब्राह्मण, भंगी आदि छोटी-बड़ी जातियों पर विश्वास रखता है जबकि बौद्धधर्म इसको मिथ्या धारणा कहता है। बौद्ध-धर्म को थोड़े से शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है- "सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा । सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं" पापकर्म क्या है और पापकर्म को ही अकुशल कर्म कहते हैं। अकुशल कर्म बौद्धधर्म में इस प्रकार हैं-

1- प्रणतिपात (हिंसा), 2- अदिन्नादान (चोरी), 3 - पिशुनवाचा (चुगली) 4- कामेसुमिच्छाचार (व्यभिचार), 5- मूसवादा (झूठ बोलना), 6- परुषवाचा (कड़वी बात बोलना), 7- सम्फप्पलापा (व्यर्थ की बात), 8- अभिज्झा (लोभ). 9- व्यापाद (द्वेष) एवं 10- मिथ्यादृष्टि (अंधविश्वास)

कुशल कर्म इस प्रकार से हैं- 1- दान (त्याग), 2- शील (सदाचरण), 3- भावना (सभी के कल्याण की चिन्ता), 4- अपचायन (बड़ों का आदर -सत्कार), 5- वेय्यावच्च (सेवा-भावना), 6- पचिदान (पुण्यकर्म से हिस्सा देना), 7- पत्तानुदान (दूसरों के पुण्य का अनुमोदन), 8- धम्मसेवन (धर्म सुनना), 9- धम्मदेशना (धर्म की शिक्षा देना), 10- दिढ्ढज्य कम्मं (ईश्वर, खुदा, गॉड जैसी मिथ्याधारणाओं को छोड़कर बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं का पालन)।

उपरोक्त बातें बौद्धधर्म की मीठी औषधि हैं, जिनको सामान्य जनता सेवन करके सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकती है। किन्तु समाज में कुछ मियादी बुखार के मरीज व्यक्ति हैं जिनको स्वस्थ बनाने के लिये बौद्धधर्म की कड़वी दवा पिलानी पड़ती है। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति नें कड़वी औषधि की निम्न प्रकार से व्याख्या की है- "वेदप्रमाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्थानेधर्मेच्छा जातिवादमपलेपः। संत्ताप्रारम्भः पापापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानं पंचलिङ्गानि जाड्ये"। इसी भाव को धर्म-

निरपेक्षवाद इस प्रकार कहता है- कुरान-पुराण ईश्वर-खुदा जाति-पाँति के झगड़ों को छोड़ो, धार्मिक अंधविश्वासों से दूर रहो, सभी देशवासियों के कल्याण की कामना करो। जिस प्रकार बौद्धधर्म कुशल कर्म पर जोर देता है और अकुशल कर्म से विरत रहने की शिक्षा देता है, उसी प्रकार धर्मनिरपेक्षवाद भी कहता है-मजहबी हिंसा से दूर रहो, मजहबी अन्धविश्वासों से दूर रहकर नैतिक आचरण पर चलो, जिससे सभी प्राणी सुखपूर्वक रह सकें। इस प्रकार से धर्मनिरपेक्षवाद और बौद्धधर्म का केन्द्र बिन्दु अर्थात् आधार नैतिक आचरण है जबकि मजहब और रिलीजन का केन्द्रबिन्दु अर्थात् ईश्वर और खुदा मजहबी अंधविश्वास हैं। अन्त में मैं यही कहूँगा कि बौद्ध धर्मनिरपेक्षवाद का पूर्ण समर्थन करता है और दोनों का लक्ष्य सभी प्राणियों का कल्याण है। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम सन्देश में कहा था- "चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय"। सभी मनुष्यों के कल्याण के लिये मनुष्य के बीच साम्प्रदायिक खाई को पाटकर और जातिवाद की दीवार को तोड़कर समतावादी समाज की स्थापना की जाय। यही कारण है कि हमारे भारतीय संविधान में किसी रिलीजन और मजहब को स्थान नहीं दिया गया किन्तु बौद्धधर्म के अशोकचक्र को अर्थात् धर्मचक्र को सम्मानजनक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया, अशोकस्तंम्भ सिंह शीर्ष को राजमुद्रा स्वीकार किया गया और भारत के राष्ट्रपति के बैठने के स्थान के ऊपर बौद्धधर्म की धर्मवाणी "बहुजनहिताय बहुजन-सुखाय" को उल्लिखित किया गया। इस प्रकार बौद्धधर्म और धर्मनिरपेक्षवाद दोनों एक ही मार्ग के अनुगामी हैं जबकि रिलीजन, मजहब, सम्प्रदाय (धर्म) धर्मनिरपेक्षवाद के विरोधी हैं।

●

SECULARISM : THE MAIN STREAMLINE IN THE ANCIENT INDIAN CIVILISATION AN ARCHAEOLOGICAL APPROACH TO THE PROBLEM

PERIOD UNDER REVIEW : 600 B.C to 600 A.D.

Shri R.B. Narain

Since last sixty years constant efforts by various scholars and Archaeolo-gists have yielded vast materials which have helped considerably in tracing out the missing chapters of Ancient Indian History. The position before 1902 was such that not a single paragraph could have been written about the earlier history prior to the Mauryan Period. Undoubtedly the ancient texts and works are all the time ready to provide relevant materials and informations but some time they need further corroborative supports from the Archaeological finds. The constant activities have brought evidences in the shape of inscriptions Coins, Seals and Sealings and other archaeological remains and finds which are highly reliable and impartial in character. A thorough studies of these finds have presented a some what clear picture regarding the social and religious condition through out the ancient periods. It appears that Secularism was, as if imbibed in the very root of Indian Civiliation. This seems to have been regenarated once more from 600 B.C. and remained constant in flow up to the 600 A.D. i.e. up to the period of the Imperial Gupta rule. Probably this was the period of intellectual and manta fermentation not only in India but through out the Asian continent. The Pali and Ardh-Magadhi literature, sublime dialogues in the Santiparvan and the Brahmin Sutta of the Sanskrit literature bear strong witness of some sort of a moral upheavel during this very period, influencing a major part of India.

Prior of this period the education and learning were tagged with the powerful Vedic Charanas but gradually they were effected to gradual secularisation and thus gave birth to new ideas and philosophical thoughts. Right from the period of the sixteen Mahajanpadas, secularism seems to be the main streamline of the Indian Civilisation. On account of

the second cycle of Urbanisation growth of numerous cities, developing trade and commerce and contacts, led to the growth of liberal feelings. Adjustment and toleration for others developed in the Indian Society. Most of the scientific and philosophical systems of India were laid during this period. Benevolent monarchy and republicanism both delivered an active consciousness which did away with the narrow feeling of depotism and aggressive outlook. A mass of literature was released by the time of Panini outside the aegis of the Vedic School, which gave rise to mature Grammar and a firm language, capable to produce a rich literature for the developing culture. Just like the City State of the Greeks, in the Indian Janpadas new factors led to new ideal of education serving the needs of the growing trade and economic life. According to Yaska (I) a significant change took place in the Indian Society.

The new prevailing view was some what similar to the interpretation of Dharma in the Mahabharat (Udyog Parva 137.9)

"नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः"

Again Panini also observe : (iv. 4.4 I) on the Dharma :

"धर्मं चरति, धार्मिकः।"

Accordingly Law or the Dharma was nothing but righteous just, virtuous, moral and accordant with the social and Universal Law. The fundamental policy of the period was based mainly on Vidur-niti which equally emphasis on the policy of toleration, adjustment and sincerity. According to the Santi Parva (67.27) even the rulers had to be Prajna. The Janpada policy and the life of the citizens were governed by 'Vainayika' to which Panini (v. 4.34) and the Santi Parva (68.4) do refer. This indicates that both the rulers as well as the people were mainly guided by Dharma which was purely Secular and never narrow and partial.

With the advent of the Mauryans led by Chandragupta, the main spirit of the Indian Civilisation did not deter from the path of tolerance and impartial attitude towards the general people. As a matter of fact the students of History and Culture usually feel helpless in knowing the personal religion of Chandragupta. The reason is that no action of Chandra had ever shown any indication of his religious inclination. He simply knew how to provide a standard administration in the interest of

all. Benevolence and benign activities added by a peaceful atmosphere were the main objects of Chandragupta's rule. It is only from the Rajavallikatha (Indian Antiquity 1982. 157) it was revelled that he was a Jain who died at Sarvanbelgola in the region of Mysore. The inscription on the north bank of Kaveri near Srindgpatum (dated to 900 A.D.) it is known that Chandragiri holds the foot prints of Bhadrabahu and Chandragupta Munipati (Rice : Mysore and Coorge from the Inscription P. 3-4) who retired to that region in the closing days of his lite. Dr. Smith has also agreed that except the Jain tradition no other account of Chandragupta's personal religion is available. If Chandragupta is to be taken as the follower of Jainism it is notable that he did not allow any of his action to be branded or tagged with the principles of Jainism. One can safely conclude that the first Mauryan emperor very skillfully displayed such a policy which was in no way lopsided or inclined to one particular angle or partial to any onemunity. religion or group. Kautliya the chancellor of Chandragupta observes that for a king his Vrata is the constant activity in the cause of the people, his best religious ceremony is the work of administration (Karyaanusasnum), his highest charity (Dakshina) is equality of treatment to all. The frame work of the administration, consisting of the supreme government, Court of Justice, Sachivas or Amatyas, Mantrins and Mahamantrins. Nagardhyakshas and Baladhykshas all clearly reveal his clear intentions without awarding any favour to a particular group.

It seems apparent that this policy of toleration, without any distinction continued with more vigour during the time of Asoka. It is almost confirmed from various sources that he had almost accepted Buddhism; probably during the 9th year of his religion he himself dedicated to this religion. According to the Rupnath Inscription (Hultzsch - P. 166-7) he began to live with a Buddhist sangh, visited Bodh Gaya (R.E. VII) and the RUMENEN of NIGALT, stupas of the Budh Kanakmuni. It is further corroborated by the Ceylonese chronicle that he was converted to Buddhism by Nigrodh, a boy monk who was just 7 year old and later on came under the influence of Moggalliputta Tissa. (M.V.V)

Though himself converted to Buddhism, he never attempted to impose any sectarian view or belief on others. He all the time attempted to put an

end to such practices which were opposed to the fundamental principles of morality. He believed in the essence of all religions whether Brahmanical, Buddhist or Jain. He himself advocated not to adhere to a sectarian dogma or the performance of a barren ritual. In the Edict VII, there is great emphasis on mastery over the senses, purity of mind, gratitude and steady devotion, In Rock Edict XII Ashoka revered to men of all sects, whether ascetics or house holder. For example he dedicated the Barabar Cave to the Ajivikas who were related more closely to the Jains. According to him, harm to other sects inflicts the severest injury to his own sect. He aspired to become a Chakravarti Dharmika Dharmaraj which is foundduly magnified in Buddhist Pali Sutta as conquering the earth not by chastising rod, not by sword but by reightousness.

Even in the field of art, secular spirit is found widely accepted. The ancient Indians did not hesitate in accepting the Persian style in their own architecture. The Pillared Hall of Asoka seems to be very much resembling with the hundred column. Pillared Hall of Persipolis, built by Xerexes. The supporting figures in the ancient buildings, introduced by the Indians in the form of Atlantes are very much Similar to the supporting stones in the tomb of Darius at Naksha-i-Rustum and the throne room at Persopolis. Lastly the four Caves in the Barabar Hill and the Caves in the Nagarjuni Hill, chiselled out in the quartzite gneiss were very much akin in style with the various Caves dug out in the Iran and Afganistan. The animal mounted Capitals over the monolithic Pillars of the Mauryan times can be very easily compared with the Greek style of figuring animals and beats over the stone. It is clearly evident that the mind of the ancient Indians were never territorial or narrow in approach rather ready to accept any ideas or theme which seemed to them as good and beneficial.

Now let us assess examine the feelings of the ancient Indians while they were engaged in their administration. inside the country, inspite of the fact that there different social groups and divisions in the society the ruling powers used to appoint the Brahmins as Chancellors and their Prime Ministers. For example Ajatsatru appointed Varshkara, Udayan appointed Yaugandharayan, Chadragupta appointed Chanakya, Asoka appointed Radhagupta and so on. There are several other examples to

support this contention. Caste feelings do not seems to be at all dominating in the mind of the ancient Indians.

During the time of the Sunga rulers who came in power after killing Brihadrath, the policy of toleration is again noticed in their day to day policy of the administration. As known from the Puranas and Harshcharit, Brihadrath was assassinated by his own general Pushyamitra during the Military display in probably 184 B.C. It is also confirmed that the Sungas were Brahmins as evident from Paninis statement (Sutra IV and also Karmadeswara, 763). According to Taranath Pushyamitra was a great persecutor of the Buddhists. Probably he went to destroy the Kukkutrama Monastery at Patliputra but the story goes that he was frightened by the roar of a lion. Again on his march to Sakala (modern Sialkot), he destroyed various stupas, burnt the Monasteries and killed the Monks. The first story connected with the action of Pushyamitra at Kukkutrama Monastry where it is said that he had to retreat back due to the lion's roaring is no doubt a nice story but does not convince any scientific thinker that lions used to guard gates of the Monasteries. Secondly in the Punjab region Pushyamitra was dashing desperately against the Bactrian Greeks, namely Menander for overthrowing the foreign power out of the Indian frontier and that time due to political confusion and chaos, some of the monks might have come in the hitlist of the Sunga King. (J.B.O.R.S-1918, P. 263). This view is equally tenable that the Sunga power came on the stage after assassinating the Buddhist patron Brihadrath and this might have annoyed some of the Buddhist establishment and there by they might have been indirectly helping the Greek power Menander, the so called Milind of the Buddhists, who was also a great patron of Buddhism.

Besides when we assess the flourishing condition of Buddhism during the reign of the Sungas, it becomes all the more clear as how far they were tolerant and allowed the Buddhists to develop their centers. There are several living examples to indicate that several Buddhist monuments received very favourable atmosphere for their developments. In Central India, the Bharhut Stupa was erected during the middle of the 2nd B.C. During this very period the well known railing round the Bodha Gaya temple and the pilliars of the Chankrama was erected. The rail pillars was presented by the Queens of Indramitra and Brahimtra. Besides the Sanchi

Stupas were enlarged. stone casing over the dome, faced with concrete, fixing umbrella on its summit, encircling the base, creation of the ground rail and the bars and the coping were all executed during the Sungas. The famous gateways of Sanchi, the gateways in front of the subsidiary Stupa were freely allowed to be built. Besides several Chaitya Halls (Karli-80 B.C.; Nasik-160 B.C. and Bidsa-100 to 200 B.C.) were dug out during the reign of the Sungas. The Bharhut inscription of Dhanbhuti refers the private and royal support to the Stupas of Sanchi and Bharhut (Comp. History of India, PP 99). The above facts do indicated that Pushyamitra Sunga in the early stage being engaged in consolidating his political power, adopted a strong attitude to all those who came on the way but later on did not suppress the development of Buddhism and some time royal support were also advanced to the Buddhist centers.

Under the succeeding political cycle Major portion of north India came under the direct rule of the Imperial Kushanas. This new Central Asian tribe neither being Turks nor Mongols but more akin to Iranians, poured into Indian plains and rolled down up to Patliputra. They were so influenced by the ancient Indian Culture, that both the Kushana family viz. the Kadphises as well as Kanishka all embraced the Indian thoughts and practiced the policy of toleration and secularism. Kazul Kadphises on his coin assumed the title of 'SACHADHARMADHITASU' that is steadfast is true law. He had probably inclined towards Buddhism as on his Coin the figure of Buddha was carved on the reverse. Very little is know. about the religious policy of Wim Kadphises but it is apparent from his Coin having Siva-Nandi that he was a Saiva but was probably liberal and perfectly secular in the policy towards others. Kanishka being the most important ruler of the Kushana dynasty exhibit excellent policy of tolerance and eolocticism towards all. His strong desire was to please all and accommodate all the religion in himself. The numismatic evidences in the forms of his Coins bear OHPO (Mahesh), Nana (Iranian Goddess), CKANDO (Skanda), KOMARO (Kumara), BIZAGO (Visaka), MIIRO (Mihira, Vedic Sun God), MAO (Moon God), OADC (Wind God), ARDOKSHO (Similar to Lakshmi), ATHSHO (Fire God), SHAOPHORO (Female Genius), TEIRO (Archangel), PHARRO (Goddess of Lustre) and the Greek Gods like Zeus, ELIOS, ERAKILO (Heracles), Roma (The city Goddess of Rome), and BODDO (Budha) do

indicate that he had the strongest desire to exhibit eclectic as well as secular attitude towards every faith and religion. R.G. Bhandarker (JBBRAS XX, Page-356 ff) and R.D. Banerjee (The Age of the Imperial Guptas, P. 112) have held that Brahmanism received a set back during the period of the Kushanas but there is no positive evidence to prove that the Brahmanism had ever felt any jerk during this period.

The Epigraphic records to provide ample materials which indicate that the Kushana rulers, particularly Kanishka followed a very liberal policy and never disturbed the Brahmans on any occasion. The Mathura record (Vigel, Catalogue, Mathura Museum- No Q13) of the time of Vasishka, dated the year 24 and the Yupa Pillar from Isapur inform about the continued sacrificial rites for 12 days by a Brahmin of Bharadwaz Gotra. The Badwa Yupas (Epigraphia Indica XXIII, PP 245) records the Triratra sacrifice dated to 237 A.D. The Allahabad Municipal museum Yupa Inscription (E.I.XIV) of the 2nd C.A.D. reveal that seven Yupas for Saptasoma Yajna were erected during the time of the Kushanas. In Udaipur State, a Shate, a Shasthi Yajna by Shaktiguna was performed in 225 A.D. At Vijayagarh in the State of Bharatpur (A.S.I.A.R. 1906-07) Pundarika Yajna was performed. At Nagari in Rajasthan (A.S.I.A.R. 1906-07) Vajpai Yajna was also performed. Besides other evidences are also available which indicate that Brahmanism has a free field and never received any provocation and interference by any Kushana ruler. On the other side the Brahmin priest used to receive gifts which is recorded in the Brahmi inscription (E.L.XXI) assign able to the time of Huvishka. Eleven hundred Puranas were deposited by a foreigner along with two guilds and out of the interest 100 Brahmins used to be fed. The Kshatrap records of the 2nd C.A.D. mentions the dedication to the Brahmanis. The Mat Inscriptions (JRAS 1924, No3, Page 297) records the entrusting of Devakul to the Brahmins and they used to receive grants. The inscription of Ushavadatta (Luder's list No. 10) in the Nasik Cave records the donation of 16 villages to the Gods and Brahmins, and a provision of feeding 100 Brahmins was already made there. Even Divyavadana (Page 620 14) mentions the gift to the Brahmins Mahavastu (Vol. II, Page 91) informs that a Brahmin preceptor was invited for performing sacrifice. According to Mahavastu (Vol. II, Page 245) and Lalitvistara (Vii. Page 120) references of revering Vishnu and Narayan are duly mentioned. The

Satpath Brahmin (II.I.3) Vishnu and narayan used to enjoy the highest position during that period. According to Taranath previously Asvaghosh himself was a devotee of Maheswara before his conversion to Buddhism. Sadharma Pudarika too mentions the name of Iswara and Maheswara. Avadanasataka (XIII. P. 71) and Divyavdana (P.587.13) mentions the name of Janardana. Sankara and the Saptmatrikas. Over the Coins of Huvishk Brahma (No. 282), Indra with Kirti Mukta, Agni with Ayudh Purush, Balrama and Ganesa, Siva-Parvati, Ardh-Nariswara, Vishnu and Saptmatrikas are found well carbed (Vogel; Mathura, Museum Cat.) The above facts to indicate that the Kushana kings allowed full liberty to all the faiths to flourish and practice. There is no evidence coming forth which reflect the hostile attitude of the Kushanas.

Jainism too was allowed the same level of freedom during the Kushana period. Statues of Jain Tirthankaras were widely dedicated. References of individual donors are also available open heartedly donated for the development and expansion of Jainism. The inscription of Maharaj Rajatiraja (D.R. Bhandarkar; VII. PP. 281 ff) records the setting up of an image of Arhar Mahvir. Mahakshatrap Sodasa (E.I.II, P. 199 No. 2) too refers to an earliest dated tablet of homage. The other tablet refers to a circumbulatory path and railing round the Jain stupa. The Jainas were mainly operating from Mathura and they were setting up the statues of Jain Tirthankaras. Tablets of homage and erection of Stupas were the remains of the Jain Arhats. Toleration and broadmindedness were the main streams of the thoughts and policies during the Kushana period.

It is well known that the Gupta Kings were Vaisvavites and the royal insignis was the Garuda standard. They came in power by driving out the foreign elements and established and Indianised type of administration. This was the period between 300 A. D. to nearly 600A.D. covering a vast area of this sub-continent.

इमाम् सागरप्रयन्ताम् हिमवद्-विन्ध्या-कुन्डलाम्
महिम् एकात्र पत्रांकाम् राजसिंहः प्रशास्तु नः (दूतवाक्यम्)

Such a powerful rule had its own option to adopt any policy, but they never annoyed any sect or religion during their rule. The Chinese pilgrims duly supplemented by the Tibetan traditions and archaeological evidences do provide ample materials for throwing light over the religious policy of

the Guptas. Faihan visited Indian in the 5th C.A.D. and he found the Buddhist religion well flourishing. On his way to Mathura he saw countless Monks and Monasteries and the Buddhist Monks used to enjoy great respect. Even the householders used to erect Chaityas and Stupas. According to the Chinese pilgrim Hinyan type of Buddhism was more prevalent and popular while Mahayan form was rearing its head here and there. The Gupta rulers had created an atmosphere of toleration which enabled the Buddhists to revive once again their own architectural activities. They felt unhindered and free in creating numerous centers of Buddhism in the form of Chaityas, Viharas and monastries for retreats. The gigantic Rock Cut Caves at Ajanta, Ellora and Aurangabad do indicate that the atmosphere was undoubtedly fevourable and free from any hindrance. The brick core covering stone masonary of the Dhameka Stupa at Sarnath can be well dated to 350 A.D. The Buddhist temple No. 17 at Sanchi is assignable to 5th C.A.D. The Mahayan Rock cut Caves at Ellora and Aurangabad are the result of the Gupta period. The Viharas No. 6, 7, II, 15, 16, 17, 18 and 20 and the Chaitya Hall at Ajanta were dug out during this period. At Ellora the monastic establishment was well planned and self contained. It appears that during the Gupta period the Buddhist succeeded in creating their own centres in the manner they wanted. Even in the Kashmir region the Buddhists had their own centres and Monastic establishments in a well flourishing state. The excavated site at Harwan, near Srinagar, Ushkar near Baramula do indicate that there were prosperous Buddhist settlements in the shape of Chapel and Chaityas. At Parihaspur, 14 miles from Srinagar remains of Viharas and Chaityas are still surviving. Lalitaditya (724 A.D. 760 A.D.) adopted a policy of impartiality both for Buddhism and Brahmanism. Chankuna, a minister of Lalitaditya erected a central structure and the Stupa (Base 100 ft. high from the ground level). The above evidences do indicate that the Guptas were highly tolerant and broadminded in their policies. The Gupta being in power indirectly helped the Buddhist patronised Universities of Nalanda and Vikramashila in their development. Not only this, even in the field of art and painting the ruling authority never obstructed the art movement of the Buddhists. The painting at Ajanta and Bagh (District Jhabua) Caves are all Buddhists in nature and style and duly flourished in

the Gupta period. Of course on the Coins the Gupta rulers had Lakshmi, Garuda and other symbols attached with the Vaisnava religion but there is not a single evidence to reflect their partial and hostile policy towards any sect and religion.

The general survey of the early historical period does indicate that the spirit of toleration and adjustment were the regular flow in the ancient Indian Culture. If at all, there were few occurrences strong action by the Indian rulers (as in the case of Pushyamitra), they were most probably due to political reasons. One can safely conclude that secularism and liberal spirit seem to be imbibed in the very main stream of the ancient Indian Culture.

●

SECULARISM

Shri Talat Kamal
G.I.S., Varanasi - 7

1. Its origin, Concepts and historical context of its evolution.
2. Secularism as a theory of State evolved in the West in the background of certain historical conditions in Europe. Erastian Concept: heralding supermacy of State Jurisdictionalist Concept Multiple Establishments.

   All religious in a footing of equality but the State, Administering and subsidizing all religions within its jurisdiction.

   Pluralist View of state, and of life based on cultural and religious differences

   Secular State :

   Seperation of religion and State

   D.E. Smith, India As Secular State, 1963,
   Ved Prakash Luthera

   The Concept of Secular State and India, 1964

Religious Neutrality	Dharm
Religious impartiality	Nirpeksh State
Non-demonstrational	
Non-partisan State	

3. Secularism : As a theory and practice of life Radha Krishnan :

   H. N. Roy

   Culture : trichotomy : Ideal, Ideational Sensate
   Culture Dichotomy : Material, Non Material
   Sacred-Secular as aspects of culture and human existence reconciles the contradictions, as aspects of human life :

   Sacred - acceiastorical
   Secular - Wordly
   Secularism as a critique of dogmas and superistition synthesis of material and non-material

4. Aspect of Culture : Nyaya-Vaisesika (Kanada and Gautam) Samkhya School (kapils agnostic naturalism.

5. Are religion and Secularism mutually exclusive /hostile /or mutually helpful and reinforming

   Secularism permeating through society as a 'critique' of life enforcing 'rationality'.

6. In 'Secularism' in India based in certain select elements of science and religious evolving a radical and revolutionary social philosophy based on scientific humanism.

7. Can there ever be a religious view of secularism. Should it be answered in caterogical yes/no terms of a view may be taken to evolve a philosophy of life with greater stress on history (i.e. this Wordly and to the Utter exclusion of other worldly approach.

   But this contradicts Marxian view of 'secularism' as being anti religious.

8. Nationalism : group dynamics centres prephery relation and as majority group expression.

9. Hegelian dialectics or Marxist dialectical materialism or H.N. Roy's restated matrialistic-

   What solutions do these offer ?

10. Buddhists ethics, philosophy and religious with its emphasis on 'Nirwan' symbolises perhaps the importance of history (this worldliness) with 'Nirwan' as other worldly.

    Sacred - Secular reconciles with desirability to stress 'diversity' unfolding in history.

11. Religious view of Secularism :

    Stress on Dynamics of Tradition - Selections I & II Religious View of Secularism

I

There might be numerous interpretations in regard to religious view of secularism. Religion is many and varied and each religion has its mode of thought and rituals - diversity and contemporarity combines with changing and varied emphasis on each. Each tradition possess through a stage of

persistance and change thorough time, and hence, while grappling the problems and exigencies of living on the sharp edge of the present, changes from the past and reformulate itself facing new challenges unfolding it self in future.

Religious tradition, while responding itself to changing reality of a life situation possess through reconstruction and change in this context, sacred-secular dimensions responding to changing reality are not necessarily polar-opposites, nor are traditions and modernity intellectual to each other they stand in humanistic relations denpting continoism-as process and product, as being and becoming in a situation of flux and change.

There are however scholastics polelaics, apologetics, reactioneries and obsecurantists having a remantre view of the past, and there are also those who are modernists believing in the historical dynamics of religious traditions. There have been movements in Hinduism and Islam too. There have been movements known as Bhakti and Sufi spread out to the medieval India with waxing and warning influences having their roots and identity in their respective traditions, the yet proceeding like circles coming nearer and getting aray from each other.

Christianity has been exposed to other influences. Sacred-Secular dimension in every religious tradition grow, evolves and then changes in every culture. These changes seek expression responding to Inter-cultural friability and also at Inter-cultural variability levels. Religion influences and is also influenced by other forces. Sacred-Secular dimension in Hinduism, being itself a parliament of religions has been an evolving complex, may be relatively more responsive to changing historical reality than other religious traditions based on textenal components of revealed books. Islam for instances has been through out the world facing the challenges of changing historical reality. Medieval Islam in India has seen the emergence of Sufi thought and practice, while Bhakti movement in Hinduism has been a liberating influence within the franked of the changing perspective of man, both in the East and the West. Obscurantism fundamentalism and neo-fundamentalism in religion has been as much an historical fact, as perhaps, Islamic modernism and the efflorescence of Islam in various socio-cultural milieu (Geertz, Islam observed, 1968)

despite maintaing its fundamentals. The point at issue is the changing dimension of sacred-secular complex in religious traditions. This aspect of the situation seems as important to consider as modernizing influences in every culture.

Social reform and renovissance in Hinduism reflect the responsiveness to the changing situation. On school of thought (A.B.; Shah and many others) argue that Islam in India did not pass through *renaissiance* as did Hinduism. M.R.A. Baig and Hamid Dalvai hold the view that Islam could not liberalise itself. Hindu Code Bill may be an instance of changing religious tradition coming under the spell of secularization, while Islamic Shakia seems struggling to pass through the same tranmatic experiences, although with jerks and jolts felt on the basic identity complex registering an Identity Crisis M.R.A. Baig takes a position (Baig, Muslim Dilemm, 19) which is not identical with that of Hamid Dalvai but their approach is similar.

II

Secularism as distinguished from a secular state as an alternative theory and practice of life with stress on contemporaneity and the concern for life-here is well pronounced. And life hereafter is completely shaded or overlooked. The sacred-secular dichotomy with religion treating life as a unified whole is pushed to the background. Religious vrs. secular, as mutually exclusive, or antagonistic to each other can also be looked upon a mutuually helpful and influencing each other, if life is taken as a unified whole, and the sacred-secular dichotomy taken as aspects of the same substance become depalarised with life mirroring the unfolding process of life itself. Religion here is taken is functional with instrumental view of culture adjusted to it as materialistic has put it. Culture consists in material and non-material possessions of man. And religion is concerned with life-here and it continues to a life-hereafter, with past persuing the present and unfolding itself into further. If life is taken as consisting in the material and the non-material sides as one integrated whole, Secularism in the words of M.N.Roy may be described as the "liberation of the objective progressive forces from the dead weight of spiritual revivalism, mystic extravagences and religious atavism", and is taken as based on "secular humanist ethics and a revolutionary social philosophy" with human

welfare as a end and as a source of value with man, becoming the measure of all things.

The movement of secularism decayed and lost its independent character no doubt. In India there has never been an independent movement for secularism.

There has however been a movement for nationalism through the efforts largely of the Indian National Congress which can be likened to a *banyan tree* where competing schools of thought political, economic and religious-flourished, with the dominance of one or the other school of thought. Territorial nationalism in India evolved seeking sustenance and support From its history, going back to the hoarz past, imparting Indias nationalism its own identity symbols, as it is necessary to differentiate it from the rise and evolution of nationalism in other historical contexts. Agnostic nationalism itself sought to evolve a philosophical support.

Secularism is identified to a process that mangrates and promotes a critique of tradition moving away and away from tradition as is necessary being exposed to challenges. Tradition can be altered, reshaped, modernised and reformulated with no hope of oblaterating it altogether. So is basic identity-religious or otherwise. But it can be responses to the exigences of contemporary living-making new demands and facing new challenges created by changing situations.

Secularism is both a method, a theory of life and a critical way to approach problems and rise above retualism, superstitions and dogmas. But negation alone does not offer pragmatic solutions. From negation to something positive, the journey becomes difficult.

●

THE MEANING AND FORMS OF SECULARISM : A NOTE

Shri A. K. Saran

The Latin word "Sacculum" is of uncertain origin. According to Scholars it is regularly used in classical Latin to mean "generation", "age", "a long period of time". In Christian usage it came to mean the world as opposed to the church. The *Oxford English Dictionary* records the use of the term "secular" to mean "belonging to the world, as distinct from the church and religion; civil, lay, temporal, chiefly with the negative sence of non ecclesiastical, non-religious, or non-sacred". This usage is found as early as 1290. In a secondary usage of the word, the clergy who did not live in an order but in the world were called secular. Hooker's use of the term in his *Ecclesiastical Polity*, 1597, is a good example of the Christian usage throughout the centuries until recent times: "Religion and the fear of God as well induceth secular prosperities as everlasting blisse in the world to come".

A some what new dimension of the meaning and context of the concept of secularism emerges at the Peace of Westphalia in 1646. In this context, it meant the expropriation of ecclesiastical property for worldly purposes. This usage gradually led, a century later, to the ideal that secularisation is the *rational* and *natural* order of things. It is important to note, however, that all acts of expropriation of ecclesiastical property cannot be regarded as secularisation in the above sense of the term : the acts of expropriation in the time of the Reformation, for example, were intended to renew and reactivate the unity of the spiritual and worldly interests while it is the increasing separation of the two spheres of interest that is one of the most important ideas in the development of the concept of secularisation in modern times.

In fact, secularisation is the other side of the rise and growth of nation-states and modern imperialisms which require autonomy of state-power and increasing extension of its scope and jurisdiction. Consequently, the religious realm and its authority progressively shrink and get confined to the "inner" and private dimensions of man's life.

Political power ceases to be the temporal arm of the Church and prepares to assume, eventually, full sovereignty over the public realm and the "external" life of man

However, the secular idea and the process of secularisation cannot. and did not, stop there: the logic of the idea requires that both the "external" and the "inner" life of man, both public and private realms be ultimately secularised, that is cut loose from their Divine, transhuman, Absolute Centre. A major concern of this essay is to show that once the ideal is accepted and the process started, their dialectic and progress cannot be stopped midway of at will.

Proceeding from this separation between the "inner" and "outer" life of man, which carries within it the possibility of the autonomy of each, the next most significant development is recorded by the *Oxford English Dictionary* in the following definition of secularism which it dates 1851: "The doctrine that morality should be based on regard to the well being of mankind in the present life, to the exclusion of all considerations drawn from belief in God or a future state." The definition reflects the thought of a remarkable man George Jacob Holyoake, Who lived from 1817 to 1906. In the next section of this presentation, I have attempted a systematisation of contemporary thinking on secularism and secular theology in terms of three different but inter-related theories. Holyoake's thinking in the mid-nineteenth century already contains so many basic ideas of all the three trends that I wish to present his ideas in brief before passing on to contemporary thought.

Holyoake was attracted to the views and ideals of Robert Owen, and became a lecturer in the Owenite movement. In 1841 he was the last person to be jailed in England for public blasphemy, and served a sentence of six months. It may in fact have been this experience which led him to describe his position by coining the neutral term "Secularism" in preference to the more dangerous term "atheism".

A clear and enthusiastic account of his views is found in a volume entitled *Christianity and Secularism* (London, 1863). It contains the verbatim report of a public discussion which took place in January and February of that year between Holyoake and an Independent minister. The general question to which the speakers addressed themselves was : what

advantages would accrue to mankind generally, and the working classes in particular, by the removal of Christianity, and the substitution of secularismin its place. The details of this debate are highly interesting but it is not possible to go into them here. However, one must remark upon the prophetic significance of the terms of this debate which were framed so precisely more than a hundred years ago.

Holyoake did not want to be a system-builder. He was not interested in elaborating a philosophically respectable world-view to oppose and replace the Christian one. What he offered was simple maxims and practical guidance. He stated his presuppositions as follows : "We believe in relative truth and discretionary Silence; in Reason as a test; in Science as a power; in service of God he is simply agnostic. Morality he defines as the "system of human duties commencing from man". It is contra distinguished from religion which, for Holyoake, is "that system of hums duties assumed to commerce from God".

A secularist in defined as "one who gives primary attention to those subjects the issues of which can be tested by the experience of this life. The secularist principle requires that precedence should be given to the duties of this life over those which pertain to another world. "Although for the purposes of the debate he insists that he is only claiming precedence for the concerns of this life, it is clear from course of the debate itself that these concerns in practice exclude and render unnecessary any other-wordy theistic system. He adds, "you can not reform the world by a logical *coup d'otat.* You must be content to study men in groups, and meet their states of thought specially and patiently.

The weight of his argument is that attention to temporal things is based upon practical experience of "the living interests of the hour" whereas Christianity is a matter of speculation. The Christianity he wishes to displace is defined as "moulding human duties to suit the prospects of another life." About the use of the Sabbath he writes : "The precept, 'Keep the Sabbath-day holy', we would interpret into keeing it healthfully, usefully, instructively, secularism would take, when necessary, the poor factory-jaded Sunday scholars into fields-that school-room of Nature : It would throw open the Clydo on the Sunday to the Sunday steamer, that the poor Glasgow weaver might gaze on Ben Loomed on the Lord's Day.

It would give the mechanic access to museum, and botanical gardens, crystal places, and even to the theatre on that day. We would do it, because one drama of Shakespeare is a nobler creation than any sermon which was over preached."

In brief, Holyoake wishes to "free the secular sphere......to authorise all men to walk in it without alarm of any kind, like that created by.........many parts of the New Testament..........We should not pray for the people, after the church and dissenting manner– we should seek to help them. We should not send dogma missionaries to the heathen– we should send arts, sciences and instructors," "Leave religious dreamers to wait on supernatural aid– let us look to what man can do for man." "During the prevalence of a pestilonce an hospital is of more value than a college of theologians. "Against the doctrine of "social interposition", Holyoake boldly sets the world of man, guided by what scientific powers he is able to acquire. "Every stick and stone", he says, "every blade of grass, every bird and flower, every penniless man, women, and child, has an owner in this England of ours no less than in New Orleans."

The following quotation summarises Holyoake's views :

The problem solved by secularism is this, that this partially comprehended and unexplored universe is yet, in its material and ascertainable relations to man, a possible theatre of the limitless happiness of humanity-that the light of duty may be seen, that a life of usefulness may be led, indefinite refinement may be attained, and tranquillity in death, and the highest desert in untried existence beyond us may be won, though the Origin of all things shall be hidden from us, and the Revelation of every religious sect shall be rejected.

The great significance of Holyoake's theory lies in its astonishing modernity, one might even say, its uptodateness. Already in this work of 1963, one can find the key ideas of both liberal positivist secularism and Marxist revolutionary secularism. Indeed, even the contemporary radical theological secularism is fore-Shadowed by Holyoake. Further, one can see in his theory, even in the summary from given here, the beginning of a crucial ambiguity from which the concept of secularism has never been free. On the other hand, there is a challenge to Christianity to be central to

man's life here and now, to be a force in the world; on the other hand, secularism is being presented as an alternative world-view which could, and should, replace the Christian, or indeed, any religious or metaphysical world-view. This ambiguity persists up to date. In 1928 the International Missionary Council meeting in Jerusalem reflected this ambivalence very clearly. It was characteristic of the Conference that one speaker should find it possible to say that; "we are agreed on the fact of the opposition of secular civilization to Christianity", and that another speaker should say that, "in many respect secular civilization is a disinterested pursuit of human welfare."

On the one hand Canon Charles Reven said "It will be necessary for us to accept all this rich contribution of this new way of life (secularism).................... Secular civilization has provided a satisfying opportunity for personal development, not only in the pursuit of truth, but also in providing outlets for activities which supply all the values which religion was accustomed to provide.........our problem is to find how Christianity can baptise the new learning and the new social order with the spirit of Christ............."

On the other hand, Rufus M. James in a leading paper on "Secular Civilization and the Christian Task", defined secularism as" a way of life and an interpretation of life that include only the natural order of things and that do not find god, or the realm of spiritual reality, essential for the life and thought", and declared it "a rival movement as powerful, as dangerous, as insidious as any of the great historical heresies."

II

From this brief survey we can see how it was almost inevitable that divergent theories of secularism should develop in the course of modern western history and that one should find a fundamental ambivalence in the contemporary intellectual stance to secularism.

Theories of secularism can be analysed in terms of three concepts : contemporancity, co-existence and autonomy. To these roughly correspond (a) the theological, (b) the political, and (c) the economic-philosophic (or Marxian) levels and contexts of interpretation. It is not

suggested that these represent three distinct and precise meanings or mutually exclusive contexts. This conceptual distinction is simply an exegetical tool. In fact, today the different meanings, uses and contexts of 'secularrism' overlap and interpenetrate most of the time. And hence it is very difficult to avoid mixing up various meanings of the term.

The following analysis of the idea of secularism in terms of the concepts of contemporaneity, co-exitstence and autonomy seeks to show that even in the midst of midst of variety and confusion of meaning of secularism, these is one that remains central.

The term 'secular', as already indicated, is derived from the Latin 'sacculum' which means 'an age', 'an indefinite period of time' or 'the present ago'. To be secular would thus mean to be concerned with one's age or time, and by extension, it will stand for interest and involvement in this worldly affairs, Thus secularism will be contradistinguished from non-temporal, eternal, super mundane or other-worldly interest and affairs. Hence the 'secularism will has often been opposed to the religious or sacred, having from this point of view mainly a negative value. "Secularization, once branded the enemy, has suddenly become the darling of recent Protestant theology and there are strong indications that the more progressive catholic theologian are softening. "We now have serious and respected theologians who expound the "secular meaning of the Gospel", (Van Buren) "Proclaim the death of God" and propagate "Christian Atheism" (Altizer).

The fundamental shift in the understanding of secularism has taken place through an emphasis on the centrality of history ("God acts in history") : secularism has sometimes been defined as "the historicization of man's existence", also through a desire to give to religion and church a contemporary relevance. One can see this clearly prefigured in Holyoake. Secular theologians feel deeply relevant and significant to industrial technological man. Instead of the conventional exclusion of secular (temporal, worldly) concerns from religious life of man and the consequent indifference of the church to it, the secular theologians want the church to be with man in all the spheres of his life and thus be at one with the times (instead of being at odds with it). He, therefore, strives for a reinterpretation of the Christian tradition which will be consistent with

scientific knowledge and the consciousness of 'modern man'. In practical application, therefore, theological secularism is largely a matter of ecclesiastical reorientation and reform. Theoretically,..... though this is scarcely acknowledge........it implies a resacralization of the secular even though it begins with demythologization and desacralisation. Indeed, at the highest level, its logic tends to the identity of the sacred and the secular.

Whether on looks upon secular theology as an attempt to reactivate religion by giving it a total, contemporary meaning, or as a movement away from true religions by reducing it to *modern* (as distinguished from traditional anthropology), it is a *radical* interpretation of secularism. In contrast, there is an approach in terms of co-existence of the religious and the non-religious. In this interpretation secularism mediates between religions. on the one hand, and politics and education (and culture) on the other, Secularization is then seen as essentially the process by which the nature and spheres of politics and education (and culture) are separated from religion and are thus defined and delimited in relation to it. Each sphere can then function freely without interference from religion. It is also to be noted that though education and culture are separated from religion, they are both dominated by politics, this is basically a political use of the concept of secularism since it is based on the separation and balance of powers. This is true whether the relation between the Church and the state is hierarchical or coordinate. The concept of the secular state is belongs here. It may refer to a state that is non-religious in nature with its authority limited to non-religious matters; or, given situation of religious plurality and socio cultural heterogeneity, a state that is neutral and impartial in all religious, cultural and educational matters. In the latter case, the state can hardly be called secular in any specific sense of the term. It may also be pointed out that a religiously neutral state and one that is impartial towards different religions are logically quite different. sociological theories of secularization which treat it as an aspect of increasing differentiation of the social system or those that interpret secularism in terms of open vs closed social system, also belong here. Basic to this whole approach are two ideas : One, that the religions can be effectively isolated from all other spheres of social life, and two, that religion can be a wholly private affair of the individual,. The first is often held to be independent of the second, but this is highly doubtful. To

separate the religious from the social and the public is, in effect, to reduce it to a residual category after the social and the public have been defined independently of religion. The idea that religion is a wholly private affair of the individual is only a positive form of this negative result.

The third use of the concept of secularism is again radical. This use clearly involves the rejection of the sacred, mythological, transcendent world-view and a hierarchical social system and substitutes for it the promise of a fully scientific, humanistic, empirical, relativistic, immaneni-stic, evolutionary, immanentistic, evolutionary world-view; and an "open", "egalitarian" social system. On this view of secularism, the ultimate basis of all authority is historical and "rational", not transcendent, divine or mystical. It proclaims the autonomy and centrality of man (*of Homo faber*, not *Homo religiousus*). In modern times the most systematic, thorough-going and powerful formulation of secularism in this sense is to be found in Marx. All modern philosophy that is not grounded in metaphysics (properly so-called) or in a Revelation has a fundamental kinship with Marx.

The difference between this and the theological theory of secularism arises from the ambiguity of the latter. Contemporainteity means looking at time in terms of eternity, but it could also mean looking at eternity in terms of time. Since the concept of contemporaneity seeks to abolish or transcend the dichotomy of time and eternity, it posits an equational relation between the two. An equation is the temporal expression of an atemporal identity and hence is always inherently ambiguous. that is. it can always be interpreted from the reverse side.

If the religious (sacred)-secular dichotomy is maintained, the third is the fundamental meaning of secularism: all the other meaning that have been mentioned here either presuppose it or logically lead to it. More specifically, the second interpretation (co-existence) cannot be maintained without an eventual acceptance of the third (autonomy) inter-pretation.

It may be useful at this point to recapitulate the argument. First. the dichotomy of the sacred-profane or religious-secular is itself the essence of secularism; for so long as the super ordination of the sacred and the religious is maintained, the reality of the preference, the secular is subsumed under the higher reality of the sacred and the religious is

maintained, the reality of the profance, the secular is subsumed under the higher reality of the sacred and the religious. So the dichotomy can be tenable only if the when this super ordination is rejected, which one would not be justified is doing unless the higher reality of the sacred and the religious were also to be denied. Logically, this leaves us with the religious and the secular (non-religious) as the coordinate spheres. But there are other implications. To make the higher coordinate with what has been lower is to demote the higher and romote the lower. Also, it changes fundamentally the nature of the religious. So it becomes necessary to redefine religion in consonance with the new status of the secular and this already implies the super ordination of the secular. Sociologically different spheres cannot co-exist co-ordinarily (which implies the internal autonomy of each) unless each is subordinate to the common sovereign principle and authority. Since such a principle and authority are not posited in the Co-existence Theory of secularism, religions has to be socially subordinate to the secular authority and its autonomy can be preserved, if at all, in the strictly private world of the individual, if there be such a world.

The contemporaneity theory of secularism, suffers from a fundamental ambiguity built into it by the paradox of the equational relation between eternity a time. This inherent ambiguity of secularism really cuts across our distinction between contemporaneity and autonomy, for now autonomy itself can be one of the two modes of interpreting and understanding the concept of contemporaneity as a theory of secularism. The most crucial issue with regard to man's religious life today is, therefore, between these two alternative interpretations. They may be called the autonomous humanistic and the transcendent radical interpretations of secularism.

The autonomous-humanist interpretation has two main forms : the Marxist and the liberal. Marxism declares the greater glory of man as the goal of human history and is based on the promise of the eventual disappearance of religion not only in its hither to manifested form but also in other future forms like the religions of humanity or scientific religion. To hold that Marxism or Communism itself is a new religions is not really helpful or relevant in this context because either it is a disguised criticism of Marxism-Communism, in which case it has no positive relevance, or it implies a subsumption of religions and non-religion under a single

unnamed category; and this would be quite unwarranted, unless such a category is specified and shown to be logically tenable.

For want of space this form of autonomous secularism cannot be discussed here. Let us, therefore, pass on to the liberal form of autonomous secularism which, again, has two chief variants and examine the other two forms and examine them briefly. One of them has been called Civil Religion of which Robert Bellah has recently given a systematic exposition. The other is called the neo-Episodic theory of progress; Ernest Gellner is its proponent. There is an essential kinship between the two, though they look quite different from each other.

The following paragraphs summarise Robert Bellah's theory of Civil Religion :

> *There seems little doubt that a successful negotiation of this third time of trial-the attainment of some kind of viable and coherent world-order-would precipitate a major new set of symbolic forms. So far the flickering flame of the United Nations burns too low to be the focus of the cult, but the emergence of the genuine trans-national sovereignty would certainly change this. It would necessitate the incorporation of vital international symbolism into our civil religion or, perhaps a better way of putting it, it would result in American civil religion becoming simply one part of a new civil religion of the world. It is useless to speculate on the form such a civil religion might take, though it obviously would draw on religious traditions beyond the sphere of Biblical religions alone. Fortunately since the American Civil religion is not the worship of the American nation but an understanding of the American experience in the light of ultimate and universal reality, the reorganisation entailed by such a new situation need not disrupt the American civil religion's continuity. A world civil religion could be accepted as a fulfillment and not a denial of American civil religion. Indeed, such a outcome has been the eschatological hope of American civil religion from the beginning. To deny such an outcome would be to deny the meaning of America itself.*

Behind the civil religion at every point lie Biblical archetypes : Exodus, Chosen people, Promised Land, New Jerusalem, Sacrificial Death and Rebirth. But it is also genuinely American and genuinely new. It has its own sacred events and sacred places, its own solemn rituals and symbols. It is concerned that America be a society as perfectly in accord with the will of God as men can make it, and a light to all the nations (Bellah 18).

The other form of the humanist autonomous secularism-the new-Episodic Theory of progress-is comprised in the following quotations from Gellner's *Thought and Change* (Gellner, 1965) :

It has been said that what characterized 'modern' thought, in some broad sense in which some tacit underlying consensus can be attributed to the past three centuries or so, is a ideal of progress. Progress is a kind of secularised salvation, taking place in this natural world, and which can be consumated without the world hereby losting its 'natural' status........

The consequence of a belief in progress, in this kind of intramundane destiny of salvation, is that time ceases to be morally neutral. Time could have been said to be morally neutral, in the historic perception of a society, for whom excellence was just as likely to be found in the past as in the future. A society can be said to believe in progress when this symmetry does not obtain, when there is, at the very last, some predisposition to tie up *past* with *bad* (in one word : *back ward*) and future with good (*Progressive*). and extreme version of this outlook would be one which made the future or the direction of change wholly and necessarity good, and at the same time made the past or the 'receding' characteristics altogether and necessarily bad. but milder version of this view. free both of determinism and of a totally unqualified commendation of the direction of change, could still be characterised as 'beliefs in progress'.

In some milder sense at any rate, it seems obvious that European thought since the eighteenth century has come to assume the idea of progress; and, indeed. that the idea has come to permeate ordinary thought and be built into its assumptions and language. This seems true notwithstanding some qualifications, generally concerning self-conscious literary rather than popular thought (e.g. romanticism of the medieval past, or of a supposed noble savage; or cyclical theories of history) and survives even the allegedly more diffused disenchantment and pessimism of our own period. Life has come to be lived

on an upward slope. The nature of things has a bias toward improvement. Improvement is both anticipated and required. This is sometimes an explicit doctrine but generally a tacit assumption, the recognition of a manifest truth......

Progress theories can be subdivided into three species : the Episodic; the Evolutionist; and the neo-Episodic. These are the distinctions we need, and this also is roughly the order in which these species of the theory appeared on the scene.

The earliest are the episodic conceptions of progress which conceive of progress as basically one episode, one transition from one bad set of affairs to one good state-however, large-scale or diffuse that one episode may be-Episodic theorists did not explicitly see themselves as being 'episodic' (and did not use the term). They tended to take the episodic nature of progress for granted. Indeed his 'episodic' nature only becomes manifest when it is contrasted with its successor- *Evolutionist* theories, which conceive progress as a kind of perpetual process.

Episodic theories in general are those which conceive of some specific occurrences as the basis of society. The best known instance of such a theory is of course the doctrine of the social Contract. Sophisticated versions of this theory need not take the 'episodic' aspect too literally : the episodic contract between men and which validates their rights and duties may be conceived as tacit or metaphysical, as reenacted unwittingly by each new born citizen as he comes enjoy the benefits of civil society, or enacted on his behalf by an inner, unobservable, morally better informed doppelganger, etc. (1965 : 3-5)

The weakness of the early episodic forms of theories of progress sprang from the fact that society does not come into being through an episode, even a protracted one : and it cannot be either explained or validated by a model in terms of an episode.

This weakness certainly cannot be urged against to second type of progress theory, which came in during the latter part of the eighteenth century, and was most characteristic of nineteenth century thought : Evolutionist-type theories.

The Evolutionist type of theory does do justice to our sense of historical and social complexity, to our awareness that society cannot be conceived of as an artifact of presocial men, and that hypothetical pre-social men cannot be credited with moral and intellectual attributes which we only find in men-in-society.

Evolutionist-type theories explain and validate society in term of a long-term, indeed permanent and all-embracing **process**, and not a single episode (however large). The permanent process of evolution cannot be treated as another episode, as to speak as one which had grown to enormous pro-portions, and this form a number of reasons : for one, it is not a episode within a wider world, but becomes in effect co-existensive with the world-it is the world (9).

The effective conviction of our time was summed up as the doctrine that a social order is made valid by conducting to or maintaining as industrial society, plus and fact that its members have a common 'nationality'.

An alternative way of formulating this contention is to say that the diffusion of industrialisation carried out by national units, is the dominant event of our time.

This is an, 'episode', however large and fundamental it may be, it is an episode in the philosophically relevent sense that it is an event in a wider world : Literally and conceptually, it is not co-extensive with that world (40).

This then is the third, the 'neo-Episode' way of conceiving progress, and the one which now effectively underlies social thought. It has various, and to my mind, decisive advantages over the pervious to kinds, the (old) episodic and the global-entelechy types-including, incidentally, the advantage of being concerned with something that really happens, and the advantage of already in fact pervading the contemporary social consciousness. It has the advantage over the entelechy stories, that it is concerned with a concrete episode, however, large, rather that with the totality of things. But at the same time, the neo-episodic outlook takes not of- indeed, it *concentrates* on– those very facts which had, above all others, inspired, Evolutionism; the sense and perception of rapid, cumulative change, somehow pointing or seeming to point in some one

direction. Those very changes which originally suggested Evolutionism, which was indeed an extrapolation from them, are the very stuff of that crucial Episode which, on the present argument, is the very proper starting point of social thought; thus, in a way, they are now elevated to an even higher dignity they enjoyed within the Evolutionist schema (42).

The acceptance of this view that new-Episodic conception of progress that underlies current social perception, helps to solve what otherwise seems a paradoxical and contradictory feature of the contemporary world-the fact that we both do and yet do not 'believe in progress'. Notoriously, the classical philosophies of progress are out of fashion and seem irrelevant; but equally and most emphatically life is lived 'on a slope', there is a general demand of sustained improvement, based on the belief that this is possible, and somehow a human prerogative, and that failure to satisfy this requirement is socially pathological. The paradox is not difficult to resolve : we do believe in a specific kind of progress, in the possibility of achieving a full and general industrial society, untarnished by remaining slums in various sense, surviving from the transitional and traditional societies. But we do not believe that the total world history is the continuous story of a collective and total redemption, not are we even particularly concerned with that watered-down version of the older faith in progress the 'perfectibility of man.'

To put this another way : the acceptance of the commended view-or rather its explicit recognition, for we are arguing that this view already pervaded our social consciousness-enables us to avoid the dilemma between millenarian expectations on the one hand and a certain kind of fashionable philosophic conservatism on the other.

Another dilemma avoided by the explicit recognition that we are concerned pre-eminently with progress, but only of specific, episodic kind, is that between "Western parochialism" and the cyclical doctrine of history (leaving aside the false view that we see and should seek no pattern in history at all– the much-of-a-muchness' view). Evolutionist doctriness were and are European-parochial, in their habit of seeing the particular cumulative story of the West as the growth of the education of the human race. Whatever : defects the cyclical doctrines had, this one was not among them : thinkers such as Spengler or Toynbee were never

tempted by variants of the view that Tahitian or Senegalese children had Gauls for their ancestors. Indeed the appeal of cyclical doctrines, apart from sometimes providing for a kind of pessimistic self-titillation, was precisely the range of their horizons their (much vaunted, incidentally) freedom from accidental parochialism. But the price paid for this-price implicit in the very notion of cyclical history, and a price some-times paid with conscious enthusiasm– was the denial of uniqueness to our own time For various quite obvious reasons-type of technology, size of population and organisation, and the nature of the problems engendered by this-our time is in fact blatantly unique. The denial of this is perhaps too great a price to pay for escaping the parochial nature of Evolutionist progress theories. Again, the Episodic notion of progress allows us to retain this uniqueness, by giving us, rightly, a kind of horizontal variant of it, in time, without wrongly claiming it in some kind of vertical, i.e. geographic or cultural sense (48).

It is customary to talk of morals in transition. My view is rather that our morals can find a basis, in as far as they can find one at all, in the transition itself. It is useless to seek a foundation in the axioms of beetle-hood or manhood for we are no longer beetles, and the nature of manhood, happily, is not rigidly determined. It is in understanding transition (as such, in general), and in understanding the specific transition which is our concern and destiny, That we arrive at such premises of our moral judgment as are available to us-for what they are worth : at some knowledge of the necessities and contingencies which surround us, of the range and nature of available alternative". (73-74).

It would be undoubtedly interesting and useful to analyse both these developments of secularism as they impinge on the religious situation in the contemporary world, but this has to await some other opportunity. Our purpose here is to underline some of the major point of Bellah and Gellner and to show their kinship as secular universalists.

Bellah's theory of civil religion centres religion first in American history, and then by the same process extends it to world history. The history of civil religion and, according to this theory, of all future religion, thus become co-extensive with the history of America in the world. The religiousness of all other peoples in the world, followers of a different

traditions, thus becomes automatically involved in, indeed a part of, the American role and destiny in world history.

According to Bellah, the basis of this new unified world religion would be two fold .

(a) Faith in a supranational reality of power.

(b) A symbol-system that would presumably be an interpretation of this supranational reality and would evolve synthetically or eclectically from the symbol-systems of the existing world religions-just as the symbol-system of the present American civil religion has been derived from the Judaeo-Christian tradition.

Let me now point out the close relationship that exist between Bellah's Theory of Civil, Religion and Gellner's neo-Episodic Theory of Progress (and its corrollary, Transitionalism.).

In order to bring out the close kinship between the two let me note, in a summary form, some of their most important differences and similarities.

1.Unlike Bellah, Gellner proposes his neo-Episodic progressism and the ideology of Transitionalism derived from it, not as a new religion but as a philosophy in terms of which religion implicitly becomes obsolete.

2. Accordingly, unlike Civil Religion, Gellner's position is immanen tist and has a positive orientation to time. It does not explicitly being in any transtemporal dimension. It tries (thought not very successfully) to by pass the problem of eschatology which, through Christianity, has been one of the sources of the idea of meaning in human history. And yet like the theory of Civil Religion it is both historical and contemporary. This it achieves through making the concept of Transition central.

On the other hand, we may also note two basic similarities between the theories of Bellah and Gellner :

1. Both have a world-historical (Global) orientation which disregards the existing traditional religions of the world.

2. Both provide a basis for making all religions- natural, super-natural, mystical, transcendental, metaphysical, existential, prophetic, revelatory-marginal to man's life. At the same time, both attempt to

establish a non-religious world-historical task as the *telos* of man's highest life. (In Bellah, the problem is to attain 'some kind of viable and coherent world order'; in Fellner it is the diffusion of industrialization carried out by national units'). In this sense both civil religion and new-Episodic progressism are based on a secular eschatology.

Thus one can see Gallner's theory as a generalization of Bellah's idea which can serve as the philosophical basis of Civil Religion.

This is the stage, I think, to reflect on the nature of the two development of secularism in relation to religion today. If these reflections prove to be sound, they will significantly bear on that other development of secularity, which a little earlier we indicated as a radical movement in terms of contemporaneity and which, I tried to show, it really a move toward a renewal of man's religious life.

With reference to Gellner's theory a general theoretical observation may be in order here. The three species into which Gellner with great penetration analyses the modern progress theory can be further seen as pseudo-creationist, pseudo-metaphysical and pseudo-Christian. Episodic theories of progress are centered in a postulated proto-historical Event which can be seen as the historization of the archetype of God's creation of the world *ex nihilo*. The Evolunist theories are process-centered. The neo-Episodic theory of progress is oriented not to the origin of the universe but to the history of the world. This theory can be seen as the secularization of the Advent and the Christian Kerygma.

In introducing the idea of traditional myths and archetype there is no intention to suggest an analogical correspondence between these archetype view and modern theories of progress. The point rather is to show that the latter are profanations of the corresponding archetypes (Perhaps Gellner himself is aware of these implicit parallelisms, though obviously he does not wish to suggest it. His view of progress as a secular salvation is a good indication of his thinking in this direction).

Apart from the excellent reasons given by Gellner for the failure of the Episodic and Evolutionist theories, one may also remark that the episodic theories of progress are too close to creationism and hence in Europe's flight from the traditional religious world-view, they quickly yield place to the evolutionist theory of an evolutionist theory is a

historical and apolitical, and hence by itself it is not quite consonant with the newly emerging historicist consciousness and secular world-view. Evolutionism has, therefore, to be, conjoined with the idea of natural progress ("the upward slope" in Gellner's illumination phrase) to hold a difficult balance between the eschatological ethos and the Promethean élan of modern European Civilization.

It is this tension within the evolutionist idea of progress that gives rise to the neo-Episodic theory of Progress which tries to overcome it by its promethean elan a secularization of the Advent and the Kerygmatic dimension of Christianity. This must be remembered when one looks at the continued and nearly global success of the "neo-Episodic theory of Progress" first as post-mediaeval imperialism and now as modernization.

This genealogical ideography is intended as a footnote towards understanding the extraordinary strength of the secular idea in the form of recent theories of imperialism and modernization. It should be clear, however, that these analytical parallelisms have no important bearing either one the merit of the three theories of progressism or on the truth of what have been seen here as their archetypes.

Coming to specific reflections, the first observation to make, particularly for an Asian, is that both these developments involve a vision of world-secularism which renders the history and nature of other relations like Hinduism, Buddhism and Islam completely subordinate and to the history of modern Euro-American civilisation. The most crucial point is that the history here in question is not the history of the religiousness of the west. The history to which the theories of civil Religion and neo-Episodic Evolution subordinate and religions and the histories of the non-Western peoples in the history of technology and, at best, the history of the liberal-humanist "ideology". It is certainly not the history of Christianity or of Judaism. the two dominant religions of the west. From this point of view the other formin which secular Christianity has been interpreted today. Viz.. the theory represented, among others. by Van Leeuwen (which I did not have time to discuss even briefly). is *not* such a fundamental challenge to the religiousness of contemporary man. particularly in Asia and Africa- because, in this interpretation of modern secularism, technology and the present dominant role of western history is

interpreted as basically a development from within Christianity. And even though the future history of the world is conceived in terms of the Christianization of the non Western world terms of interpretation, the vision itself, is still religious, whatever, the interpretation, However, the fundamental weakness of this and all such theories at least from a non-westerner's point of view, is that the idea of human unity, which can be meaningful only at the transcendent, transtemporal level is interpreted at a concrete historic level at which it is indistinguishable from universal domination of one group (over the rest). In other words, the idea of a world-religion implied in Van Leeuwen's theory of Christian history compromises the transcendent basis of religion. It seems to me that secularism has somehow got built into his interpretation of the history of Christianity. If this be so, though perhaps I misunderstand him here, it reveals an internal treat to the religiousness of man both in the Christian and non-Christian world.

To come back to our two forms of secularism namely, Bellah's Civil Religion and Gellner's neo-Episodic theory of progress, we may now point out the internal connection between the two in the context of similarities and dissimilarities we indicated a little while ago. In order that the theory of history implicit in Bella's views may be generalised, it is necessary to provide a basis for the American Destiny in terms of which the whole theory of Civil Religion is constructed. And this will involve explaining away traditional religions for otherwise a specific segment of human history cannot be put in the centre of universal history without bringing in a theology of history which the theory of Civil Religion really fights shy of. The evolutionary theory does this task. What the evolutionary theory of religion really implies is that either a sociology or a philosophy of history can replace religion; and this, consistently followed through, leads one to a position similar to that of Marx. The task of the sociology of religion, as it has been developed in the West, it to maintain the dividing line between Marxism and Humanism, thus guarding against a total loss of Christianity or of any traditional religion which Marxism involves. Thus if this depth-analysis is at all sound, a most insidiously dangerous form of secularism in relation to contemporary man's religiousness is the development of a sociology of religion.

What basis do I have for being as critical as I have been throughout of the autonomous, immanentist-humanist concept of man's history ? It is a large and fundamental question and requires a whole paper to itself. Here, I can deal with it only very briefly. The acceptançe or rejection of such a world-view depends, in the last analysis on the presupposed concept of Man. Actually the phrase "concept of man" is misleading. Only if it were possible to conceptualise man, would it be a legitimate question whether it is *homo religious* or *homo faber*, or a social/political/historical men which constitutes the true concept of men, But man cannot be conceptualised because all conceptions come from him and he cannot be subordinated to his own conceptualising power, however high it may rank among his other powers. The question, "Who am I ?", is the only way to put the question of man's identity, for man cannot be objectified or conceptualised. The very form of this question reveals both our infinitude and our finitude; for it is one of those paradoxical questions which must be asked but cannot be answered. The mediator between the grandeur and the misery of man, between his infinitude and his finitude is Tradition in its twin modes : the Transcendent-Spiritual, and the Religio-Historical. This is way neither a Nation State not a World-State not World-History, nothing temporal, nothing that is in principle finite, can be the essence of man's religiousness. Nor, for the same reason, can religion be reduced to Anthropology or Sociology; for to do so would to eliminate the infinitude of man revealed by the syntax of the question, "Who am I ?". Since hope is the temporal expression of this infinitude, the future of contemporary man's religiousness, in the face of some of the major forms of secularity that have been indicated here, lies ultimately only in the hope of renewal of metaphysics (*Sophia Perennis*), Transendent Wisdom, Theology, and sociology must then be fundamentally recast as its formulations and applications at appropriate levels and in contemporary forms.

III

This brief survey of the meanings and forms of secularism has endeavoured to show that autonomous humanism which, in the last analysis, puts man in the center of the universe and makes him the telos of history, is the entral end, so to say, the inevitable meaning of secularism: and that Gellner's neo-Episodic Theory of progress represents a highly

sophisticated form of secularism that is most destructive of all religious tradition, We have tried to show that the co-existence theory of secularism is logically untenable for it already involves a non-traditional definition of religions and, moreover, in practice it necessarily leads to one or the other form of autonomous humanism. This is also true of a for of secularism which India is supposed to have adopted. It is often called *Sarva dharm sambhava*, that is, equivalence of all religions. accordingly, the state does not recognise the pre-eminence of any one religion. It is to be mentioned here that until the constitutional amendment of 1976 which was made during the Emergency period, Omdoa had not been constitutionally proclaimed a Secular State though there have been from the very beginning a number of constitutional provisions and other legislative measures in the direction of secularism. Jurists and social scientists have been divided on the precise nature of the Indian State with reference to secularism. This controversy has, however, been provided in the Constitution : *Sarva Dharma Sambhava* is not the constitutional definition of Indian secularism, though it does represent the most widely accepted view in political circles and is also ravoured by many leading and influential social scientist. It is not proposea to examine here this Indian version of the Co-existence theory of secularism (see however, note 5c, infra). It should be sufficient to remark that equivalence or equality of diverse religious traditions can mean merely a legally and politically postulated equality and hence necessarily limited to a circumscribed domain. From the standpoint of the religious traditions themselves, this equivalence or equality of religions must appear as a legal and political fiction, an "as if". Any such political stance can be very damaging to their inner vitality. If, however, an attempt was somehow made to go deeper into this idea of *Sarva Dharma Sambhava*, it would lead one to the transcendental (metaphysical) unity of all religions. This meaning is, however, wholly incompatible with secularism in any form, and, appearances to the contrary, radically in conflict with any public policy that requires equal support to social expressions of all kinds of religions and indifference to religions as such.

In fact, it is the loss of the esoteric and metaphysical level of religions that might have been a major factor in their decay through sectarianism and eventual emergence of the secular (non religious) world-view. This

brings us once again to the contemporaneity theory of secularism and the notion of "secular theology". It has already been pointed out how the paradoxical notion of a secular theology is founded on the notion of contemporaneity and, we have also argued that it is inherently ambiguous. In concluding this essay, a brief el cidation of this point may be in order.

Concern with the eternal destiny of man should be *via* his life in time : this is the central idea of secular theology. From this perfectly sound idea, it does not follow that eternal truths should be adjusted to changing notions of a given age. It doses follow that the *modern* man is the measure of all things. (To do so is not an application but a perversion of Protogoras profound truth). Eternity is that now to which the past and future are ever present; and this means that the "intrinsic nature of the self is its present contemporaneity with whatever has been or will be" (Coomaraswamy, 1947 : 21). It follows that to be contemporaneous with it, we have to see our age under the aspect of eternity.

The authentic idea of contemporaneity is related to human destiny in eternity, not to man's fate in each age, St. Thomas Aquinas says : "Fate lies in the created causes themselves". The deduction, comments Coomaraswamy, 'will naturally follow that, to escape from fate, to be free, which is to fulfill one's destiny (reach one's destination, man's last end), one must have "denied himself" and passed over from becoming to being (Coomaraswamy, 21).

To make Christianity or Hinduism or any traditional religion, contemporary, "living", "engaged" "forward-looking", "open", etc., means essentially to make it once again "freedom giving" a "liberating force", And freedom really means the possibility that man can escape his fate and realize his destiny. To interpret *Sophia Perennis* as embodies in the Christian tradition in accordance with the notions of modern man (science and technology), to seek for a secular meaning of the Gospel, is precisely to be fatalistic and implies a decision to be less than human insofar as one does not fulfil one's destiny in Eternity. In other words, this elevation of one's temporal fate to one's ultimate destiny signifies precisely the loss of human freedom and dignity. For freedom lies in transcending fate and dignity is striving to be what one is, that is, realizing one's ultimate destiny.

Secular and Radical (Death of God) theologies are not as fashionable to day as they were a decade or so ago. But the kind of intellectual response to the challenge of modernism they represent is not yet obsolete. Of course there are many strands in what may be broadly called secular theology. (In fact, it is often too broad a label). There are elements in different schools of secular and radical theology which are true to the Christian tradition while giving us a contemporary formulation. It is our task to distinguish such formulations carefully and systematically from those that, in effect, seek to "modernise" traditional Christian ideas and principles.

Perhaps it is the modernisation of *Sophia Perennis* that are most dangerous for they are the enemy within. Secular and radical theologies are close allies of Gellner's neo-Episodic theory of progress. As we have already pointed out, the acceptance of this "modern" theory of Progress which claims to be at once philosophical and scientific-technological, would mean the elimination of all religious traditions.

We have already argued that Gellner's neo-Episodic Theory of progress represents in many way the most sophisticated-and fatal-version of the secularist-modernist ideology. There does remain perhaps a redeeming feature: the aesthetic-ironic stance implicit in this theory. We may recall here the ideology of traditionalism proclaimed by Gellner as a corollary to his neo-Episodism: "It is customary to talk of morals in transition. My view is rather that our morals can find a basis, in so far as they can find one at all, in the transition itself. It is useless to seek a foundation in the axons of manhood, happily, is not rigidly determined. It is in understanding transition (as such, in general), and in under standing the *specific* transition which is our concern and destiny, that we arrive at such premises of our moral judgment as are available to us-for what they are worth : "at some knowledge of the necessities and contingencies which surround us, of the range and nature of available alternatives" (Gellner 1965 : 73-74).

The transmutation of "transition"–an ordinary historiographical concept-into an ultimate eschatological category is a tremendous hermeneutic feat: and naturally, I cannot be sure what such a sublimated transitionalism actually means. I must, however, try, It seems to me that

the doctrine announces the glad tidings : The modern Western man has attained the Archimedian point. And accordingly the 'scientific-industrial' 'from of life' invested by these great people is the *ne plus ultra* or History. And looking from this transcendent vantage point it is clear that all other peoples must always be striving to attain to the 'scientific-industrial' 'form of life' without ever coming anywhere really near it. Their is only to seek. never to find. It is their destiny because it is in their nature : human nature being not one but myriad.

The non-Western, non-white people are thus doubly wretched . deprived of their tradition and impelled to uproot themselves from their heritage, their humanity by the force of the basic injunction of contemporary imperialism (alias modernization) viz. thou shall not re-possess thine heritage, they must worship and woo the scientific-industrial form of life. They must not fail to comply; besides, they cannot do otherwise for that is their fate. At the same time, they must never hope to attain it. Indeed, failing to undertake the Gellnerian task with enthusiasm but without hope, we, the LDCS (Lower Division Clerk) of the world, would be guilty of prole tarain hubris for our pseudo-human fate is also our highest destiny.

But again this the only a non-white effort at understanding a superior Western concept– *ex hypothesi* (= *ex cathedra*) a miserable effort, almost guaranteed to fail. However, by way of apology for my effort. let me invite attention to Gellner's own 'highly unsymmetrical' solution to 'the problem of relativism' (the correlate if not the logical basis-of his special theory of transitionalism) :

(a) "But current social thought is not in terms of transition as such but of a specific transition : industrialization (including of course modernization of agriculture). Hence in addition to feature pertaining to transition as such, our concern must be with those arising from the nature of industrialization."

"The most important thing about this transition is that is one way : beetle into man, but never man into beetle. To this extent, a non-differentiating relativism extended to all paths as well as all options embracing all directions under an eqalising cloak simply

cannot apply now-a-days. This path can be trodden in one direction only."

(b) "The philosophical significance of the scientific-industrial 'form of life', whose rapid global diffusion is the main even of our time, is that for all practical purposes it does provide us with a solution of the problem of relativism though a highly unsymmetrical one.

(It is for this reason that no symmetrical solution can be entertained.) The cognitive and technical superiority of one form of life is so manifest, and so loaded with implications for the satisfaction of human wants and needs-and for better or worse, for power that it simply cannot be questioned.

"If a doctrine conflicts with the acceptance of the superiority of scientific industrial societies, Then it really is out. This must not be misunderstood. The cognitive and technical superiority does not imply or bring with it superiority in any other field."

Thus for the non-western side of the doctrine of transitionalism (alias modernization alias contemporary Western imperialism)

What of the Western side of the doctrine which Gellner calls the "legitimating of belief" ? In view of its paradigmatic importance, we will quote at great length : the following section reproduces the concluding part of the last chapter of Gallner's *Legitimation of Belief* (Cambridge, Cambridge University press, 1973), pp. 202-208.

IV

The argument is now complete. We have to make explicit why modern philosophy has been largely about knowledge and why it matters.

Fundamental intellectual endeavour, philosophic thought, starts not form a revelation, or a promise, or a *tabula rasa*. The *tabula rase* is a good methodological devise, but has no relation to a real historic starting point. The real starting point was a justified sense of Chaos, of cognitive breakdown. of course, has there not been a previous more or less viable structure, however question able its bases, there would have been no mind, no anguish, to initiate the endeavour. Thought begins in the collapse of an old order.

But most often, and certainly in this case, the old order was beyond repair. Conservative philosophers are quite mistaken when they preach that the obly salvation is a return to the local 'sources'. They have no good reasons for saying this, other than the argument form total scepticism-because there is not objective independent truth anywhere, the only succour is to be found in an-on going tradition.

But in fact such on-going tradition as this world contains have long been torn asunder by the extraordinary forces which constitute the modern world. They are poor things in any case, and no modern population would consent to live within their walls. The conservative philosopher can only recommend them because what he in fact concretely commends is some modern compromise, containing for of modernity than of tradition, though it may invoke the slogans of the latter. But these compromises are as yet unstable, and we must learn to understand, and as far as possible, to assess them. It would be a total delusion to believe that they possess an inner automatic pilot, 'tradition', to whom their steering can best be assigned. This is pure mythology, the reliance on an empty word.

The truth is the very opposite. Just because there is no safety of solution in the available automation, we must seek, if not some 'absolute' truth, at least an *independent* truth, which is not just an echo of the accidental and interested *status quo* but can offer some genuine quidance. If the truth available is not as perfect-lucid, self-authenticating, luminous-as some philosopher have hoped, and this certainly seems to be so, then we shall have to accept it.

Modern philosophy is a commentary on this shared condition. Our aim has been to make its real context and role explicit. Our condition arises from the simultaneous collapse and the unprecedented growth of knowledge. The collapse meant that we quite literally ceased to know just which world we lived in. It is true that many faiths, both formally organised ones and informally diffused ones, claim to tell us. But their reasoning is circular, self-interested and suspect. We must use some more impartial touchstones of truth. The theory of knowledge has tried to satisfy this need.

At the same time as we discovered that we know so much less than we had previously supposed, we also found that we knew much more. The

miraculous growth of knowledge known as science is notoriously a revelation, a technological cornucopia, a threat and a mystery. How does it really work, what is its price, morally, conceptually, ecologically ?

So the preoccupation with knowledge was and if fed by its ambiguous and meaning abundance in one direction, as well as by the dearth of it in other. The map of our cognisable world has been transformed out of all recognition. To understand this change and its implication is the real problem.

Descrates was right. The re-thinking of our ideas is even more fundamental and important than the transvaluations of values announced two centuries later by Nietzsche. In any case the two tasks must be done jointly. we are bound to reconsider our *morale par provision* and our world *par provision* jointly. We choose our world through a kind of cognitive morale. and our ethics through the kind of concepts which make sense in the world we choose.

Descartes was also right on some points of more detailed strategy. He was right in displaying utmost distrust for the bulk of his own ideas, and to seek salvation in some small sub-set of his ideas which were both his and had a sounder claim to our assent. His way of identifying this subset ('clear and distinct' idea) may not have amounted to much, and his way of finding a warranty for their trustworthiness, to even less. In the three succeeding centuries thought has, it seems to me, made some advances towards identifying and Characterising this trust-worthy subset. Much of the present argument is an attempt to describe this search and its results.

Of course, one must also note that this epistemic quest was enacted twice: first during the classical period of epistemology in the seventeenth and eighteenth centuries, when it was articulated in reaction against the preceding orthodoxies, and the second time mainly is the twentieth century, in reaction against the re-endorsement efforts of the nineteenth. To follow the old aphorism and characterise the first occasion as tragedy and the re-play as farce, would be too harsh; but there is no doubt that there has been some loss of seriousness, reflecting, in part, a certain recovery of consensus and confidence. however ill-codified. This partial recovery has been misinterpreted by contemporary thinkers when they have concluded that the inherited complex of ideas has no case to answer.

when subjected to sustained doubt. Their weakness. over and above specific technical error, has been to feel far too much at home in the world.

For the question concerning its general nature is not a trivial one and has no obvious answer. We have attempted to explore the way in which philosopher thought has tried to answer it, the various intellectual strategies available, their mutual relationships, consequences and options, it is for this reason that it has been concerned with knowledge.

By giving us inherently plausible models of how we can know the world-models plausible normatively, not genetically–it sets the limits to the world. It tells us what kind of world we can be in, it limits the number of possibilities. Our Cartesian starting point was precisely that, quite literally, we do not know what kind of world we are in : all the competing faith-systems inwardly validate themselves in a circular argument, each claiming not merely the monopoly of truth but also of the sources or criterial of truth. This simple little device-capture the wells of truth and starve out all rivals–is of course their central feature, as ideologies. A plague on all their house, but we are still faced with the problem of finding an alternative house to live in. Its identification and justification would seem to raise the insoluble problems of overcoming the regress; who guarantees the guarantors ? Formally, the problem is insoluble. As it happens to be practical and inescapable problem for us– for the traditional norms have lost all authority-we cannot but make do with the best solution available, whether or not is satisfies the strictest formal criteria.

The argument has also highlighted why the solution, at any rate in its general outlines, must be monistic- in the sense of appealing to a limited number of explicit principles, whose inherent plausibility is subjected to scrutiny-rather than to an unbounded and uncircumscribed good sense, built into the supposed tradition, form of life or what not.

What is real nonsense, nonsense on stilts, is the claim that when a culture is subjected to Cartesian doubt, there is no case to answer. The classical theory of knowledge of the seventeenth and eighteenth century formulated the case in a most forceful manner: contemporary dismissals of it are simply parasitic on its achievements. The re-play, the second

coming of epistemological themes in our century, was significantly different despite the formal repetition of theses, not merely because this time it was academic, but also because there was a different opponent : no longer the dogmatisms of the old faiths, but the new faiths of the nineteenth-century positive re-endorsement philosophies-all those systems which sought to recover confidence by seizing the key to the global all-embracing development story. Fascination though these new faiths were, they are not academically fashionable in our time and we have not scrutinished them here, or given them the attention which they really deserve. Today, the critical vision needs to be defended against negative re-endorsers, whose merit is much smaller, but whose contemporary influence is great.

Thus, the effective role of that preoccupation with knowledge which was central to modern philosophy, was not to provide any successful descriptive or explanatory account of the actual processes descriptive or explanatory account of the actual process or mechanisms of cognition, but to codify and justify a new cognitive ethic. It provided a surrogate angel's view point, a way of opting out of the world in order to evaluate it. Whether feasible or not we had and have no choice but to attempt it. Our culture is not a solution, it is a problem. We need some way of looking at it without doing so on its own terms.

No doubt there is *hubris* in this, Karl Marx was amongst those who noticed this. In the most interesting of the *Theses* of *Feuerbach* he observes.

> *The.........doctrine that men are products of circumstance and upbringing and that, therefore, changed men are products of other circumstances and changed upbringing, forgets that Circumstances are changed precisely by men and that the educator must himself be educated. Hence this doctrine necessarily arrives at dividing society into two parts, of which one towers above society......................*
>
> *The coincidence of the changing of circumstances and of human activity can only conceived and rationally understood as revolutionising practice.*

The educator must himself be educated; the criteria which are to guide assessment and change can hardly be drawn from the unregenerate, problematic order. As a formulation of the problem, Marx's aphorism is excellent.

And he is right in suggesting that the typical philosophical response involved a kind of bifurcation, the presumption of attaining a superior, or at any rate external viewpoint. What is less clear is why this should be spurned, and still less clear why he should think that he was in possession of an alternative and better way of solving the problem. Stripped of rhetoric, this alternative merely replaces the old 'kneel and thou shalt believe' by 'indulge in revolutionary practice the thou shall see'. This of course was of the essence of the old re-endorsement philosophies; the supposition that they knew the secret of the global process and of the cognitive activities which were part of it, and be able to identify sound faith in terms of adopting the right stance within that world...........If you do not make yourself such a present of a faith in that vision of the world, however, the procedure can be seen to be blatantly circular.

Since the nineteenth century, the great ago positive to re-endorsement has become negative and shifty, and has altogether declined in quality. Ramshackle reasons are invented for why doubt is unnecessary in the first place. These buttressed an bowdlerised faiths are only unable in conditions of no stress.

In more serious areas, where convictions have to endure genuine stress, a halting, partial, uncodified consensus is emerging, partly thanks to the philosophic work of recent centuries. Our time has tempted us to misinterpret this very partial recovery of confidence as some kind of birthright, and give little thanks to those who have helped bring it about.

If we adopt the simile of shipwreck, we might say that Descartes made the mistake of supposing that, when the old ship sank, a really reliable and seaworthy new one could be found. The truth, there is flotsam floating about, and it does not seem that any one piece of it will carry our weight. But some bits are better than others, and some jointly, when lashed together, will make a passable raft. There would seem to be four such planks in our raft-four elements in the emerging consensus.

There is the empirical insistence that faiths must not fill out the world, but must stand ready to be judged by evidence which is not under their control, which is not pervaded, interpreted by them to the point of being forced to confirm the faith in question. (All systems which do so control their own supply of evidence, their own wells as it were, as use no others, are excluded). It goes further in identifying these extraneous, unsoborned judges as being something reasonably close to the ordinary notion of 'experience' There is no merit in the contemporary exaggeration of the valid point that experience is never pure; indeed it is not, but there are very marked and narrow limits to the extent to which it can be corrupted, and hence a reverence for experience makes an enormous and salutary difference.

Secondly, there is the 'mechanistic', insistence on impersonal, structural explanation. We have of course no guarantee that the world must be such as to be amenable to such explanations: we can only show that we are constrained to think so. It was Kant's merit to see that this compulsion is in us, not in things. It was Weber's to see that it is historically a specific kind of mind, not human mind as such, which is subject to this compulsion. What it amounts to is in the end simple; if there is to be effective knowledge or explanation at all, it must have this form, for any other kind of 'explanation', tied to individuality or idiosyncrasy, is *ipso facto* powerless.

We have become habituated to and dependent on effective knowledge, and hence have bound ourselves to this kind of genuine explanation. It was also Kant's merit to see the inescapable price of this Faustian purchase of real knowledge, and to spurn the cheap in the end unavailing efforts to evade paying it. 'Reductionism', the view that everything in the world is really something else, and that something else is coldly impersonal, is simply the ineluctable corollary of effective explanation. No doubt explanations can and do assume a wide variety of different forms, and are certainly not bound to any crude, simple model of structures built of heavy stuff the anti-reductionists' bogey: but whatever from they take, in as far as they remain effective, they will also inevitable have those morally disturbing traits which are, in the end, inherent in public formulation and repeatability.

It is this publicity and symmetrical applicability of explanation which is really central, which is the key to cognitive effectiveness, and which also exacts its inherent moral, 'dehumanising' price. Properly it is to be contrasted not so much with the absence or suspension of causation–if that were the case, we should not be here to note it- as with the sliding-scale, meretricious styles of thought, within which 'explanation' is linked to a socially specific 'normality', and vacillates between serving this normality by ritually restoring order, and offering explanation in more genuine sense. In traditional 'common sense' anything could as an 'explanation : for this was merely a kind of restoration of the moral order, within a cosy world in which identities and moral norms were linked in a closed circle of definitions. Thus the price of real knowledge is that our identities, freedom, norms, are no longer underwritten by our vision and comprehension of things. On the contrary we are doomed to suffer from a tension between cognition and identity.

Thirdly, there is ironic cultural nationalism-the acceptance of 'forms of life', from styles of food, handshakes and wallpaper to political rituals or personal relationship–but an acceptance which no longer endows anything with an aura of the absolute, but is ironic, tentative, optional, and above all, discontinuous with serious knowledge and real conviction. In this limited sphere of 'culture', relativism is indeed valid. In the sphere of serious conviction, on the other hand, relativism is not and option open to us at all.

Fourthly, there is truncated evolution, the concern, not with the 'development of all things', but with the specific development of the industrial civilization to which we are ineluctably wedded. We tread our way amongst the options that we have in the light of our understanding of the preconditions, alternatives, implication and limitation inherent in this kind of civilization. In simpler words, our serious thought cannot dispense with sociology. This is what remains of the grand systems of the nineteenth century.

These are the four usable planks of our raft. If there are any others, they have entirely escaped my attention.

V

In sum and minus a sophistication of irony, What the special theory of transitionalism (truncated evolutionism, neo-episodic progressivism) means for the elect Euro-American people is that the scientific-industrial form of life is double blessed : no matter how deep and irredeemable the internal contradiction, no matter how MAD its scientific-technological "progress", its "cognitive and technical superiority" (in all history) shall see it through all crises (via balance of nuclear terror, star wars, new ecological technologies, etc.) Western man shall be the master of his own nature and destiny in the name of science and Technology: and of all others (in various stages of progress from beetlehood to putative manhood) in the name of the doctrine of transitionalism.

There are perhaps those who do believe in the divine destiny of man in the knowledge that man is *bodhisattva*, who on pain of excommunication dare see the 'scientific-industrial form of life' as verily the devil's bargain, who indeed, believe that it is already dead, and who in the darkness of this time, are still gives hope. For them there is to two fold task. They have to carefully identify and fight the omnifarious and omnivarous and for forces of the mentality that is based on the imperialist pseudo dogma of the irreversible (and irresistible) progress of modernism ('the scientific-industrial form of life') and the permanent global hegemony of the West, secularism, Transitionalism (neo-episodism), Civil Religion, Secular Theologies, Hindu or Buddhist secularism, historicist *Sarva Dharma Sambhava* are but different manifestation of this mentality and they must, each and all, resisted relentlessly. Their next task is to show that to be contemporary, a religious tradition, be it Hindu, Buddhist, Jain, Islamic or Christian, needs to be *renewed*, and *not* modernised, and that this renewal means recovery of roots, restoration to wholeness, a counter stream journey to the source. Man today stands in supreme and urgent need of Repentence, a radical transformation of awareness. It is only with metanoia that previously "inoperative causes are brought into play with new results." (Coomaraswamy, 56).

LUCKNOW

March 3, 1986. LUCKNOW

APPENDIX

A Note on Gellner's Theory of Second Secularisation

I See Earnest Gellner as a great and rare fugure who has the insight and courage to see the truth straight and unafraid and tell about it unflinchingly : a spade in his analysis and exposition is called a spade. He engages in debate contra some central figures of our age, namely Luding wittgenstein and Edmund Husserl (His polemic with Peter Winch is necessary to his aesthetic-ironic mode of coming to term with his times but his choice of his adversary may well be questioned).

His theory of Second Secularisation show great in sight into the nature of this concept- A constitutive, if not defining characteristic of the modern "world-view" and if effect constitutes a most powerful and definitive critique from within.

The substance of the theory can be stated in Gellner's own words : "The curious fact that the leberswelt, the ordinary world in which we conduct our daily life, should become problematic, is symptomatic of a very important development which could be called the second secularisation. the nation of secularisation normally suggests the elimination of transcendent religious belief, the restriction of the range of belief to this world. But far more important that the amputation, as it were, of such additional, incremental worlds is the transformation of this world itself. In its natural state, so to speak, it is suffused with 'meaning', purpose, sensitivity it speaks, it is human voice; it dovetails into our life, it responds like a person, the price of cognitive advance, of its intelligibility and manipulability, has been its denumanisation. More is involved in this than the exiling of the elfs and spirit that once haunted it. The very idiom in which the world is characterised becomes distinct, not just from the idion in which we might have spoken of the elfs, but also from the way in which we think of ourselves and each other. The languages of cognition and life become distinct : and it is thus that the 'ordinary world', the object of ordinary speech, becomes suspect and problematical" (Earnest Gellner *Legitimation of Belief*, Page 196).

Gellner goes on to argue against Husserl's theory Lebenswelt (Life-world)–a recent favourite of many social scientists-and through it to a critique of Husserl's ethicorational redemption of orisis or European sciences. Herein lies the wider and profound significant of his theory of Second Secularisation.

A generai and special argument can easily be distinguished in Gellner's rather too brief exposition of the concept of Second Secularisation. The general argument is as follows :

Traditional man lived his worldy and historical life in essential, central relation to a vision of the superhuman and supretemporal, the universal, the eternal life : his world represented to him a limited modality of universal possibility and his history the back shining of eternity : he lived in this world but his centre his roots were above, traswordly. This, so long as the spirit of tradition was alive meant not alienation from his world in time and space, the world of his ordinary experience and work and action, but the only way of being internally meaningfully related to it.

The emergence of the secular world and history in European history means (a) negatively that the supra temporal transmundane centre is not necessary to man at all and (b) positively that man can (and ought to) live in this world and this time, with his roots and centre therein, The origin of man will be found in history and his centre, his *telos* in the Future and Above; that there fore the meaning of man's life and human history will be found not in identity of origin and telos (In my Beginning is my End), but in the ever increasing divergence between the past and the future. This new vision of anthropocentric world and futurological history uprooting the hierocentric world and hierophanic history and apophatic teleology was to be underwritten by modern by modern science and technology.

Gellner has argued and entirely convincingly that Reason or modern science can neither itself formulate or underwrite the new anthropocentric world view : indeed it canne handle the task at all for modern science does not concern itself with world-views. As Gellner has pointed out, the scientifically explainable and technically manipulable man is *ipso facto* dehumanised "man", it follows that man's "*human*" existence can only be non-scientific and hence societies, cultures, civilizations in twentieth century can only lean a non-serioud ironic existence. There has

not been and there cannot be a scientific anthropodıcy to replace rejected theodicies. Or in Gellner's words, "Thus the theory of knowledge has come to be the theodicy of science, the justification of the ways of science, to man.* However, if the theodicy of science is not to be reduced to popular science or scientific utopias (or popularisation of science) an apotheosis of science and technology cannot be avoided-but that would be unscientific and anti rational." To see this is best to reflect on that great illusion of the Enlightenment that there is a rational humanist vision, waiting to reveal itself when the knavish anti-vision of the priests and kings has been torn down–the Heavenly City of the eighteenth century philosophers, in Becker's phrase. This was an error. Reason does not produce another, and a rival, total and closed picture, as gratifying for man as the old theological ones (or more so) only upside-down, It produces none at all. On the contrary, it merely eroded the old one. It does not uniquely generate some culture, some style of life, with its system of roles and ranks (though it may indeed be incompatible with most or even all preceding ones).

"A culture, a sartorial, gastronomic, moral style and tradition is indeed adopted and imposed by the normal methods of shared expectation, education, socıal pressure and so forth. But now there is a difference. It is no longer continuous with, possessing the same status as, the best cognitive and productive equipment of society. On the contrary, there is a deep fissure between the two. In a traditional society, the rational of dietary regulation, say, may well come from exactly the same source as the premises governing fundamental therapeutic, political or productive activities, and hence can have similar status. This is no longer so and cannot be so. When serious issues are at stake-such as the production of wealth or the maintenance of health-we want and expect real knowledge. But when choosing our menu, or our rituals, we turn to culture and religion. In the frills of life, we may, and indeed we must, use some culture or other, and select it in some other way. (We must, because our truth no longer generates or selects its own)" Legitimation of Belief. Page 194-95.

"..................our truth no longer generates or selects its own". That is to say that modern science and technology do not underwrite but undermine our truly human concerns- we are not human in so far as we scientific-and we do not direct and take responsibility for modern science and technology for they

are autonomous and self-legitimating. Modern man is committed to live a schizophrenic life in a non-serious, self-mocking culture.

The above analysis shows that only the necessary condition for the secular form of life-namely the undermining of hiero-centric world- was more or less fulfilled : the sufficient condition-the scientific construction of an anthropocentric world view– was never fulfilled for it is impossible of fulfillment. It may be argued that the promise of secularity, modernity, was not the invention or discovery of the rational-humanist scientific world view, but to take man to a new adulthood which enables him to live without a world-view without the crutches or meaning or ultimate telos; on in any case, that "the later the better" evolutionary philosophy of history would give man all support and legitimation be needs.

This has not come about and paradoxically the "scientific-industrial form of life" is neither createt nor legitimated by science. Science, as Gellner forcefully and rightly argues, could not and never take on this job. The "scientific-industrial form of life" is fated over to remain non-scientific : Gellner knows this, indeed he goes further and doubts if today there can at all be authentic forms of life.

. The first or original secularisation thus decisively fails. In one form or another, this grand failure is generally known and acknowledge-indeed in the nearly universal anxiety about the crisis of the modern western civilisation, it is the failure to establish a modern scientific and secular world view and "Form of Life" that is acknowledge.

The failure of the First (or original) Secularisation took the form of betrayal for its negative, destructive work was being legitimated in terms of a double promise : (or a new social contract as Gellner calls it) (a) that man by his own self-mediate enterprise, will become the possessor and master of Nature and History; and (b) that there will grow and be established a new society unprecedented in affluence and power and just and humane and non-exploitative.

The two promises are mutually dependent, the first being the power behind the second and the latter being the justice behind the former. At the same time the promises are mutually inconsistent-even contradictory, for a conquistador anthropology and imperial politics do not make for just and non-exploitative society. (In other words, since the internal telos of

modern science is omniscience and that of technology omnipotence we land ourselves either in complete un-intelligibility-for no human meaning can be given to the ideas of omniscience and omnipotence-or end up with the most tyrannical global imperialism.)

As this has been increasingly realised and the faith in the future, in the scientific-secular exchaton has eroded, man has been left with a schizophernic consciousness, and a congenis of different culture-an altogether insupportable world.

It is this wretched situation following the secular betrayal that has been sought to be redeemed by contemporary thinkers. Broadly there have been the following types of salvation or salvage operation : (a) within cultural pluralism and meaning-relativism; (b) historicist universalism (i) Transcendental Phenomenological (rational-ethical) and (ii) aesthetic-ironical; (c) Marxist-Revolutionery; (d) Transcendental (metaphysical) universalism.

It is the restoration or revalidation job of the cultural and meaning relativist and transcendental phenomenological universalism that would constitute the Second Secularisation. Gellner rejects both the relativist, the universalist and the Marxist soteriologies (he does recognise metaphical universatism) (aeceptic-ironical) as adequate to the salvage operation. In a different context Gellner has refuted peter Winch's culturual and meaning relativism, also Wittgenstein's theory of forms of life as the ultimate given. As the paradigmatic from of Second Secularisation he takes-with good reason, I think–Husserl's salvation enterprise via transcendental phenomenology.

The concept of Lebenswelt (life world) was formulated by Husserl during the last days of his intellectual life (1934-37) in his last great (incomplete) work : *The Crisis of European sciences and transcendental Phenomenology*.[1] It is designed to meet a fundamental theoretic need of

---

1. 'It is incomprehensible how both the historicist universalist of both types and the cultural and meaning relativist salvation or salvage enterprises leave out from the diagnosis of the crisis the imminent nuclear holocause and the deepending ecological crisis, which represent the betrayal of the first promise of modernism and secularism. This enormous simplification has the effect of precluding the necessity of Repentance and Metanois without which the inherant dispair our situation can never be overcome.

his philosophical vocation namely non-traditional, non-metaphysical, non-theological scientific quest apodictic knowledge. It was now becoming clear that his Transcendental Phenomenology, whatever its success in grounding adopictic knowledge, remained a historical. To comprehend historicity Husserl formulated the theory of life-world, so that an objective (and adodictive) science of subjective and historical phenomena may be possible.[1]

Husserl's belated concern with History and his Heroic attempt in the twin context of a crucial gap in his transcendental phenomenology and the Profound crisis in modern European sciences signifying a life-and-death struggle of the European (that is, modern Western, Euro-American Civilization, to integrate history, that is philosophy of history) and phenomenology has been a difficult problem and a challenge for both his followers and critics. It has been held by competent Husserl Scholars that the last great work, *The Crisis in European Sciences and Transcendental Phenomenology* which Husserl saw a "teleological-historical" treatise that in its own right was incompatible with one of the first and foremost principles of phenomenology. This is not the occasion for examining the general problem of the possibility of an apodictic philosophy of history or Paul Recoenr's question which goes to the heart of the issue : "How can a philosophy of the cogito, of the radical return to the ego as the founder of all being, become capable of a philosophy of history ?[2] ? Nor can we take up here the specific question of determining the role of the crisis as a system of teleological historical reflections in redeeming what Husserl calls "The Crisis of European Humanity". Here we can do no more than examine the theory of the life-world as the theoretica basis of redeeming, legitimating, re-establishing the contemporary world left orphaned by the failed first secularisation.[3]

---

1 See this author's "Universalism, True and False" in **Marco Pallis Festschrift** Volume, London, 1985.

2. Paul Ricouer : "Husserl and the Sense of History in Husserl An Analysis of His Phemenology (Evaston) : North-Western University Press, 1967), Page 145. Quoted in David Carr's Introduuction to Husserl's The Crisis of European Sciences and Transcendental Phenomenology (Evaston, North-Western University Press. 1970, p. xxxiv.

3. **The Crisis, Page 127.**

The life-world (Labenswelt) is always "pre-given" and "pre-theoretical"; it is, as Husserl says, "a universe of what is intuit able in principle", "a realm of original self-evidences" Though the concept (of Life-world) is a late one, it is situated in the logical space created by the central phenomenological distinction between the pre-given world of the natural, the commonsensical, the pre-theoretical, on the one hand, and the theoretical, the philosophical, the scientific, on the other. What Husserl means by Pregiven natural, pre-theoretical mode of life can be seen from the following :

"How is the essentially original attitude, the fundamental historical mode of human existence, to be characterised? We answer, men obviously always live, in family, tribe, nation; which are themselves in turn divided, in varying degrees of a complexity, into particular groups. Now natural life can be characterised as a life naively, straightforwardly directed and the world, the world being always in a certain sense consciously present as a universal horizon, without however being thematic as such. What is thematic is whatever one is directed toward. Waking life is always a directness toward this or that, being directed towards it as an end or as means, as relevant or irrelevant, toward the interesting or the indifferent, toward the private or public, toward what is daily required or intrusively new. All this lies within the world-horizon; but special motives are when one who is gripped in this world-life reorients himself and some how comes to make the world itself thematic. to take up a lasting interest in it.[1]

The last sentence marks the transition from the pre-theoretical to the theoretical. The native, pre-theoretical life is not altogether devoid of critical reflection or theoretic orientation : its concern however is praxiological, oriented to given contingent, desecrate ends and not to the one end of attained to an absolute truth, an apodictic certainty.

In theoretical life (or aetheonetical orientation to life) man, says Husserl, becomes "a non-participating spectator, surveyor of the world: he becomes a philosopher"[2] Nevertheless, it is to be noted that it is central to Husserl's phenomenology as developed in the Crisis that the theoretical remains dependent on the naive, the pre-theoretical which always remains

1. **The Crisis, Page 281.**
2. **The Crisis, Page 285.**

prior to it, "the naive, pre-theoretical life is engaged in the world, the milieu and horizon of its activity. The world with which the philosopher, the scientist, attempts to deal is this very life-world, which is always "already there", "pre-given" when theory begins its work. But the world's very pregivenness, the structure through which it envelopes conscious life and provides the ground (Boden) on which it moves, is always pre-supposed by any theoretical activity."

The crucial here is the relation of the theoretical to the pre theoretical. The certain knowledge of the theoretically-known world can be grounded in eidetic constitution; the "pregiven" life-world yet remains outside phenomenology as a "rigorous science". If, however, the life-world is dealt with in terms of transcendental constitution then it no longer can be "pregiven", "pre-theoretical" or naive. Indeed it will cease to be that which is in principle intuitable, a "realm of self evidences". It is this fundamental difficulty that is involved in Gellner's specific objection, namely that the life-world of the contemporary man is already a kind of prepetually doubted and suspended world. So perform a phenomenological epoche with respect to this already consciously problematic world is to raise the epoche to the second power-an operation which has no place in phenomenology and which in any case is either an un-intelligible operation or on wholly infructuous for to bracket the problematic nature of the "life world" of modern man is to abandon it altogether.[1]

David carr makes essentially the same point : "And what of the life-world of those who live in Tradition of Western scientific theory ? Husserl frequently insists that the theories of our scientific culture "flow into" the life world" compounded of such theories, it forms the traditional Boden of both our theoretical and extra-theoritical life and is thus certainly pre-given. But in this case, it could not be described as pre-theoretical. This seems to contrast sharply with repeated description of the life-world as one whose very essence is to envelop or underlie all theoretical interpretations of it.[2]"

In other words, as Gellner points out, the "life-world" of contempoary modern man remains outside the scope of Husserlian phenomenology.

---

1. **The Crisis,** Page XL (David Carr's Introduction).
2. **The Crisis,** Page xii (David Carr's Introduction).

In fact even when one leaves aside the problems of the life-world of contemporary man, one comes up against an infinite regress. The attempt to describe the life-world phenomenological and thus provide indubitable knowledge of it is itself a theoretical activity: as such it must presuppose the structure of a pre-given life-world. But then phenomenology loses its cardinal virtue of being pre-suppositionless. In other words, "Husserl must show how it is that phenomenology can fulfil the telos of all theory without being caught us in its arche, its rootedness in the life-world.[1]"

Husserl has not shown this. And if our arguments so far have been sound, it would be impossible to show that phenomenology or in any other philosophy or science can prove its total independence of its orche. Indeed the distinction which in this case, involves separation between the "pre-given" pre-theoretical and the theoretical already implies the distinction and separation between the *arche* and the *telos*. There are only two ways in which the telos transcends the arche : (a) by a reflexive movement that realises itself in the ineffable identity of the arche and the telos: and (h) by a forward (or, way he, backward) Movement that abolishes. eliminates liquidate the arche. (Neither of these logical alternatives are. strictly. intelligible- each at a different level : If their unintelligivility is seen as decisive, a ambition to achieve apodictic knowledge has to be given up.

Hussels's is a prodigious intellectual feat. Where does it go wrong ? T. see this, let us consider the necessary priority relation between the "pretheoretical" and the theoretical which Husserl himself and most of his commentators see as crucial to the theory of lebenswelt. The priority of the pre theoretical the theoretical, it being "always already there" us, in principle, neither historical nor evolutionary: it is logical even a priori. but not in a vacuous, postulatinonal sense. One could perhaps hear a haunting, subliminal evolutionism in the notify of an absolute logical priority: however, in view of the several anti-evolutionism of Husserlian phenomenology, it is better to reject all evolutionist basis on legitimation of the necessary priority of the life world (the pretheoretical). In consonance with the videtic ambience and the epoche centered method of phenomenology. the source of the Universally necessary or axiomatic priority of the pretheoretical is to be discovered in the self-reflexivity of the human mind. in the enclosely reflective nature of human reason.

---

1. **The Crisis.** Page xiii (David Carr's Introduction).

A fundamental bases of phenomenology is the intentionality of human consciousness, the "Intention" here is used primarily 'n the Scholastic sense of Second intention or concept; in other word, a founding idea of Husserlian phenomenology is the necessary conceptuality of human consciousness. It follows that second intentions (concepts of "objects") to which consciousness at a given level is oriented) can always be made the objects (intentions) of conscieousne, at level n + 1, that is self reflexive consciousness. It follows that he intention (conceptualised object) of the given consciousness is always" pregiven to it. This laid one is an infinite regress. It is not possible here to examine Husserl's way of ensuring that this infinite regress in Idn-vicious. (The difficulty is cruxial for the success of the phenomenological enterprise, the infinite regress of the "pregiven" life-world is only a recurrence of the regress of involved in the method of epoche.)

Here we can only point out that the postulation of a non-conceptional (non-intentional), "pure" consciousness does not meet this difficulty, for this pure consciousness must split, suffer self-alieuation before it can become knowledge bearing. Nor can we resolve the difficulty by positing an independent ontology of the experienced world for that would compromise the primary and independence of consciousness.

It is regressive movement of the epoche making consciousness is carried on relentlessly, the absolute pregiven, albeit, eve illusive, is the self that makes the epoche, and not the world or first order intentions. Indeed this self remains. Prior and absolutely outside the services of intentions. And here problem of a theoretic understanding of the primordial split of consciousness and that of the immense of the absolutely transcendent epoche maker (on the knower of the series of cognitions) coverage.. The pregiveness of the (or life-world) pretheoretical thus is in truth, a forcen, arrested moment of the self-flexive movement of consciousness; and if the movement is not releventlessly continued but kept frozen at a given convenient moment, dilamma, the aporia inherent in the immanence of the arche (origin) and the transcendence of the telos (ultimate goal) cannot be resolved.

It. however, the natural movement and dialactic of consciousness is followed; the movement of the prior self-split which makes consciousness knowledge bearing, would easily appear as the great mystery of world-

creation, it would, in other words, be seen as Val. (Logos) at the pasyanti level where the identity between the know and the known is realized. Pasyonti is, so to speak, the backward movement of the self idmmericl Vak. This self-luminosity is already split : that is by is there Para Vak which is totally Dark.

The problem of the (vicious) infinite regress of the pregiven pretheoretical, the receding Origin (Foucault) can be cogsed with only when, following releutlessly the dialictic of consciousness. we realize that it is not the pretheoretical that is absolutely prior : it is the trans-theoretical that is the a temporally pregiven and it is here that one finds the centre. (or the roots) of theoria and its intentions. It is the aspatial. alemporel Above (urdhvamool).

Husserl was not unaware of this central problem in his phenomeno-logical philosophy of history (of which the theory of life-worlds) is an aspect or so David Carr thinks, who also believes that however intran-sigent the problem is not beyond solution. The present critique following but going beyond Gellner and David Carr. attempts to show that the problem cannot be truthfully grapped which in the frame work of Husserlian thought (not in that of Gellnerion sociology). for these a systems do not advance beyond the ethico-religious (or advancing beyond it, escape the issue at the aesthetic-iromical. It can be cased with. if at all. at the level of traditional metaphysics (which is consistent but not systematic).

I am therefore contexding that Secularism (secularism. secularisation) as a concept and theory is false (in the West as well as in India): as an ideology and policy for India a self deception and exploitation of the Hindus.

The general argument for the untenability and the failure secularisa-tion and Second secularisation that we have given above should I hope show to us conclusively the up great need for overcoming ecularism (particularly in its world forms the non sensical *harmanirpekshta* and *Sarvadharmasambhava*) as also the "scientific-industrial for life' with which it is intertwined.

VARANASI

March 14, 1986

NOTES

1 Report of the Jerusalem Meeting of the International Missionary Council, (March 24th-April 8th, 1928), London, Humphrey Milford, oxford University Press. P. 284.

2 See Arend Th. Van Leeuwen, Christianity in World History New York, Charles Scribner's and Sons, 1946, passim.

3. St. Thomas Aquinas, **Summa Theological** I, 116-2; quoted by Coomaraswamy in **Times and Eternity**, P. 53.

4. On the question of Gellner' s aesthetic-ironic stance, see note 10 *infra*.

5. It is the highly unsymmetrical solution to the problem of cultural relativism that reveals the deeper meaning and demonic force of the concepts of "transitionalism", "ironic cultures" and "second secularization" which effectively articulate Gellner's rare insights into our present predicament, Beyond the atmosphere of surrealistic optimism and the subliminal ideology of a down-to-earth, ironic realism, one has to recognise and face the terrible cataclysm, one has to recognise and face the terrible cataclysmic implications of metamorphic (species) transitionalism which is the truth of all mainstream theories and praxis of modernization and development (and indeed of most dissident. "alternative". "underground" and "liberation" sociologies of modrnization as well ; Marxist theory and praxiology too involve a transitionalism of a Gellnerian kind with the important difference however that its transmutational theory of Revolution is global in scope and implicitly rejects truncated evolutionism in favour of a grand conquistador philosophy of history).

"There Chapter on traditionalism in **Thought and Change** is deliberately titled "Metamorphis" after a Kafka story of the same title. Here Gallner minces no words in telling the truth about evolution. modernization and development :

"There is a celebrated story of Kafka in which a man wakes up one morning to find himself a monstrous beetle. The story highlights the perhaps uncontroversial idea that a metamorphosis of a man into a beetle raises considerable problems, moral ones, problems of self-

identity and self-image. A man-into-beetle cannot happily draw on the moral, conceptual, emotional resources of either man or beetle; the convictions, forms of life traditions, intimations- in whichever medium you care to see your philosophy expressed- of men or beetles are denied him. This is obvious point. It is of course relevant if, as is claimed, a specific but fundamental metamorphosis is both the reality, and the dominant myth, of our time.

"The conceptual and moral problems facing a being in transition do not depend on the direction of the metamorphosis; nothing hinges on the fact that it is one of our king, a man, who is transformed into the alien beetle. The reverse process would give rise to similar problems, though might excite our sympathy less (which, if so, is not to our credit). In fact the crucial transformation of our time is one of beetles (i.e. relatively alien beings and societies) into men(i.e. forms of life akin to our own)" (Gellner ; **Thought and Change** P. 50)

Kafka's story is about man-into-beetle. Gellner uses it in the reverse (beetle-into-man) for he holds that the direction of the metamorphosis is not of the essence with reference to the problematic. one wonders though as a relation metamorphosis is asymmetrical and in any case has theory of transitionalism, Gellner clearly says that metamorphosis transition is a one-way street. The choice of using the man-into-beetle story in the reverse when a Kafka story of beetle-into-man was also available may perhaps be a literary device for heightening the pathos of the predicament of the non-white colonial people (?). It may yet he instructive to ponder the following from "A Report to an academy" a kafka story that may be regarded as a complement to his more famous "Metamorphosis" :

"I repeat : there was no attraction for me in initating human beings. I initated them because I needed a way out and for no other reason. And even that triumph of mine did not achieve much. I lost my human voice again at once; it did not come back for months: my aversion for the Schnapps bottle returned again with even greater force. But the line I was to followed had in any case been decided, once for all.

"When I was handed over to my first trainer in Hamburg I soon realized that there were two alternatives before me : the Zoological gardens or the variety stage. I did not hesitate. I said to myself : 'Do your

utmost to get on the variety stage; the Zoological Gardens means only a new cage; once there, you are done for."

"And so I learned things, gentlemen, Ah, one learns when one has to; one learns when one needs a way out, one learns at all costs. one stands over oneself with a ship : one flays one self at the slightest opposition. My ape nature fled out of me. head over heels and away, so that my first teacher was al most himself turned into an ape by it, had soon to give up teaching and was taken away to a mental hospital. Fortunately he was soon let out again.

"As I look back over my development and survey what I have achieved so far, I do not complain, but I am not complacent either. With my hands in my trousers pockets, my bottle of wine on the table, I half lie and half sit in my rocking-chair and gaze out of the window : if a visitor arrives, I receive him with propriety. My manager sits in the ante-room; when I ring, he comes and listens to what I have to say. Nearly every evening I give a performance. and I have a success which could hardly be increased. When I come home latest night from banquets, from scientific receptions, from social gatherings, there sits waiting for me a half-trained chaimpanze and I take comfort from her as apes do. By day I cannot bear to see her; for who has the insane look of the bewildered half-broken animal in her eye; no one else sees it, but I do, and I cannot bear it. On the whole, at any rate, I have achieved what I set out to achieve. But do not tell me that it was not worth the trouble. In any case, I am not appealing for any man's verdict, I am only imparting knowledge, I am only making a report. To you also, honoured Members of the Academy, I have only made a report." ("A Report to an Academy" in Kafka, franz : Wedding Preparations in the Country and other Stories, Harmondsworth, Penguin Book Limited, 1978, PP. 154-155).

6. Gellner, Ernest : **Thought and Change**, Chicago, the University of Chicago press, 1965, Page 68.
7. Gellner, Earnest, **Cause and Meaning in the Social Sciences.** London, Routledge and Kegan Paul, 1973, Page 71-73.
8. Gellner's choice of the traditional shipwreck figure (and the allied figures of sea ship and raft) presumably in preference to otto Neurath's figure of the leaking ship is profoundly intriguing Gellner

knows that each of the four planks- reformed and enlightened empiricism, impersonal, structural explanations, truncated evolutionism and ironical national cultures - is part of the debris of the new scientific-industrial ship of the nineteenth century and that none of the planks is at all seaworthy- at least not individually. And yet he invests all his faith and hope in the ramshackle raft that he asks contemporary (modern) man to build for his journey to the other shore. It is indeed a rare and curious courage that sustains the hope of ferrying to the other shore in what is virtually a make-believe raft, especially for those who know of the total shipwreck of the Cartesian hope of finding a "really reliable and seaworthy new" ship to replace the sunken ship of medieval christendom.

But whatever may be the basis of hoping that the raft of postulational, and hominem doctrines will carry us across the sea where the ship of Revelatory knowledge (and the most rigorous logic) was wrecked on the rock of Scientific Reason, the greater, heart breaking puzzle in the very choice of the figure of shipwreck in a situation where it is not troubled waters and under sea rocks and tropedos, or oversea bombing that could wreck the ship but the loss of the other shore that robs the voyage itself of all meaning and hope.

9. It is import to note the acknowledged basis of this Gellnerian faith : "We may view traditional societies with nostalgia or disgust : be enchanted by their beauty, or revolted by their cruelty. It does not matter : they no longer present a viable alternative. Any social reasoning must take pace within the framework of this one predictive certainty : but this one predictive certainty, but narrowing the range of social possibilities, does greatly facilitate reasoning...........

"But despite my tendency to scepticism about providentially optimistic philosophies, in this the speeific area I believe that the Real and the Rational do happen to converge Industrialization is good, and industrialization must happen. Industrialization is good, and industria-lization must happen. Industrialisation is good on independent grounds; but it is also good in virtue of being inevitable". (Thought and Change, Page. 68-69). The unacknowledged equation of the rational and the good is a minor difficulty. what is really staggering is the following footnote Gellner appends to this argument :

"The argument, as well as many others in this book, is within the assumption that there will be no major nuclear disaster with an attendant complete breakdown" (**Thought and Change, Page 68**)

What is the nature of this huge assumption ?

A second predictive certainty ?

A historical inevitability or at any rate global trend ?

or would a mere wishful or expedient assumption do ?

10. It my aesthetic-ironical interpretation of Gellner's position warranted ? Some European friends hold it is not, and the following Clarificatory footnote appendee by Gellner to his "hightyunsymmetrical" solution of the problem of relativism (cited here on page 24) would go in their favour : "I hope it is not necessary to guard against the misunderstanding that what is being claimed in some version of a 'racialist' superiority of the societies in which the scientific-industrial form of life emerged. The form of life depends on the social organisation and ethos of the societies in which it occurs, and is manifestly independent of the 'genetic' composition of the population involved." (**Cause and Meaning in the Social Sciences** London, Routledge and Kegan Paul, 1973, Page 77) Earlier in the same book (page 56) Gellner has mentioned 'societies' 'cultures' as the referent of forms of life. The distinction he now makes between 'the form of life and the 'social organisation and ethos' of a society is therfore not easy to understand. Also, the emergence of the 'scientific-industrial form of life' remains a unique, not-repeatable, absolute event in History notwithstanding its **independence** of "the 'genetic' composition of the POPULATIONS involved" and dependence on the 'social origanisation and ethos' of the societies of its origin. But all this is really beside the point : I would stick to my aesthetic-ironical interpretation anyway, for belonging to a people who have been the sacrificial- and pseudo willing-victims of the global diffusion of the 'scientific-industrial form of life', I have to cover up my wretchedness until such time as I experience it as the greatest blessing.

I do not forget the tremendous encouragement implicit in the clear and emphatic assurance that the absolute cognitive and technical superiority of

the scientific-industrial form of life 'does not imply or bring with it superiority in any other field' : only I am unable to imagine what those other fields may be that would be independent of both the cognitive (thought and knowledge) and the technical (making and doing) spheres and yet remain worthy of human endeavour. May be the reference in to ' 'consumers' sovereignty' and the great consumer society. In fact. Gellner does go on to explain that what the cognitive and technical superiority of the modern Western civilization bring along is the possibility no more - of a certain materiel liberation 'On any moderately realistic estimate of human nature, as long as the price of decent behaviour was. in effect. rural self-sacrifice (which was the case in the conditions of scarcity which characterise pre-industrial society). the prospects of decent behaviour were negligible.' But thanks to the cognitive and technical effectiveness of industrial society, the possibility, though no more, is now present.

"The effectiveness of scientific industrial civilization its diffusion are the contral facts of our time. It must be accepted, but it does not uniquely determine the other aspects of our existence. The first task of thought is to understand and perceive the limits within which we operate, and the atlernatives they offer" (**Cause and Meaning in the Social Sciences,** Page 72).

I can see the great consoliation offered in the Gellnerian social-scientific knowledge, namely, that the effectiveness of scientific-industrial civilization "does not uniquely determine the other aspects of our existence": I can also be most grateful for the highly timely reminder that the first task of thought is to perceive and understand "the limits within which we operate": but. once again. I fail to imagine those "other aspects of our existence" that would not be uniquely determined by the cognitive and technical system of industrial civilization just as I cannot think of any "alternatives" that are offered by the very limits within which along we can think and live. do they refer to possible variations and the forms of 'decent behaviour' ? If so. do the forms of decent behaviour include dignity? (The honourable end is the one thing that cannot be taken knoff. Inc.. 1932. Page 104). It does not look like Gellner and could agree with Spengler.

11. I have argued in this essay that the only tenable meaning of Secularism is the radical one which necessarily denies traditional Sophia Pereniss and the truth of all traditional religions. Gellner's neo-Episodic theory of progress together with his theory of Transitionalism and the unsymmetrical solution of relativisim on which it is based embody the irrefutable and unquestionable historical emaning and truth of Secularism, modernism and modernization. (See **infra** Note on Gellner's theory of second Secularisation). The unsymmetrical solution to the problem of cultural relaivism is crucial to the Indian situation for it completely undermines any interpretation of secularism in terms of *Sarva* **Dharma Sambhava** (and the policy of religious toleration based on it) To accept the **Sarva Dharma Sambhava** interpretation of secularism in an honest and consistent manner is to reject modernization itself ; and this involves the notion of an anti-modern secularism which hardly makes sence. Besides, any anti-modernistic interpretation would no be at all viable because modernization is accepted by India even more firmly and unquestionably than secularism in so far as the two are distinguished.

One could argue that accepting secularism as constitutive aspect of modernism, modernization and development does not necessarily require the endorsement of Gellner's neo-Episodism, transitinalism and the unsymmetrical solution to cultural relativism. I submit that it does and the compulsive urge to believe that it does not merely reflects the power of an informalised imperial spirit of modern western civilization.

There are, of course, idiosyncratic, "do-it-yourself" the ories of modernization; and there are those who would permit (programme ?) the blooming of a thousand flowers in the garden of modernisation: All this is simply a new and deadlier form of the modernizing fury: If different native forms of modernization are fundamentally similar, the variety is a huge and wasteful self-deception; and in any case the asymmetry between the original and the copies remains. Or if they are fundamentally different from the original and from each other, they constitute a congeries of absolutes. This gives rise to the well-known contradictions of absolute relativism : a 'highly unsymmetrical solution' being then the only way out (Non- western native forms of modernization many differ fundamentally form the Western original but may be substantially similar to each other.

Such a dualism of absolutes would still be a case of absolute relativism: alternatively there would be continual tension and conflict between the two absolutes punctuated by a series of 'highly unsymmetrical' or imperial. solutions).

The question of an authentically secular approach to religious pluralism needsto be seen in the context of ethnic and socio-culture pluralism. This requires a general theory of tolerance. **Sarva Dharma Sambhava** any theory of religious toleration-would presuppose or lead to it. The question then is : Is a general theory of toleration possible within the framework of secularism-modenism ? In a powerful little treatise. **A Critique of Pure Tolerance** (London, Jonathan Cape, 1969) Robert Paul Wolff, Barring ton Moor Jr. and Herbert Marcuse demostrate, each from a different line of reasoning, that in the existing state of affairs the world over, pure, that is, unconditional all-embracing, undiscriminating tolerance would defeat its supreme telos which is truth or justice. "Like all great social theories", concludes Wolff, "pluralism answered a genuine social need during a significant period of history. Now, however. new problems confront America, problems not of distributive injustice but of the common good. We must give up the image of society as a battle ground of competing groups and formulate an ideal of society more exalted than the mere accetence of opposed interests and diverse customs There is need for a new philosophy of community, beyond pluralism and beyond tolerance" (A Critique of Pure Tolerance, Page 61). Barring ton Moore Jr. shows the need of defending a new the thesis that the "secular and scientific outlook is adequate for both understanding and evaluating human affairs because it is able, in principle, and less frequently in practice, to yield clear-cut answers to important questions" (A Critique of Pure tolerance, Page 65-66). He argues that it is time to throw away the metaphysical crutch and walk on our own legs. "Rather than attempt to revive a dubious ontology and epistemology I would urge that we recognise that God and his metaphysical surrogates are dead, and learn to take the consequences" (Ibid. Page 77). In other words, he argues that there should be not separate general theory of tolerance apart from the one implicit in 'secularism and the scientific outlook'. "Science is tolerant of reason; relentlessly in tolerant of unreason and sham. A flickering light in

our darkness it is, as Morris Cohen once said. but the only one we have, and woe to him who would put it out" (Ibid. Page 91)

The most profound and far-reaching argument against the theory of pure tolerance is presented by Herbert Marcuse who shows that in the present situation in which 'democracy' does not prevail. (ibid. Page 134), general tolerance is bouund to be severely repressive and, what is far more desparate, is a way of co-opting dissent and opposition. "Within the solid framework of preestablished inequality and power, tolerance is practiced indeed. Even outrageous opinions are expressed, outrageous incidents are televised and the critics of established policies are interrupted by the same number of commercials as the conservative advocates. Are these interludes supposed to counteract the sheer weight, magnitude, and continuity of system-publicity, indoctrination which operates playfully through endless commercials as well as through the entertainment ?" (**Ibid**. Page 133). He therefore recommends "the practice of discriminating tolerance in an inverse direction, as a means of shifting the balance between right and Left by restrainig the liberty of the Right. thus counter-acting and pervasive inequality of freedom (unequal opportunity of access to the mean of democratic persuation) and strengthening the oppressed against the oppressor" (**Ibid**. P. 133) His conclusion therefore is : "The tolerance which is the life element, the taken of a free society. will never be the gift of power that be: it can under the prevailing conditions of tyranny by the majority, only be won it the sustained effort of radical minorities, willing to break this tyranny and to work for the emergence of a free and sovereign majority-minorities intolerant, militantly intolerant and disobedient to the rules of behaviour which tolerate destruction and suppression" (Ibid, Page 137).

If this critique of pure tolerance is sound. there can be no alternative to discriminating tolerance and that really means giving up the idea of a secular general theory of tolerance. With reference to the Indian theory of **Sarva Dharma Sambhava,** one can clearly see the dilemma that this as well as any secular theory of religious toleration faces : If the **sambhava** is given its strict, normal meaning and a policy of pure toleration is adopted, then the existing structure of religious domination is strengthened and along with it anti-secular tendencies also gain support. If sambhava is interpreted not in terms of equality but of equalization. and a policy of

discriminating tolerance and weight age is followed, then it would bring about state protection and strengthening of some religions against certain others. In either case the consequence contradict secularism both in theory and practice. This is plainly the Indian reality today. Secularism is axiomatically accepted by almost all political parties, what it means in practice is being pro-Muslim in a major way: pro-Sikh; pro-Buddhist, etc., in a minor way: and being anti-Hindu (for different to Hinduism). This way be good politics. I think it is ruinous and unpatriotic. I may be wrong. What is indisputable is that is wholly contradicts secularism; and this confirms a new what this essay tries to show : secularism has to reject all religion.

The general significance of the critique of pure tolerance more particularly of Marcuse's theory of Repressive Tolerance, is profound and far-reaching. Marcuse shows that the advance industrial societies, based on modern science, rationality and technology, are inherently violent, unjust, untrue and oppressive. Wherefrom, then could the radical minorities, 'militatntly intolerant and disobedientto the rules of behaviour which tolerate destruction and suppression', seek the principles of the new social order that will sustain 'the free and sovereign majorities' in whose name the call to revolutionary practice is being issued ? Wolff shows the need for a new philosophy of community beyond pluralism and beyond tolerance. Could this new philosophy remain rooted in the scientifiic-industrial form of life and yet go beyond tolerance ? Would it not, on the contrary, lead to repressive tolerance, preferable in a most sophisticated form ?

Marcuse, if not Wolff, is aware of the global meaning of his thinking . "It should be evident by now," says Marcuse, "that the exercise of civil rights by those who don't have them presupposes the withdrawal of civil rights from those who prevent their exercise, and the liberation of the Damned of the Earth presupposes suppression not only of their old but also of their new masters" (Ibid. Page 124).

As one of the Damned of the Earth, I am grateful to Marcuse for this insight. What still remains unanswered is the crucial question : Can the new masters be overcome without rejecting the whole ideology of the "'scientific-industrial from of life' ? But this is a question I address to

myself, not to Marcuse. His theory of Repressive Tolerance is not required to answer any such question. The question confronts me and I must face it.

•

NOTE

The main ideas of this essay were first presented in 1967 to my class at Harvard's Center for the Study of World Religions. The same year a revised and enlarged version was given as a lecture at the university of Wisconsin (Kenosha Campus). In 1971 it was presented to a seminar on "Secular and Counter-secular forces in India" convened by the Indian Institute of Advanced study, Simla. A revised but briefer version was published in **Religious Tradition** (University of sydney, Australia) in 1979. Yet another version, further revised and enlarged, appeared in the **Journal of Sociological Studies** (Jodhpur University, India) in 1981.

The present version has been especially revised and considerably enlarged for presentation before the Seminar of "Buddhism, Philosophy and Secularism" held at Varanasi by Sampurnanand Sanskrit Vishwavidyalays in March 1986.

•

ACKNOWLEDGEMENTS

Much of the work, on which this essay is based, was done during my tenure of a visiting Lectureship at the Center for the Study of World Religions, Harvard University. I owe a deep debt of gratitude to Professor W.C.Smith, the Center's Director.

I am indebted to Professor Roand G. Smith on whose excellent account in **Secular Christianity** (New York, Harper and Row, 1966) I have based the historical survey of the concept of secularism given in the earlier part of this essay.

The Text of Dedicatory Epistle comes from Wittgenstein's **Culture and Value** (English translation by Peter winch, Oxford, Basil Blackwell, 1980; Page 77e).

The source of the Epigraph is Jorge Luis Borge's "Tlon, Uqbar, Orbis Tertius" (included in his connection Labyrinths, Harmonds worth, Penguin Books, 1970; Page 42)

For the epilogue the source is Simone Weil :

Selected Essays 1934-43 (London, Oxford University Press, 1962; Page 217).

According to an Albingensian tradition, the Devil seduced men by telling them : "With God you are unfree, because you can do only good. Follow me and you will have the power to do good or evil as you choose". And this is confirmed by experience, for men lose their innocence far more often to the lure of knowledge and experiment than to the lure of pleasure

●

SAMPURANANAND SANSKRIT VISHWAVIDYALAYA, VARANASI

SECULARISM IN INDIA MULTI-RELIGIOUS CONTEXT

Dr. Prabhakar Machwe

Secularism means treating all religions as equal (SARVA-DHARMA SAMA-BHAVA). All great thinkers in modern India advocated tolerance for all religions and not-sectarianism Buddha logically refuted the arguments of other kinds of belief, but never preached exclusivism-Jains, Hindus, atheists, agnostrics all practised their own ways of thinking but Buddha never said that he alone had found the path, and all all other ways are wrong. In the same spirit, the great spiritual teachers who helped national renaissance in India, in nineteenth and twentieth centuries, professed and practiced the brotherhood of man and universalism.

Raja Ram Mohan Roy, the founder of Brahma Samaj, Wrote about his own stand, "The ground I took in all my controversies was not that of opposition to Brahmanism,but to a perversion of it, and I endevoured to show that the idolatry of Brahmins was contrary to the practice of their ancestors and the principle of the ancient and authorities which they profess to revere an obey" (English work, p. 319). In his **Tracl on religious Toleration**. Roy wrote. "We should feel no reluctance to cooperate with them (The christians) in religious matters, merely because they consider Jesus christ a messenger of God and their spiritual teacher, for oneness in the object of religious practice should produce attachment between the worshippers." Roy thought that the original Christian doctrine was later prolluted by "the intermixture of the polytheistic ideas" and "absurd, idolatrous doctrines and practices". According to Ram Mohan Roy – "Different interpretation of the dogmas have given rise to such keen disputes amongst the followers of Jesus. They have not only destroyed harmony and union between one sect of Christians and another, and continue to do so, but in past times have caused continual wars and frequent bloodshed to rage amongst them, more dreedfully then between

Christians and infidels" In 1821. in **The Brahmnical Magazine.** Roy wrote–" Our division of castes............ has been the source of want of unity amongst us".

The other great Brahma Samajist Keshub Chunder Sen criticized seetariestism of Hindus and Christions, in the same manner in no unequivocal terms– "Narrowncess of heart has oftentimes its origin in narrowness of creed. Men hate each other men contaminate their hearts with see arien bitterness, because they believe that there is no truth beyond the pales of their own denominations and churches. The result is that men.............fight each other in the name of religion and God." Sen thought each sect to be like a shop and believed that "no christion nation on earth represents fully and throughly christs idea of the kingdom of God." In 1960, in the sixth one in his twelve **Trects for the times**. Keshub Chunder, declared forcefully. "let seetarienism die out, die a natural death. for the time has come for its deeth."

After the Brahma Samaj, Dayanand Saraswati and his Arya Samaj, opposed sectarianism. He was against idol worship in these words– "the formless supreme spirit that pervades the universe can have no material representation, likeness or image." This had led many to leave all active work and waste away their precious lives. Idol worship leads to inlighting amongst sects. Each sect claims the idol in worship's as superior. –Much money is constructing temple for idols which "leads to poverty and indolence" and "wicked priests indulging in dobauchery and gratification of the beastial appetites." Sects concoct mantrams. mechanic repetition of them does not give God, realization as reacting the word super will not give sweet taste in one's mouth. He opposed caste-marks. special apparel. going on pelgrimeges. wearing rosaries. He also denounced ban on foreign trevel. He opposed Shankar and Ramanuja. Brahmo Samejists and christians. Islam and any kind of Exclusist orthodoxy. Such a retionelist was unfortunetely within a century became another protesting sect of sect of Hinduism. like Kabir Panth.

Annie Besant and her theosophical Society also opposed sectarianism in religion. She propogated that a new attitude of tolerance was needed among the followers of each religion. The querrels and diusons between Hindus. and Hindus and Musilims. and Hindus and Christions should

come to an end. Each had fallen a prey to the believe non-believer distinction. The result was religious strife and national disuncty. In her work **The Birth of New India** (p.32). She wrote "Hindus and Mussalmans, Parsis and Christians– to say nothing of such well marked inter Hindu creeds as Jains and Sikhs– have to be welded into a Nations, and them not be marg once of all the varying beliefs into one, which is impossible, but by the Theosophical recognition of the spiritual unity of all religions, and the blood. Ninded tolerance and mutual respect which grow out of this recognition." Unfortunately thesophical society of India, which once all reated thinkers and activists like Nehru and Krishna Menan, also became a sect, with limited following.

Rabindranath Tagore preached in his 'Religion of Man' a new kind of universalism and international tolerance and peace. Tagore took his motto from upanisads : **Anandem rupam amritain Advaitom is Anandem** : the infinite one is infinite love. He very poetically expresses, "Our individual minds are the strings which catch the rhythnie vibrations of this universal mind and respond in music of space and time. The quality and number and pitch of our mind strings differ and their tuining has not yet come to its perfection, but their law is the law of the universal mind which is the instrument of finitude upon which the eternal player plays his dance-music of creation." (Tagore Reader P. 269). Tagore belived the a fundamental unity of religions. Tagore said that religion should neither be nationalistic nor exclusive, It was "Zarathustra, who was the first prophet who emanicipted religion from the exclusive narrowness of the tribal God, the God of the chosen people and offered it the universal Man." (Religion of man p.79.)

Mahatma Gandhi was a deeply spiritual leader, who crined the word **SARVA DHARMA SAMA-BHAVA** (Regarding all religions as equal)– According to him all human beings are imperfect. All religion created by men, are attempts to becoming perfect. But no one religion is final or 'the last word'. Ramakrishna Paramahansa tried to live in the Muslem and the Christian way of life for some months and ultimately transcended the seetarian ways–He emphasised that "truth is one, wise men call it by different names". Ramakrishna gave ahparable "Call it **Jal,** or **Aab,** or **Poni,** or **water**", its quality does not change. It is the **Vishwa-bhisaia**

(world's medicine), the eternal healer. An entire therapy called water. Theraphy is based on it. **'Aushedham Janhavi Tovam'**

Vinoba Bhave in his autobiogrephied musings- ("Maitri" special commomeration number, edited by Kalindi, in Hindu) rominisees- "I was a rough uncert rock. Shankaracharya save me some staties–Gandhiji cut me into shape. It was left to Jñaneshwara to break it throught and let free the jet of love........" Vinobas father, uncle and mother inlibed in him the deeps love for the universal non-violence, the respects for forents and holy trees and the environment. He learnt that every creation is to be a dedication **(SRIJANA** is complete with **VISARJANA)** as in **Parthivapuja** or Ganeshe-Chaturthi. "I was born a Brahmin. But I renor emed it by curtting the holy tuft (Shikha) and renouncing the **Sutra** (holy thread) I recited the holy Quran and the Bible seven times thoroughly. So my Hinduism was purified prophet Muhamed had said "I can love Abu Bakr more if living one man more then the other is not denied." God does not teach that Louis Pasteur said– I do not want to know your religion, nor your beliefs. I want to know only your sorrows and pains. I want to search its cure.

Buddha precisely started with this quest for the first Arya Satva- 'SABBAM DUKKAM, DUKKAM, DUKKAM.' But before knowing what is real secularism in the Indian context let us examine some definition or religion, given by Indian seeres. Religion in Sanskrit was **Dharma** and Pali **Saddhamma.** For Jains it is **Acharange,** for Islam it is Mazahab, for Sikhas it is Guru **Mata**, for Passis **Asha** or **Arta**, for Japanese it is **Tao**, for the Chinese **Li.**

There is essential unity in the way 'religion' was conceived by man. The three important seat of energy head, heart and hand were the basic starting point of a better and happler way of life.

	HEAD	HEART	HAND
Hellenism	GNOISIS	PIETAS	ENERGIA
Chriatieny	ILLUMINATION	MYSTICISM	CHARITY
Islam	HAQIQNT	TARIQAT	SHARIAT
Hinduisn	JNANA	BHAKTI	KARMA
Jainism	SAMYAK	SAMYAK	SAMYAK

	DARSHAN	JNANA	CHARITYA
Buddhism	SAMYAK	SAMYAK	SAMYAK
	DRISHTI	SANKALPA	VYAYAMA

The Sufi book GULSHAN-I-RAZ said in persian.

SHARIYAT RA SHÄR-E-KHVESH BÄSHAD TARÏQAT RÄ VISAR-E-KHVESH BÄSHAD HAQÏQAT KHOD MAQAM-E-Z-E-U-DÄN BUVAD DÄYAM MINÄNE KUFR-O-ÏMÄN

The **Bhagawat** defined

YOGASTRAYO MÄYA PROKTÄH JNÄNAN BHAKTI SHCHA KARMA CHA

The **DHAMMAPADA** has the same strain–

MANASA SAMVARO SÄDHU, SADHU VÄCHYÄ

SAMVAR SHABDATTHA SAMVUTO BHIKKHU, SABBA

DUKKHA PAMUCHCHATI

Maulana Roumi said the soul is neither intellect nor mere know-ledge, it is neither Tajk no Turkish–

ROOH BÄ AKLA AST O BÄ ILM AST YÄR

ROOH RÄ BÄ TAJÏ O TURK CHE KÄR

HAKIM SINZI, the sufi reiterated

ROOH BA AKLA O ILADANAD JIST

ROOH RA PARSI BA JAJI NEEST

ADI Shankerecharya underlined in "NA VARNO NA VARNÄ SHRAM ÄCHÄRA-DHARMAH, TAD EKO VA SHISHTA SHIVAH KEVALOHAM" the upanishedic tenet–

NAIVA STRI NA PUMAN ESH NA ËHAIV AYAM NAPUM-SAKAH

YAD YACHCHÄRIRAM A DATTE TEN TEN SAMYUJYATE

Muhammed, the prophet in HADIS declared–"As many souls, so are the ways to go to God" (ATTURKU ALLÄHI KAN NUFSU BANI Ä DAM)

St. Angustine had put is so well- "COONESCEDI IGNORARI, IGNORAN DO GOGNESC" (The upaarisad had VITNATARM AVIJÄNTÄM, AVIJÄNTÄM VIJÄNATÄM)

With all this quintessential universalism in all religions and beliefs, the problem remains that what has happened to India, which has officially declared democracy secularism and socialism as its ideal that so many seetarien, fundamentalist, extremist prestures are threatening our body politic and vitiating social fabric was all universalism and co-existence of religions merely out mental construct' ? Has our reason go mixed up with Anti-Reason-Such a strange combination of knowledge an ignorance, scientific analysis and blind superstition is not seen anywhere on such scale.

Buddhism offers Right Path in negating belief in idol-Worship, in caste-system, in priostcrofts, in hoeus-pocus, and mixing private religious belief with political and administrative expediency and policy. Whenever religion is reduced to a tool for gatrering votes or strong-thening one's material position its religious is try becomes questionable. In this encient land, where so many religions peacefully co-existed, why suddenly such a spirit of communal violence, intercaste riots, mutual suspiencion between different faith's has erupted ? Is it due to the fact that the technological advance ad aping of western and alenmodels has its reaction people are feeling that they are becoming uprooted and losing their identity. Is it due to the lack of knowledge of real religion, or with growing consumerism and thingification modern man is in search of his lost soul.

One way at looking at things is that to foster essentials of all major religions, knowledge about the moral preachings of these faiths should be a part of own school and college curricullum. Emparetive religion should be and essential subject in all education institutions which are finenced by different religious trusts, endouments or organzations. In absence of such a programe prejudices and false ideas about other religions then one's own will continue to play young minds. If Buddhism will be rightly propogated in Asian countries, it will be a very noble and non-violent alternative to all other 'fundamentalist' postures.

The dhamma and sangha has to be balanced by Buddhareligion and community by reason.

To be presented by

Dr. P. MACHWE

(N. Delhi)

BUDDHIST RELIGION AND SECULARISM

Dr. T.T. Borale

" All persons are entitled to freedom of Conscience and the right freely to prafess, practice and propagate religion". Under article 25 of the Constitution of India, Freedom of Religion is recognised. Shri Patlabhi Sivaramayya and others wanted to add words" subject to public order, morality and health". On December 7, 1948, Dr. Ambedkar while moving amendment said.

"It is not the purpose to give absolute rights in matters relating to religion. The State may reserve itself the right to regulate all religious institutions and their affairs whenever public order, morality or health require it" (1) With this object in view right enshrined under

Article 25 (2) is regulated or restricted with regard (i) Secular activities which may be associated with religions (ii) Prectice with regard to any (i) Economic (ii) Financial, (iii) Political or any other secular activity.

Providing for social welfare and reform or the throwing open of Hindu religious institutions of a public character to all classes and sections of Hindus including Sikh, Jaina or Buddhist religion.

Every religious denomination or any section thereof under Article 25 subject to public order, morality and health shall have right :

(a) to establish and maintain institutions for religious and charatable purposes;

(b) to manage its own affairs in matters of religion.

(c) to own and acquire movable and immovable property and

(d) to administer such property in accordance with law.

Under Article 27 no person is compelled to pay any taxes for promotion of any particular religion or religious denomination. All minorities based on religion have right to establish and administer

educational institutions of their choice and discrimination be made in grant in aid.

Secularism is not specifically defined in the Constitution though various dictionary meaning pertains earthly matters to this world and this life. Matters regarding next world . uch as heaven or hell or life after death or before birth are excluded under secularism. The premable to the Constitution enunciates the great objectives. The Socio-economic goals for the achievement of which the Indian Constitution has established with a modern political philosophy to secure the good and welfare of the people and basic values like education, employment, health etc. Political democracy will be meaningless without democracy in a poor country like India. Preamble therefore emphasizes that India would be a socialist secular democratic republic based on social, economic and political justice. The words socialist and secular were introduced in the preamble by the 42nd Amendment Act, 1976.[1] Dr. Radhakrishnan explains Secularism in India does not mean irreligion. It means respect for all faiths and religion. About Constitutional provisions it is observed that India being a secular state, there is no state preferred religion as such and all religious groups enjoy the same Constitutional protection without any favour discrimination (2) In order to understand Buddhist Religion and Secularism, it is but natural and essential to have fundamental understanding of Religion and Secularism at least with the background of Buddhism.[2]

Broad Understanding of Religion :

Religion was not defined in a Constitution and it was not susceptible of any regid definition. Justice Venkatrama Aiyar in Narayanan Nambudripad V. Madras (1955) quoted observation of Laudhana C.J. in Adeliade Co. V. common wealth (1943) making reference to S. 116 of the Australian Constitution. (a) It would be difficult, it no possible, to devise a definition of religion which would satisfy the adherents to all the many and various religions which exist or have existed, in the world (i) There are those who regard religion as consisting principally in a system of beliefs or statement of doctrine. So viewed a religion may be either true of

1. C.A.D. Vol. 7, P. 859
2. Dr. Radhakrishnan "Secularism in India" P-127 (1968)

false (ii) Others are more inclined to regard religion as prescribing a code of conduct so viewed a religion may be good or bad. (iii) There are others who pay greater attention to religion as involving some prescribed form of ritual or religious observances–Many religious conflicts have been concerned with matters of ritual or religious observance. The term religion has reference to in Davis V. Benson (1) One's views of his relation to his creater and to the obligation they impose of reverance for His Being and character and of obedience to His will. It is often confounded with cults of form or worship of a particular sect, but is distinguishable from the later. Offerings of food to the idol, another religious practices are regarded, as matters of religion within the meaning of Article (26) (a) Under Article 26(b) a religious denomination or organisation enjoyed complete autonomy in deciding what rites and ceremonies were essential according to the tenets of the religion and no outside authority had any jurisdiction to interfere with their decision in such matters (30)[1]

Bodhisatta Ambedkar in his scholarly analysis of Dhammapada in his Buddhist Way of life (?) sub-divides Dhammapada in thirteen human problems arising in this world as (1) Good, Evil and Sin (2) Craving and Lust (3) Hurt and Ill-Will (4) Anger and Enmity (5) Man, Mind and Impuritis (6) Self-Self-conquest (7) Wisdom, Justice and Good company (8) Thought fullness and Mindfulness (9) Vigilance, Earnestness and Boldness (10) Sorrow and Happiness, Charity and Kindness (11) Hyprocracy (12) Following the Right way (13) Mix not Trust Dhamma with false Dhamma.

He begins with Buddha's first order 'Do good'

( ), commit no sin and be no party to evil

( ). Dr. Ambedkar ends his chapter on Buddhist way of life by following the advice given by Buddha in verses 2nd and 3rd of Lokavaggo [2]

"Arise ; Be not negligent (Uttlitthe nappamjjeyya) walk the good way of the teaching (Dhammam Sucaritam care) One who walks according to

---

1. (1889) 133 N.S. 333
2. S.A.P. Srinivasamurthy V C & H.R.I. & E (73) AAP 375

the virtuous teaching of Buddhahammacari) lives happily in this and in all worlds (2).[1]

BUDDHIST RELIGION

Dr. S. Radhakrishnan translates Dhamma as discipline, law religion and regards Dhammapada is the base of the foundation of religion. In dhammapada, Dhamma means thing or form (Sahhe Dhamma ancetta) 3 or way of life (Dhammaam Care Sucaritam (4).

Dr. Ambedkar it seems did not want that the term 'Religion' be applied to the teachings of Buddha. Buddha's teachings he categorically states as 'Dhamma'. In his Buddhist Bible in Book IV he deals with Religion and Dhamma. He sub-divides the same under four parts (1) Religion and dhamma (2) How similarities in Terminology conceal Fundamental Differences (3) The Buddhist Way of life and lastly (4) 'His Sermons'. The word 'Religion' is an indefinite word with no fixed meaning. According to his conception of religion was never fixed. It has varied form time to time. He gives evolution of concept of Religion

"This is what religion has come to be and this is what it connotes - (1) belief in God (2) Belief in Soul (3) Worship of God (4) Curing of erring Soul (5) Profitiating God by prayers ceremonies. sacrifices etc. (6) He again gives the purpose of Religion and purpose of Dhamma and other aspects of differences including Morality. In the matter of Morality Buddha's morality must be sacred and Universal.

Priyyadarshi Ashoka's Jambudweep datas back when the Buddha was born in the year 563 BC on the Vaishakha Paurnima day at the Lumbini grove. Territory of Ashoka's Jambudweep is located in N.W. India and refer to Greek and Kambooja Subjects of Afganistan. Lord Buddha always risked his life and trained his disciples accordingly for the benefit of majority (Bahujanahitaya) happiness (Sukhaya) economic property (Athaya) Lokanukampaya act of the compassion of all the beings in the world. Buddha sent his missioneries to various parts of India to have economic and social development of the people. Three illustration are

---

1. Commissioner. Hindu Religious Endowment Madras V/s.
Shri Lak Shrudra Thirth Swaminar.
Page 1028-29 Sri Shivanar Mutt (1954) 1005, 54 ASC.

enough to prove (1) Purna of Spara (2) Vijaya for Srı Lanka (3) Bawari for Paithan of Dakshina path or South India. Prosperity of Indian nation and world round even materially was due to the hard efforts put in by our Ancient Buddhists.

ASOKA'S LAW OF SECULARISM

On the basis of the inscription of Asoka, the society may be described broadly as comprising two classes, religious or secular. Asoka wanted to guard interests of all religious sects equally and unpartially through a special department for the purpose. The secular classes are again designated as gahasthas or householders in the Edrcts and Servants and hire.

The R.E. XI ınsists on the acceptance of the law piety which consists :n right treatment to strves and servants, obedience to mother, father etc. by all members of the family, a father, a son, a brother and master (or husband) R.E. XII show same people were well-educated and interested in virtuous activities. Education was not confined to secular subjects but in moral and spiritual spheres as exhibited the kings addresses to Dharma Mahamatres.

The R.E. III states that Asoka preached the lesson of tendency towards smaller expenses (alpa-Vyayata) and towards smaller accumulation (alpa-bhandata) of goods.

Asoka's careful attention to relieve the miseries of orphans (Nathas), old persons (Vudhas) and the poor and the miserable (Kapanavataka) as evidenced by the R.E.V.

The sick people enjoyed the privilege of medical treatment as Asoka established hospitals for the treatment of men and beasts throughout his empire and even abroad.

In S.R.E. II is expressed Asoka's desire that all his people may be united with all kinds of welfare and happiness pertaining to this world-Ashoka took keen interest in economic development of the country. The fact that apananid (drinking places) were established over and above, the wells (udaana) may be taken as indicating that the wells were used also for irrigation The diverse means of irrıgation were utilised in the

Mauryan period for the agricultural development of the land. The Asoka inscriptions refer to a number of towns and cities in India, varied professions, traders and craftsmen like carpenters, goldsmiths, blacksmiths etc.

ASOKA'S DHAMMA

The Dhamma which Asoka wanted to preach among his people by his edicts and other measures was not any particular religious system but it was the moral law, independent of any caste, creed which constituted "The essence of all religions": (R.E.XII page 93) Asoka suggests by Dhamma a new way of life led by the people in general, which is both practical and convenient and moral at the same time. It has two aspect it enjoins on the people a comprehensive code of conduct embracing the various relations of life. It may be analysed as comprising.

(i) Obedience (sunrise) to parents and to the elders, to teachers and superiors etc.

(ii) respect (in R.E.IX) to Gurus.

(iii) right treatment to ascetics both Brahmanas and Sramana (in R.E. IV) to relations to slaves and servants to miserable to the wicked (in R.E. VII) and to friends acquaintances and comrades (in R.E. XIII).

(iv) Liberality to ascetics etc. as above.

(v) abstention from slaughter of living being (in R.E. III) and restrain from injury to living creatures and avoidance of injury to creatures (in R.E.IV).

Dhamma is also positively defined in the following virtues.

(1) Sudhave or vahu/kayane i.e. much good by which Asoka means works of public utility such as he performed personally (P.E. VII) daya or mercy as shown in non/slaughter of animals beings and non-injury to living beings (P.E. II & VII).

(2) Dane or liberality to ascetics and towards friends acquaintenances and relatives and (4) Nadave oh gentle behaviour (in R.E. XIII and P.E. VII.)

Dhamma negatively described as apasinanam or freedom form sin. Other causes like Chaudiya, fierceness, nithuiye (cruelty), Kodhe (Anger) mane (pride) and isya (jealousy) are mentioned.

Dhamma is also described as consisting in cultivation of the following qualities. (a) Satyam truthfulness (b) Saucham (internal and external purity) in P.E.II and VII. (c) Saniyana or self control in P.E. VII (d) Apavyayata and apa-bhandata (moderation in spending and saving) in R.E. III. (e) bhavasudhi (purity of health in R.E. VII. (f) Krtajnata or gratitude in R.E. VII (g) Dradha/ bhaktita (firm devotion) in R.E. VII and XIII. (h) Dharma/rati or interest in morality in R.E. XIII.

Asoka says in the R.E. VI that the welfare of all people (Savaloka hitam) is his chief duty to do and he insists on exertion and the despatch of business (uthanamcha athasamtirana cha).

From the above evidences it is clear that Ashoka practised these virtues in life and wished them to be emulated by his people.

Ashoka did not thrust his personal religion on the people what he was interested in was the improvement of moral conduct of the people dependent in good relationship with all men and hears. He insisted on 'Grhi. Vinaya' the course of discipline of a householder enjoyed in Buddhism. The R.E.IV announces that through the practice of the law of piety on the part of the king Priyadarsi the sound of drum has become the sound of Dharma (bherighosoaho dhammaghoso).

Dr. Ambedkar's Buddhist secular socialism is based on Buddha's declarations and improvements of Ashoka's Buddhist secularism. Entire provision of Tripitaka's specially Dhammapada and Suttanipatta lay the foundation of secularism Apart form the Ancient republics we find Mauryan dyansty specially Buddhist Emperor Asoka plants permanent seeds of secularism or Buddhist law of exploitations through ecolesiastic laws. Buddhist secularism may be compared with natural law based on two sides of human nature, on one hand protect person and property and on the other hand not to disturb peace of the society.

PRE/BUDDHIST PERIOD

The indiscriminate slaughter of animals and the free indulgence in the intoxicating plece of the soma plant associated with vedic ritual involved

the tacit recognition by the Aryan priesthood of many bloody and orgies of the uncivilised people in which human victim were frequently sacrificed. The oppression of Brahmanism made the people sigh for a revolution and the work of the philosophers opened the path to such revolution (2) Dr. Ambedkar States.

Gautama when sat in meditation for getting new light was greatly in grip of the sankhya philosophy. He declared the vedic rights were inefficicacious as they are impure and tainted with slaughter of animals, and that by true knowledge alone could complete emancipation. He prepared the way of Buddhism. Buddhism brought out in the fullest measure the immense potentialities of the nation in all its manifold aspects, science and art, literature and religion, commerce and industry, internal progress and international reputation and last by because no other religion has till this day been able to make India a great nation as Buddhism did.

After strenuous struggle of meditation at Baudha Gaya Buddha obtained Nibban, the complete strength of armoury to fight against the existing evil in order to stop exploitation and solve the problems of miseries arising out of earlier system of priesthood (BRAHMINISM) The basis of secularism lies in his first epic Sermanat at Sarnath and even of conversion of the five Parivrajakas and then directions given to sixty followers at Benaras giving them order.

"Go ye now, O Bhikhus, and wander for the gain of the many, for the welfare of the many out of compassion for the world, for the good for the gain for the welfare of gods and men. His Dhamma was glorious in the beginning, glorious in the middle, glorious in the end, in the spirit andin the letter Bhikhus were asked to proclaim a consummate, perfect and pure life of holiness. For forty five years, Gautama wandered through the Gangetic valley preached benevolence and holy life to the poor and lowly made comments among the high and the low, the rich and the poor, and proclaimed his law throughout the length and breadth of the land.

Essence of Buddhism :

Essence of Buddhism is contained in the Four Truths and the Eightfold Path: The Noble Truth of suffering, the Noble truth of the

Cause of suffering, existence of suffering, The noble truth of cessation of suffering.

The Budhha told that according to his Dhamma if every person followed (i) the path of purity (2) the path of righteousness and (3) the path of virtue it would liking about the end of all suffering.

DR. AMBEDKAR'S DRAFT LOW OF SOCIALIST SECULARISM

In a memorandum to the constitudent Assembly on 5th March, 1947, under the heading of cnstitution of the United States of India, Dr. Ambedkar Provides for socialistic secularsim of the self-Government and good Government.

(i) to maintain the right of every subject to life, liberty and pursuit of happiness and to free speech and free exercise of religion.

(ii) to remove social, political and economic inequality by providing better opportunities to the submerged classed and

(iii) every subject to enjoy freedom from want and fear. The memorandum though consists of two articles. Second consists, of section (a) Fundamental Rights of citizens (b) Remedies against invasion of fundamental rights (c) provisions for the Protection of minorities and section (d) is regarding safeguard for the scheduled Castes

Buddhist principles sought to understand the basic needs of all human beings. His basic principle is based on the very fact that hunger is the first disease, and therefore, satisfaction of hunger is the basic necessity as stated in Dhammapada Jigatsa Parama Roga, Sankara Parama Dukha. By some scholar Jigatasa is also interpreted as 'poverty' in addition to 'hunger'. In order to remove poverty in India, Dr. Ambedkar suggested in his memorandum.

(i) Key industries shall be owned and run by the Government.

(ii) As 80 percent of our people are subsisting on agriculture Dr Ambedkar suggested (a) agriculture shall be state industry (b) the land shall be let out to villagers without distinction of caste or creed and in such a manner that there will be no landlord. no tenant and no landless labour.

(3) Discrimination against citizens by Government officers in public administration or by private employees in factories and commercial concerns on the ground of race or creed or social status shall be treated as an offence.

The foundation of Modern Indian Buddhism lies in a conflict between higher caste Hindus and the former untouchables when the oppressed people were not allowed to draw water from the tank at Mahad. Dr. Ambedkar has a satyagraha in 1927. They were assaulted and the judgemant is given by the High Court of Bombay "It is the fact admitted that the untouchables never used the chondar tank before the year 1927 when a compaign against the doctrine of untouchability was carried on by defendant No. 1 (Dr. Ambedkar) and some of the untouchables, went and the drank the water as protest. They were assaulted and beaten up by the caste Hindus and there were criminal prosecution

Dr. Ambedkar's some extract of the speech

The so-called caste Hindus are bitterly opposed to the Panchamas. The aim of abolishing untouchability alone without trying to abolish the inequalities inherant in the caste system is a very low aim. The object of the conference was the assertic of the equality of rights. Dr. Ambedkar compared the conference to the historic connection of the French revolution of versailles of 5th May, 1789 and declared that the uplift of the untouchables was the uplift of the nation. The untouchables wanted to abolish of Varnashrana and desired to lay down the principle that the rights, responsiblilities and the status shall be determined not by the accident of birth but merit alone. The untouchables aimed a great social revolution. Mr. G.N. sharsrubaddha a Brahmin read extracts from Manusmriti, related to the treatment to be meted out to sudra. The ceremony burning the said smriti took place. This then followed Nasik temple satyagraha. When found that Hindus are indifferent he then declared at Yeola that though he is born Hindu he will not die as Hindu and ultimately took Deeksha of Buddhism on 14th October, 1956. He first took Deeksha from Most elderly Bhikhu Chintamani and then he administered to all five lakhs of followers twenty two vows.

Traditional Buddhist Vows :

(1) I will abide by the eight fold path told by the Buddha in my life.

(2) I will act upto the parmitas told by the Buddha.

(3) I will be kind to all creatures and will foster them.

(4) I will not commit theft.

(5) I will not speak untruth.

(6) I will be chaste in my life.

(7) I will combine my life wisdom, good, conduct and compassion the three main principles in Buddhist teaching.

(8) I will not take intoxicated liquors.

(9) I regard chaturvarnya and division into castes as baseless.

(10) I regard human beings as equal. I will strive to treat them as equal.

Vows About God

(1) I will not recognise Vishnoo, Mahesh as Gods and worship them.

(2) I will not recognise Rama, Krishna as Gods and worship them.

(3) I will not recognise Gauri, Ganpati etc. or any other deties of the Hindus.

(4) I do not believe in the theory that God incarnates himself.

(5) That Buddha was an incarnation of Vishnoo is according to me a mischievous propaganada. I denounce it.

(6) I will not do shradha or paksha.

(7) It will not get my kriya karma done at the hands of a Brahmin.

(8) Today I renounce Hinduism which treats human being as unequal and mean and is thus detrimental to the growth of human beings.

(9) I will not do anything Contrary to the teaching of the Buddha.

(10) I am convinced that buddhism is the only true dhamma.

(11) I take vow that hereafter, I will act according to the teaching of the Buddha and ultimately.

(12) I am reborn today.

These vows are given by the Bodhisattva Ambedkar is known as Dhammadeeksha given on Ashoka Vijayadashmi on 14th October 1956. This is the epoch of modern Buddhist history. Again summarised Tripitaka in modern way is written by Dr. Ambedkar in His Buddhist Bible–Buddha and His Dhamma–Published by the Siddharth Publication. This modern Buddhism of today Dr. Ambedkar's entire life struggle was for the mankind, man's happiness and dignity. His entire historical work is for the improvement of majority people of the national. It is on total dismay that New Buddhists of Maharashtra lost their political rights and jobs, in Article 25 declares Hindu includes Buddhists, Sikhs and Jains. Sikhs and Jains. Sikhs are getting benefits whereas Buddhists from Maharashtra have been denied the facilities which they were enjoying before Deeksha.

Rev. Dhammaputa states about Buddhist atrocities. "It was undersirable to have atrocities on Buddhists of Marathwada affecting 330 villages, 2,400 families, 15250 persons loss of property, houses and over and above, breaking the photos of Dr. Babasahed Ambedkar. It is surprising that even the statutes of Lord Buddha have been broken which according to the Indian history is unknow. Breaking the statues of Buddha is a blot in the history of religious harmony in our country. I hope this will not be repeated.

Genisis Of Indian Modern Buddhism :

"In the present condition of the world, I have come to the conclusion that the conflict will ultimately be between the Gospel of the Buddha and the Gospel of Karl Marx". It is form the point of view. that I have been attracted by Japan by China and by other eastern countries. Religions other than Buddhism concentrated on the problems of the souls of worship. But Buddha said such discussions are unprofitable. Nobody can prove the existence of the souls. I am concerned with man I am concerned with establishing righteousness between "man and man"

With Buddha salvation means Nibbana and Nibbana means control of passions. In Suvarnap-rabhasottama Sutra it is stated that Raja/satra (science of Govt.) is said to promote the welfare of all beings (2) Buddha refers to the treatment of employees. By assigning them work according to their strength, by supplying them with food and wages, by tending them

in sickness by sharing with them unusual delicacies, by granting them leave and time".

Secular Teaching of Buddha :

"It can be concluded about Buddhsim that it denies the existence of God and Soul. The real basis of Buddhism is the rational to eradicate suffering. There is, Buddha said, Suffering in the word-suffering wide-spread, Ninety percent people are the other. The main object of Buddhism is to emancipate the suffering humanity"

References

1. Constitutional Assembly : Debates Vol. 7 P. 859.
2. Dr. Radhakrishnan : Secularism in India P. 127 (1968)
3. Pratap Sing V. Punjab : AIR 1964 S.S. 72.
4. (1889) 133 U.S. 333
5. SA P Sriniwasmurthy v/s :Commena C.F. v/s R.I.F.E. (#73) AA P 325
6. Commir Hindu Religious Buddhma Madras v/s Lakshimdra Tirtha Swaminar v/s. Sri shirur Mutt (1954) 54 A S.C. P. 1028-29
7. Dhammapada Buddharaj go Verse 5
8. " Lokvegg (2 and 3)
9. Dhammapada 279
10. " 169
11. Dr. B.R. Ambedkar -"Buddha and His Dhamma"
12. I.G.D.
13. Marx Engles - On religion (70-71)
14. I.G.D.
15. Constitutent Assembly : Debates (Official Report) Vol. XI P.P. 977 and 981
16. Badr-ud-din-Tyaabji-The self in secularism : P 143
17. Swami Dhamma Tirthji Maharaj : Hindi Imperialism

18. Modern Buddhist Society Depricbed by Lord Buddha in Sulta-Nipat.

19. Dhammapada - Radhakrishnan

20. Manu : Shiriti

21. Maxmuller : Dhammapada

22. Sutta : Nipata

23. Maxmuller Sutta Nipatta - Edited by Bapat

24. Bramha : Visnu Mahesh - Kulkarni

25. Source Material of Dr. B.R. Ambedkar : Govt. of Maharashtra

26. Introduction of Buddhism in India : Siddharth Publication.

27. Problems of Buddhist in India.

28. Buddhist Peace and Constitutional Social Order:
Siddarth Publication, 1978.

29. Ashoka's Edicts

30. Who were untouchables : Dr. B.R. Ambedkar

31. Who were shoodras : Dr. B.R. Ambedkar

32. Constitution of India

33. Legal Theory : W. Friedmanu

34. Salnond : Jurisprudence

35. Dr. Setna.

•
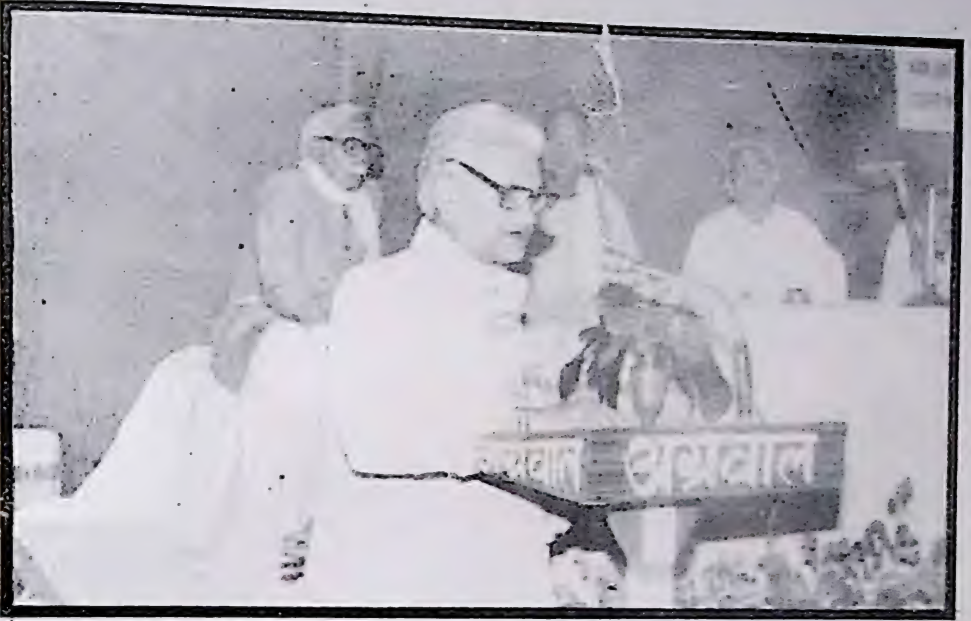
मंच पर प्रो. देवस्वरूप मिश्र, तत्कालीन कुलपति सं.सं.वि.वि., प्रो. जी.सी. पाण्डेय, पूर्व कुलपति इलाहाबाद वि.वि., इलाहाबाद, आचार्य पं. रघुनाथ शर्मा, पूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष -सं.सं.वि.वि., प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय, प्रो. रामशंकर त्रिपाठी

प्रो. जी.सी. पाण्डेय, पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, आचार्य पं. रघुनाथ शर्मा, पूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष, सं. सं. वि. वि., वाराणसी
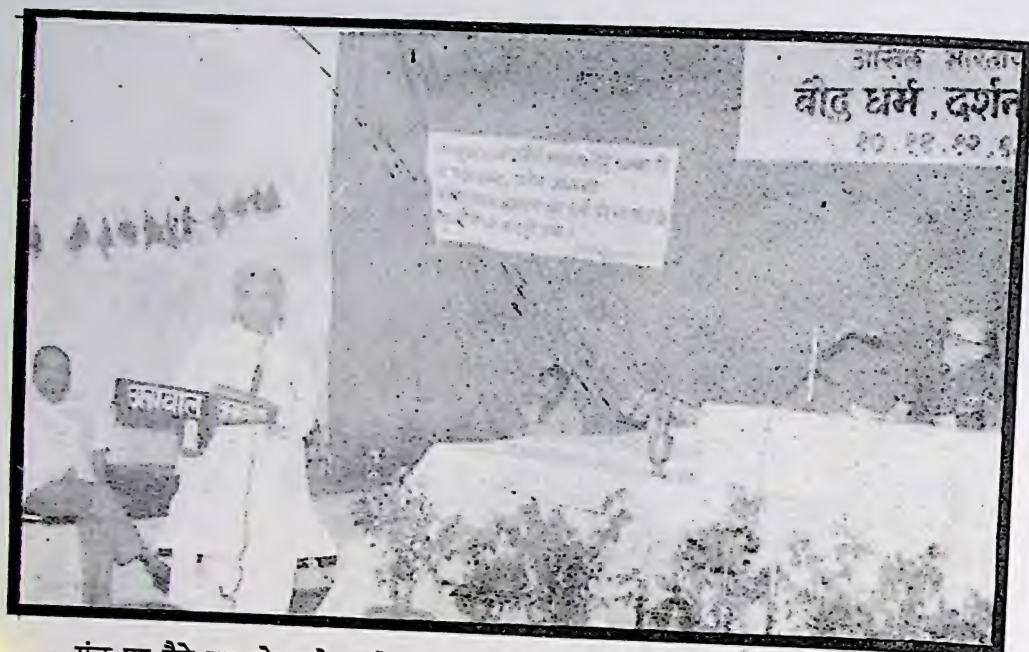
मंच पर बैठे हुए प्रो. एलेक्स वेमन अध्यक्षता करते हुए, प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी, तत्कालीन श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष, प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, तत्कालीन बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष

डॉ. आर.वी. नारायण, डॉ. पी.टी. वोशले, डॉ. गोकुल चन्द्र जैन, डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी एवं गोष्ठी में आये अन्य विद्वान्

परिशिष्ट- १

बौद्ध धर्मदर्शन एवं धर्मनिरपेक्षता : राष्ट्रीय संगोष्ठी १९८९

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के बौद्धदर्शन विभाग द्वारा मार्च १९८९ में दिनांक १० से १५ तक राष्ट्रीय स्तर पर षष्ठ दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें देश एवं विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा संस्थानों के ६६ विद्वान् सम्मिलित हुए। ४६ विद्वान् श्रोता के रूप में उपस्थित रहे। गोष्ठी में बौद्धधर्न-दर्शन एवं धर्मनिरपेक्षता को अभिव्यक्त करने वाले ३१ निबन्ध प्रस्तुत हुए।

निबन्धों को पाँच भागों में विभाजित किया गया था- १. भारतीय संस्कृति एवं श्रमणपरम्परा। २. बौद्धकला, इतिहास, संस्कृति और पुरातन्त्व। ३. पालि, प्राकृत, भारतीय भाषाएँ और साहित्य। ४. धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन। ५. पालि एव बौद्ध-विद्या : अन्तःशास्त्रीय अध्ययन।

गोष्ठी आठ सत्रों में सम्पन्न हुई। उसके अतिरिक्त शुभारम्भ एवं समापन का सत्र था। सात सत्रों में निबन्ध-पाठ तथा एक सत्र में "भारतीय विश्वविद्यालयों में पालि एवं बौद्ध विद्या का अध्ययन" विषय पर परिचर्चा (सिम्पोजियम) का आयोजन किया गया।

शुभारम्भ

विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति **प्रो. देवस्वरूप मिश्र** ने १० मार्च १९८९ को अपराह्ण २.३० बजे राष्ट्रीय संगोष्ठी का दीप प्रज्ज्वलित कर शुभारम्भ किया। छान्दस, पालि, तिब्बती, प्राकृत और संस्कृत मंगलाचरण के उपरान्त गोष्ठी के संयोजक बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष प्रो. रामशंकर त्रिपाठी ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में कहा कि 'धर्मनिरपेक्षता केवल राजनीतिक मूल्य ही नहीं है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्य भी है। प्रो. त्रिपाठी ने समागत विद्वानों का स्वागत किया। विषयोपस्थापन करते हुए प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय ने कहा कि बौद्धदर्शन में धर्मनिरपेक्षता पर बल दिया गया है। बौद्ध एक प्रक्रिया है जिससे उसमें रूढ़िवादी प्रकृति का अभाव है। धर्मनिरपेक्षता को प्रयोग के रूप में समाज में कैसे लागू करना है, इसके बारे में विचार करना होगा। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के पूर्व कुलपति प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने राष्ट्रीय संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए कहा कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सर्वधर्मसमानता नहीं है। धर्म को मानने वाले यह नहीं मानते कि सभी धर्म समान

या एक हैं। उन्होंने कहा कि कोई भी राज्य धर्म से उत्पन्न संघर्ष को झेलने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए वह अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है। प्रो. पाण्डेय ने कहा कि भारतीय संविधान प्रत्यक्ष रूप से धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार करता है। कुछ लोगों ने राजनीतिक लाभ के लिए इसे स्वीकार किया है। उन्होंने कहा कि धर्म एक आध्यात्मिक शक्ति है। चीन ने धर्म को नैतिक दर्शन के रूप में माना है। रूस धर्म को स्वीकार नहीं करता। लेकिन वहाँ भी धार्मिक व्यवस्था है। धर्मनिरपेक्षता वहाँ भी सर्वधर्मसमानता का पर्याय नहीं है।

प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने आगे भी कहा कि आज का विचारक धर्म को मूल्यवान् नहीं समझता। बौद्ध धर्म में भी धार्मिक संस्कारों का महत्त्व नहीं है, बल्कि आध्यात्मिकता को विशेष महत्व दिया गया है। अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में कुलपति प्रो. देवस्वरूप मिश्र ने कहा कि भारतीय परम्परा में सभी विचारों के समावेश को स्वीकार किया गया है। उन्होंने कहा कि धर्मनिरपेक्षता पर भारतीय दृष्टिकोण से सोचना होगा। अन्त में प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी ने आभार-प्रकाश किया। गोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वानों में प्रो. राजाराम शास्त्री, आचार्य पं. रघुनाथ शर्मा, प्रो. रघुनाथ गिरि, प्रो. कृष्णनाथ, डॉ. रमेशचन्द्र तिवारी, प्रो. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, प्रो. लल्लन जी गोपाल, प्रो. एलेक्स वेमन, डॉ. जे. फाइस, डॉ. दीपक मलिक, डॉ. रमेश कुमार द्विवेदी आदि विद्वान् प्रमुख थे।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम सत्र की अध्यक्षता प्रो. पी.टी. वोराले ने की तथा द्वितीय सत्र की अध्यक्षता प्रो. राजाराम शास्त्री ने की। विद्वानों ने कहा कि धर्मनिरपेक्षता बौद्धदर्शन के उदारवादी विचारों के समीप है। धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ रूढ़िमुक्त होना है। रूढ़ि को हीन धर्म कहा गया है। बुद्ध ने हीन धर्म से मुक्त होने की शिक्षा दी है। बौद्ध-दर्शन में भूख की, दुःख की, शोषण की समस्या को स्वीकार किया गया है और इसको समाप्त कर शोषणविहीन समाजिकता की स्थापना के लिए प्रयत्न किया गया है। चरित्र और नैतिकता को यहाँ समानार्थक रूप में लिया गया है। आज की गोष्ठी में धर्मनिरपेक्षता को लेकर विभिन्न विचार सामने आये, जहाँ कुछ विद्वान् धर्मनिरपेक्षता को सम्प्रदाय-निरपेक्षता कहकर धर्म को मूल्यात्मक स्तर प्रदान करना चाहते थे तथा धर्मनिरपेक्ष समाज की अवधारणा को भ्रामक मान रहे थे, वहीं कुछ विद्वान् धर्म के कर्मकाण्डात्मक पक्ष से राज्य के निरपेक्ष होने की धारणा को न्यायसंगत ठहराते थे और इसके लिए समाज की स्वीकृति भी लेना आवश्यक समझते थे। धर्मनिरपेक्ष सामाजिक नीति की भी आवश्यकता प्रतिपादित की गयी।

धर्म का ज्ञानकाण्ड धर्मनिरपेक्षता से भिन्न नहीं है। कर्मकाण्डों का आपस में झगड़ा होता है। जब लोग नहीं चाहते कि राज्य धर्म में दखल दे, तब सभी धर्मावलम्बियों की एक संगीति बुलायी जाय जो इस सम्बन्ध में व्यवस्था देती रहे। धर्म का सबसे बड़ा पक्ष उसकी

नैतिकता है। नैतिकता के आधार पर धर्म और राज्य एक-दूसरे को नियन्त्रित कर सकते हैं। वैसे नैतिकता धर्म से निरपेक्ष होकर भी विकसित हुई। साम्यवादी समाज में धर्म के लिए स्थान नहीं है। किन्तु वे नैतिकताविरोधी नहीं हैं। प्रथम एवं द्वितीय सत्र के विद्वानों में डॉ० जे० फाइस, प्रो० कृष्णनाथ, प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, प्रो० एलेक्स वेमन, प्रो० कमलेश्वर भट्टाचार्य, प्रो० वैद्यनाथ सरस्वती, प्रो० के० एन० शर्मा, प्रो० कृष्णराज मेहता एवं पं० सुधाकर दीक्षित आदि ने सम्बोधित किया। संचालन व धन्यवाद-ज्ञापन डॉ० राधेश्यामधर द्विवेदी ने किया।

तृतीय सत्र की अध्यक्षता इस्लामी धर्म एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् प्रो० हर्षनारायण ने की। चतुर्थ सत्र की अध्यक्षता प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री ने की। राष्ट्रीय गोष्ठी में बोलते हुए विद्वानों ने कहा कि धर्म से राज्य को अलग करने का कार्य तथा धर्म से राजनीति को जोड़ने का कार्य राजनेता करते हैं। क्या राज्यविहीन राजनीति की बात सोची जा सकती है ? ऐसे बहुत लोग हैं, जो उदारवादी प्रवृत्तियों का विकास करना चाहते हैं, पर साम्प्रदायिक कठमुल्लापन व राजनीति के लोग इस प्रयास पर आघात करते हैं। क्या कारण है कि साम्प्रदायिक दंगों की रिपोर्ट सरकार प्रकाशित नहीं करती ?

हमें धर्मों द्वारा प्रतिपादित सत्यता को अनुभूति के स्तर पर ग्रहण करना चाहिए। बोध के इस स्तर पर धर्मनिरपेक्षता से कोई विरोध नहीं है। समाजवैज्ञानिक दृष्टि से विश्व में धर्मनिरपेक्षीकरण हो रहा है। यह समय की आवश्यकता है। धर्मनिरपेक्षता की परम्परा प्राचीनकाल से प्रायः सभी धर्मों में रही है। इस्लाम का उदाहरण देते हुए कहा गया कि कम लोगों को मालूम है कि सर सैयद अहमद खाँ ने लाहौर में भाषण देते हुए कहा था- "मैं हिन्दू होना चाहता हूँ मगर मुझे दुःख है कि मुझे हिन्दू नहीं समझा जायेगा। यदि दीन (नैतिकता) और शरीयत (व्यवहारशास्त्र) में विरोध हो तो शरीयत को दीन के अनुसार बदल दिया जाए।" इसी आदर्श को स्थापित करने के लिए उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। विभिन्न धर्म के अनुयायियों को एक-दूसरे की बात समझने का प्रयास करना चाहिए और धर्मनिरपेक्षता के अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करना चाहिए। विभिन्न विचारकों के अलावा प्रो० के० एन० शर्मा, प्रो० एलेक्स वेमन, प्रो० कमलेश्वर भट्टाचार्य, प्रो० रमेशचन्द्र तिवारी, प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, प्रो० राजाराम शास्त्री, प्रो० ए० के० सरन, डॉ० तलत कमाल, डॉ० भगवान दास, प्रो० जे० फाइस, प्रो० दीपक मलिक, प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री, डॉ० राधेश्यामधर द्विवेदी, पं० श्री सुधाकर दीक्षित आदि विद्वानों ने गोष्ठी को सम्बोधित किया। कार्यक्रम का संचालन व धन्यवाद-ज्ञापन डॉ० रमेशकुमार द्विवेदी ने किया।

पंचम सत्र की अध्यक्षता प्रो० एलेक्स वेमन प्रसिद्ध वैदेशिक विद्वान् ने की। षष्ठ सत्र की अध्यक्षता प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो० ए० के० सरन ने की। प्रो० ए० के० सरन ने अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में कहा कि जीवन वर्तमान, जीवन्त एवं प्रतिक्षण का अस्तित्व है। परम्परा का सम्बन्ध अतीत से है तथा वर्तमान की दिशा भविष्य में है। अतीत और भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः परम्परा और परिवर्तन दोनों बेमानी हैं। इनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों मात्र आधुनिक प्रत्यय हैं। इनकी निरर्थकता पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ के पुस्तकालय-सभाकक्ष में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के बौद्धदर्शन विभाग द्वारा आयोजित "धर्मनिरपेक्षता" विषयक सेमिनार की परिचर्चा गोष्ठी (सिम्पोजियम) आयोजित हुई। सिम्पोजियम के "परम्परा और परिवर्तन" विषय पर विचार करते हुए विद्वानों ने कहा कि परम्परा निरन्तर गति है। अस्तित्व इस गति का आधार है। गति के अभाव में अस्तित्व कथमपि सम्भव नहीं है। स्थिर, नित्य और शाश्वत पदार्थों की सत्ता मात्र कल्पनाजनित है। यही कल्पना मानवीय दुःखों का कारण है। भगवान् बुद्ध ने इसे ही तृष्णा कहा है। प्रज्ञा द्वारा इस मिथ्या दृष्टि का प्रहाण करना और करुणा से प्रेरित होकर मानवीय दुःखों के निराकरण हेतु प्रयासरत होना ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। व्यक्तिगत और सामाजिक दुःख दूर करना, भोगवाद और दारिद्र्यवाद की प्रवृत्तियों का निराकरण करना तथा मानवीय मन को रूपान्तरित करना बौद्ध परम्परा का लक्ष्य है। इस दिशा में परिवर्तन को दिशा देना विद्वानों का कर्तव्य है।

प्रो० हर्षनारायण, प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, प्रो० रमेश चन्द्र तिवारी, प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री, डॉ० गौरीशंकर दूबे, डॉ० के० सी० मिश्र, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती, श्री प्रमोद कुमार गुप्त, आचार्य पं० कुबेरनाथ शुक्ल आदि विद्वानों ने विचार-विमर्श में सहयोग किया।

उच्च तिब्वती शिक्षा संस्थान के प्राचार्य प्रो० एस० रिम्पोछे ने धन्यवाद देते हुए कहा कि सुखद भविष्य के निर्माण के लिए हमें अपने गौरवपूर्ण एवं महिमाशाली अतीत से शिक्षा एवं प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। गोष्ठी का संचालन संस्थान के प्रोफेसर सेम्पा दोर्जे ने किया।

सप्तम सत्र की अध्यक्षता प्रो० सुनीति कुमार पाठक ने की। अष्टम सत्र की अध्यक्षता संस्कृत, प्राकृत एवं जैनदर्शन के विशिष्ट विद्वान् प्रो० सागरमल जैन ने की। प्रो० सागरमल जैन ने अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में कहा कि भगवान् बुद्ध ने अपने ही मत को श्रेष्ठ मानने और दूसरे मत को हीन मानने की प्रवृत्ति की निन्दा की है। उन्होंने धर्म को बेड़े के समान संसार-सागर से पार करने का साधन मात्र कहा है, उसे साध्य समझकर पकड़े रहने की

निन्दा की है। माध्यमिक दर्शन ने सभी भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक वस्तुओं को निःस्वभाव या शून्य कहा है। शून्यता कोई पारलौकिक तत्त्व नहीं, अपितु इस दृश्य जगत् के पदार्थों की यथार्थ प्रकृति है। ये ऐसे सिद्धान्त हैं, जो धर्मनिरपेक्षता को वैचारिक आधार प्रदान कर सकते हैं।

राष्ट्रीय परिसंवाद गोष्ठी में अन्य विद्वानों ने कहा कि संविधान में यद्यपि धर्मनिरपेक्षता शब्द का निवेश किया गया है, किन्तु उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि एवं उसकी परिभाषा स्पष्टतया व्याख्यात नहीं है। इससे अनेक प्रकार के भ्रम पैदा हो रहे हैं। अब इस अधूरे कार्य को सम्पन्न कर देना चाहिए। गोष्ठी में प्राग्वैदिक मोहन-जोदड़ो, हड़प्पा काल से लेकर अशोक, कनिष्क, हर्ष एवं पालवंश के राजाओं तक ने धर्मनिरपेक्षता के अनुकूल जो शासन व्यवस्था की थी, उसकी समीक्षा की गयी तथा पुरातात्त्विक सामग्रियों एवं कला-सामग्रियों में उपलब्ध धर्मनिरपेक्षता की भावधारा पर भी विद्वानों ने प्रकाश डाला। डॉ० भवानीशंकर शुक्ल, डॉ० कृष्णबहादुर, डॉ० भगवान दास, प्रो० सुनीति कुमार पाठक, डॉ० थुबतन छोगडुब, डॉ० चन्द्रचूड़मणि त्रिपाठी, श्री टशी पल्जोर, डॉ० अरविन्द कुमार राय, प्रो० चन्द्रिका सिंह 'उपासक', डॉ० आर० वी० नारायण, डॉ० शम्भुनाथ मिश्र, डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा आदि ने गोष्ठी को सम्बोधित किया। कार्यक्रम का संचालन व धन्यवाद-ज्ञापन डॉ० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा ने किया।

समारोप

काशीविद्यापीठ-वाराणसी के पूर्व कुलपति प्रख्यात समाजशास्त्री प्रो० राजाराम शास्त्री की अध्यक्षता में समापन सत्र सम्पन्न हुआ। डॉ० राधेश्यामधर द्विवेदी ने गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया। प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, प्रो० रमेश चन्द्र तिवारी, प्रो० कृष्णनाथ एवं प्रो० सुनीति कुमार पाठक ने आयोजकीय प्रतिक्रिया व्यक्त की। प्रो० के० एन० शर्मा, प्रो० सेम्पा दोर्जे, डॉ० जे० फाइस तथा प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री ने समागत प्रतिनिधियों की ओर से प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। निम्नांकित बिन्दुओं को रेखाङ्कित किया गया-

१. यह संगोष्ठी वास्तविक अर्थों में अखिल भारतीय संगोष्टी थी, जिसमें स्थानीय संस्थानों के साथ विदेशों एवं भारत के अनेक प्रान्तों, महाराष्ट्र, आन्ध्र-प्रदेश, बंगाल, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, जम्बू काश्मीर, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली से समागत विद्वानों ने भाग लिया।

२. पालि एवं बौद्धविद्या के क्षेत्र में यह एक ऐतिहासिक गोष्ठी मानी गयी, जिसमें इस विषय पर विगत वर्षों में आयोजित गोष्ठियों की तुलना में अधिकाधिक विद्वान् सम्मिलित हुए।

१३. **डॉ० गोरखनाथ पाण्डेय**
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

१४. **डॉ० गौरीशंकर दूबे**
गाँधी विद्या संस्थान, राजघाट, वाराणसी

१५. **डॉ० गोकुल चन्द जैन**
प्राकृत एवं जैनागम विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१६. **प्रो० चन्द्रिका सिंह 'उपासक'**
पूर्व निदेशक, नव नालन्दा महाबिहार, चिरईगाँव, वाराणसी

१७. **डॉ० चन्द्रचूड़ मणि त्रिपाठी**
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

१८. **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय**
पूर्व श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९. **डॉ० जे० फाइस**
दर्शन विभाग, सन्त अलवर्ट कालेज, राँची (बिहार)

२०. **श्री टशी पल्जोर**
अतिरिक्त प्राचार्य, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान,
चोगलमसर, लेह-लद्दाख (जम्मू-कश्मीर)

२१. **डॉ० टी० छोगडुब**
ए० ई० सी० प्रशिक्षण महाविद्यालय, पंचमढ़ी (मध्य प्रदेश)

२२. **श्री ठाकुर प्रसाद सिंह**
वाराणसी

२३. **श्री तलत कमाल जी**
गाँधी विद्या संस्थान, राजघाट, वाराणसी

२४. **प्रो० देवस्वरूप मिश्र**
कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

२५. **डॉ० दीपक मलिक**
वाणिज्य संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

२६. **डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय**
प्राचार्य, श्री सुदिष्ट बाबा डिग्री कालेज, सुदिष्टपुरी, रानीगंज, बलिया

२७. **डॉ० एन० एच० सामतानी**
अध्यक्ष- पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

२८. **श्री नरेश सिंह 'गौतम'**
शोध-छात्र, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, चोगलमसर,
लेह-लद्दाख (जम्मू-कश्मीर)

२९. **डॉ. नीलकण्ठ देशपाण्डेय**
समाजशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

३०. **डॉ. प्रभाकर माचवे**
निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता

३१. **डॉ. पी.टी. वोराले**
एक्स मेयर ऑफ बाम्बे एण्ड फार्मर प्रिंसिपल,
सिद्धार्थ लॉ कालेज, बाम्बे (महाराष्ट्र)

३२. **डॉ. पुरुषोत्तम प्रसाद पाठक**
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

३३. **डॉ. फूलचन्द्र जैन**
जैनदर्शन विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

३४. **डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा**
पालि एवं थेरवाद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

३५. **डॉ. बुद्धिवल्लभ पाठक**
अध्यक्ष-भारतीय विद्या संस्कृति एवं संस्कृत प्रमाण-पत्रीय विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

३६. **श्री भवानीशंकर शुक्ल**
६ गुलिस्ता कालोनी, लखनऊ

३७. **डॉ. भगवानदास**
रीजनल सेक्रेटरी, इण्डियन ब्रिटिश कौंसिल
सेक्टर ६८, आर० के० पुरम्, नयी दिल्ली

३८. **प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी**
अध्यक्ष- दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

३९. **आचार्य पं० रघुनाथ शर्मा**
पूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष, छाता, बलिया (उ० प्र०)

४०. **प्रो० रघुनाथ गिरि**
दर्शन विभागाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ-वाराणसी

४१. **प्रो० रमेश चन्द्र तिवारी**
समाजशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

४२. **डॉ० रमेश कुमार त्रिपाठी**
रीडर, दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

४३. **डॉ० रमेश कुमार द्विवेदी**
प्राध्यापक-बौद्धदर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

४४. **प्रो० राजाराम शास्त्री**
पूर्व कुलपति- काशी विद्यापीठ, वाराणसी

४५. **डॉ० राधेश्यामधर द्विवेदी**
तुलनात्मक-धर्मदर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

४६. **प्रो० रामशंकर त्रिपाठी**
अध्यक्ष-बौद्धदर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

४७. **डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य**
हौजकटोरा, वाराणसी

४८. **डॉ० राजीवरंजन सिंह**
भा०वि० संस्कृति एवं संस्कृत प्रमाणपत्रीय विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

४९. **डॉ० रामचन्द्र राही**
सर्वसेवा-संघ, राजघाट, वाराणसी

५०. **प्रो० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय**
दर्शन विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय,
शान्ति निकेतन (पश्चिम बंगाल)

५१. **श्री आर० वी० नारायण**
पुरातत्त्व विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

५२. **श्री रामप्रवेश शास्त्री**
गाँधीभवन, लखनऊ

५३. **प्रो० लक्ष्मीनिधि शर्मा**
अध्यक्ष-दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

५४. **प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी**
श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

५५. **प्रो० लल्लन जी गोपाल**
इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

५६. **प्रो० वैद्यनाथ सरस्वती**
एन०ई०एच०यू० डिपार्टमेन्ट आफ एन्थ्रोपोलाजी
मयूर शाहजा काम्पलेक्स, नोनपाइम-माई, सिलांग-७३५०१४

५७. **डॉ० वशिष्ठ नारायण सिनहा**
दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

५८. **डॉ० वी० वी० एस० साईं बाबा**
दर्शन विभाग, आन्ध्रा विश्वविद्यालय, वाल्टेयर

५९. **डॉ० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी**
दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

६०. **प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री**
फ्लैट नं० ७२-७३, आल इण्डिया रेडियो हास्टल,
कस्तूरबा गाँधी मार्ग, दिल्ली

६१. **डॉ० शम्भुनाथ मिश्र**
सामाजिक विज्ञान विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
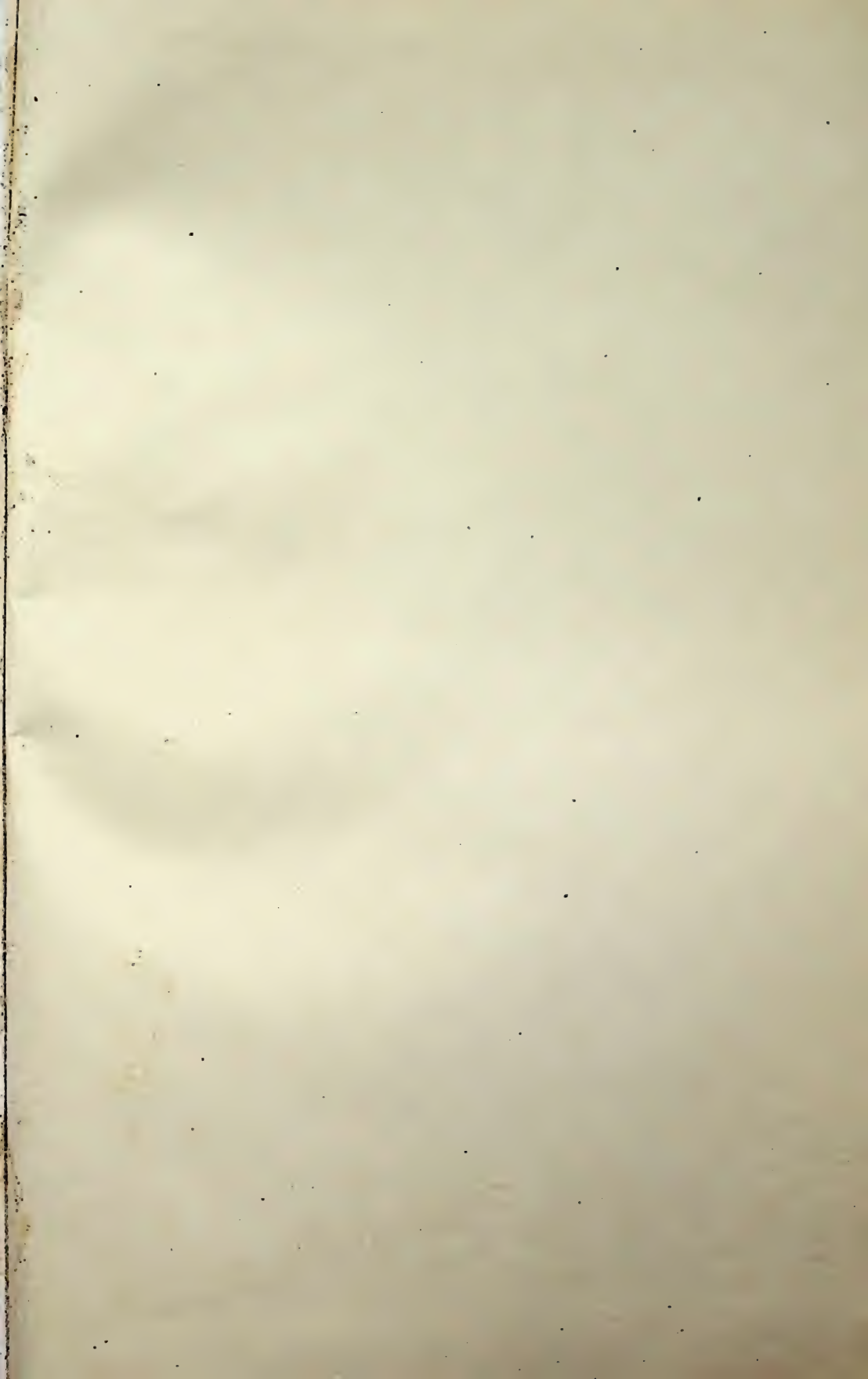
६२. **डॉ० शारदा चतुर्वेदी**
आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

६३. **डॉ० शशिबाला गौड़**
शिक्षक-बौद्धदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

६४. **प्रो० एस० रिम्पोछे**
प्राचार्य-केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

६५. **प्रो० सागरमल जैन**
निदेशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी

६६. **प्रो० सुनीति कुमार पाठक**
विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्ति निकेतन (पं० बंगाल)

६७. **प्रो० सेम्पा दोर्जे**
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

६८. **डॉ० सत्य प्रकाश मित्तल**
गाँधी विद्या संस्थान, राजघाट, वाराणसी

६९. **श्री पं० सुधाकर दीक्षित**
न्याय विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

७०. **प्रो० हर्षनारायण**
४२/५६ रामरत्न वाजपेयी मार्ग, लाला उमराव सिंह पार्क, नरही, लखनऊ

७१. **डॉ० हरिश्चन्द्र जी**
समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

७२. **डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी**
राजनीति विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

७३. **डॉ० हरिशंकर शुक्ल**
पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

७४. **डॉ० हरेराम त्रिपाठी**
संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

७५. **श्री त्रिभुवन मिश्र**
नेपाली संस्कृत महाविद्यालय, मंगलागौरी, वाराणसी

76. **PROF. ALEX WAYMAN**
560 Riverside Dr. Apt 13G
New York, Ny 10027 - 3228
U.S.A.

77. **PROF. KAMALESHWAR: BHATTACHARYA**
32, Route de Brie
F, 91800 BRUNOY
FRANCE

●